भाषा-दर्शन

[प्रथम भाग]

लेखक

डॉ० रामलाल सिंह

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग

सागर-विश्वविद्यालय, सागर

प्रकाशक

प्रकाशक
रामजी वाजपेयी
विद्या-मन्दिर,
ब्रह्मनाल, वाराणसी

प्रथम संस्करण, फरवरी, सन् १९६३ ई०
प्रतियाँ ११००

मूल्य संशोधित मूल्य

मुद्रक
सहदेव राय
श्री हरिप्रेस
सी० ६/७२ बाग बरियार सिंह, वाराणसी

प्राक्कथन

एम० ए० (हिन्दी) कक्षा के विद्यार्थियों को भाषा-विज्ञान पढ़ाते समय मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि हिन्दी तथा अंग्रेजी में इस विषय के एक एक अङ्ग पर विद्वत्तापूर्ण पुस्तकों के होते हुए भी किसी एक पुस्तक में एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए अपेक्षित सारी सामग्री एक स्थान पर सुलभ नहीं है। विद्यार्थियों की इस कठिनाई ने मुझे इस पुस्तक के प्रणयन की प्रेरणा उत्पन्न की। इस प्रेरणा को कार्यान्वित करने में नाना प्रकार की कठिनाइयाँ आईं। इसीलिए भाषा-दर्शन की मानसिक यात्रा को साकार रूप प्रदान करने में अभी मैं आधी दूर तक ही पहुँच पाया हूँ। इसी कारण प्रस्तुत कृति को 'भाषा-दर्शन'—प्रथम भाग की संज्ञा मैंने दी है।

भाषा के शब्द-तत्त्व, रूप-तत्त्व, वाक्य-तत्त्व तथा अर्थ-तत्त्व को द्वितीय भाग में प्रस्तुत करने की मेरी योजना है। द्वितीय भाग को भी यथाशीघ्र पाठकों के समक्ष उपस्थित करने का प्रयत्न करूँगा।

भाषा-दर्शन की स्थिति संतोषजनक तभी होती है जब उसमें भाषा के वक्ता तथा श्रोता सम्बन्धी दोनों आधार सन्निविष्ट हों। भाषा की परिभाषा, लक्षण, उत्पत्ति, प्रकृति, व्याप्ति, महत्ता, प्रयोजन, आधार, स्वरूप, विविध पक्ष, जीवन, शक्ति, विकास, परिवर्तन, अवस्था तथा ध्वनि-तत्त्व का विश्लेषण करते समय उक्त दोनों आधारों के समावेश का यथासंभव प्रयत्न किया गया है।

विवेच्य विषय की उपयोगिता तथा महत्ता स्पष्ट करने के लिए वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में उसका महत्त्व स्पष्ट किया गया है।

अनेक विवादास्पद स्थलों पर मैंने अपनी मान्यतायें भी प्रगट की हैं। इन अवसरों पर पाश्चात्य अथवा भारतीय विद्वानों एवं आदरणीय गुरुजनों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से विरोध हो गया हो तो इसके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ।

किसी भी प्रकार का ग्रन्थ-प्रणयन एक प्रकार का ज्ञान-यज्ञ है। उस यज्ञ के सम्पादन में अनेक ऋषियों, महर्षियों की वाणी, मत तथा सामग्री का उपयोग

होता है, अनेक गुरुजनों का आशीर्वाद सम्बल बनता है तथा अनेक आत्मीय जनों तथा मित्रों की शुभ भावना तथा मंगल कामना मानसिक शक्ति प्रदान करती है। इस ग्रन्थ के प्रणयन में भी सभी का योग है। इस विषय में रुचि उत्पन्न करने का श्रेय भाषा-विज्ञान के मेरे आदि गुरु स्वर्गीय आचार्य पंडित केशवप्रसाद जी मिश्र को है। अतएव इस पुनीत अवसर पर लेखक उनका श्रद्धापूर्वक स्मरण तथा अभिवादन करता है। मैसूर-विश्वविद्यालय के पश्चात् ट्रेनिङ्ग कालेज में तीन-चार वर्ष पढ़ाने के कारण इस विषय से मेरा सम्पर्क ही छूट गया था। पुनः अध्यापक-रूप में इस विषय के सम्पर्क में लाने का सम्पूर्ण श्रेय मेरे गुरुदेव आचार्य पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी को है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन में उनकी सतत प्रेरणा, तथा उनका आशीर्वाद मेरा सबसे बड़ा सम्बल रहा है। इस पुस्तक को लिखने में जैस्पर्सन, वेन्द्रिए, मैक्समूलर, ह्विटनी, ब्लूमफील्ड, ग्रियर्सन, वुलनर, टक्कर, बरो, गार्डिनर, ग्रे, हाकेट, पाइक, पामर, मेरिओ-पी, सेपिर, सेसी, स्वीट, जर्मेनहाफ, ब्लाक तथा ट्रैंगर, भंडारकर, गुणे, चटर्जी, तारापुरवाला, डा० श्यामसुन्दर दास, डा० भोलानाथ तिवारी, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, डा० बाबूराम सकसेना, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० उदयनारायण तिवारी, डा० मंगलदेव शास्त्री, डा० भोलाशंकर व्यास आदि विद्वानों के ग्रन्थों, लेखों तथा भाषणों से यथास्थान सहायता ली गई है। इस कृति के प्रणयन में लेखक उपर्युक्त सभी विद्वानों के ऋण को स्वीकार करता है। इस अवसर पर सहसा अपने आत्मीय जनों तथा उन प्रिय विद्यार्थियों का स्मरण हो आता है जिनके अमूल्य सहयोग से, इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार हुई। वे सभी मेरे हार्दिक साधुवाद तथा आशीर्वाद के पात्र हैं।

नये लिपि-चिह्नों के लिए सभी उपयुक्त टाइप मुद्रक को यथासमय सुलभ नहीं हो सके। इसलिए यथाशक्ति प्रयत्न करते हुए भी मुद्रण में वांछनीय विशुद्धता नहीं आ सकी है। पुस्तक वाराणसी में छप रही थी और मैं सागर में था। इस कारण प्रूफ-संशोधन भी यथाविधि नहीं हो सका। आरम्भ के कतिपय फर्मों के प्रूफ तो वाराणसी में ही किसी प्रूफ रीडर द्वारा संशोधित हुए। मैं उनको देखने में असमर्थ रहा। शेष फर्मों के प्रूफ भी प्रायः मैं एक ही बार देख सका। इस कारण इस संस्करण में मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियों के लिए मैं अपने पाठकों से बार-बार क्षमा-प्रार्थी हूँ। पाठकों की इस कठिनाई को दूर करने की दृष्टि से मैंने अन्त में शुद्धिपत्र दे दिया है।

अन्त में इस पुस्तक में जो कमियाँ रह गई है अथवा मुझसे जो त्रुटियाँ हो गई हैं, या जो अपराध बन पड़े हैं उनके लिए अपने पाठकों से क्षमायाचना करता हूँ।

यदि इस पुस्तक द्वारा भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों को भाषा के मूलभूत सिद्धान्तों तथा तत्त्वों का ज्ञान हो सका तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

महा शिवरात्रि—सम्वत् २०१६।
सागर-विश्वविद्यालय,
सागर। } रामलाल सिंह

⊙

समर्पण

शब्द-ब्रह्म-मर्मज्ञ परम पूज्य गुरुदेव
आचार्य पण्डित नन्ददुलारे जी
वाजपेयी को सादर समर्पित,
जिन्होंने मुझे भाषा-विज्ञान
का अध्यापक तथा
लेखक बनाया ।

–रामलाल

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

परिशिष्ट (१)

परिशिष्ट (२)

परिशिष्ट (३)

परिशिष्ट (४)

परिशिष्ट (५)

भाषा-दर्शन

भाषा क्या है

किसी भी विषय के बौद्धिक विवेचन में उसकी यथासम्भव ठीक परिभाषा देना आवश्यक होता है, इसलिए भाषा-दर्शन के बौद्धिक विवेचन के हेतु भाषा की परिभाषा पर सर्वप्रथम विचार किया जायगा।

भाषा साधारण तथा व्यापक अर्थ में किसी भी जीवधारी प्राणी के भाव या विचार व्यक्त करने तथा साथ ही उसे उसी जाति के दूसरे प्राणियों के लिए प्रेषणीय बनाने का साधन है। विशिष्ट अर्थ में भाषा किसी विशिष्ट काल में किसी देश-विशेष की मनुष्य-जाति में उसकी वागिन्द्रियों द्वारा अभिव्यक्त तथा उसकी श्रवणेन्द्रियों द्वारा गृहीत वह परम्परागत एवं सर्वस्वीकृत सार्थक ध्वनि-समष्टि है, जिसकी एक विशिष्ट ध्वनि-प्रणाली तथा रूप-साधना हो। उच्छिन्न अर्थ में भाषा का प्रयोग मनुष्य-मनुष्य के बीच परबोधार्थ अभिव्यक्ति के अन्य साधनों के लिए भी होता है, जैसे सांकेतिक भाषा, लिखित भाषा, शिलालेखों की भाषा, झंडी की भाषा, क्लिक ध्वनियों की भाषा, स्पेरेंटो आदि कृत्रिम भाषाएँ, रेडियो आदि यंत्रों की भाषा इत्यादि। उपर्युक्त तीनों प्रकार की परिभाषाओं में भाषा के विभिन्न प्रयोगों का समावेश हो गया है, किन्तु भाषा-विज्ञान में भाषा की द्वितीय परिभाषा के अन्तर्गत आनेवाली भाषा पर ही विचार होता है, जिसके तीन लक्षण उपर्युक्त परिभाषा द्वारा ज्ञात होते हैं।

१—भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत विवेचित भाषा किसी विशिष्ट काल में किसी देश-विशेष की मनुष्य-जाति में पूर्व विकास की प्रक्रिया से उद्भूत एक भाषा-विशेष होती है; उसकी ध्वनि-प्रणाली तथा रूप-साधना विशिष्ट कोटि की होती है; वह परिवर्तनशील प्रकृति से भरी रहती है अतः उक्त प्रकार की भाषा के सम्यक् परिशीलनार्थ विविध विद्वानों द्वारा की गई उसकी परिभाषाओं पर विचार किया जाता है—

१. वैयाकरणों की दृष्टि से परिभाषा—वैयाकरणों ने भाषा की परिभाषा व्याकरण के तत्त्वों के आधार पर की है। उनके मतानुसार भाषा मुख्यतः किसी भाषा-विशेष के व्याकरण सम्बन्धी ध्वनियों, पदों, धातुओं, प्रत्ययों, वाक्यों एवं अर्थों आदि की एक व्यवस्थित समष्टि है। इस परिभाषा में भाषा के मूल अंगों पर दृष्टि है।

२. कोषकारों की दृष्टि से—भाषा अर्थवान् शब्दों से निर्मित परबोध्य-निरुक्ताभिव्यक्ति का वह साधन है जिसकी एक लम्बी परम्परा में उसके शब्दों का इतिहास भी वर्तमान हो।

३. साहित्यकारों की दृष्टि से भाषा की परिभाषा—भाषा के साहित्य पक्ष पर विशेष बल देनेवाले आचार्यों ने भाषा की परिभाषा प्रभविष्णुता की दृष्टि से की है। उनकी दृष्टि में भाषा एक समन्वित प्रभाव उत्पन्न करनेवाले शब्दों की सुव्यवस्थित श्रृङ्खला है।

अब इसके पश्चात् भाषा की परिभाषा उसके विभिन्न तत्त्वों—प्रक्रिया, प्रकृति, पक्ष आदि की दृष्टि से आगे अंकित की जायगी।

भाषा के ध्वन्यात्मक पक्ष पर विशेष बल देनेवाले भाषा-वैज्ञानिकों ने भाषा की परिभाषा मुख्यतः ध्वनि की दृष्टि से की है। मार्शल कोहेन के मत से भाषा मानव के भाव-विनिमय का ध्वन्यात्मक साधन है। स्वीट के शब्दों में ध्वन्यात्मक शब्दों के द्वारा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है। आचार्य गुणे के मत में ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा हृद्गत भावों तथा विचारों का प्रकटीकरण ही भाषा है। डा० ए० एच० सेसी के मत में भाषा मानव-वाणी से उद्भूत स्वर-व्यञ्जन आदि ध्वनियों के विभिन्न प्रकार के मिश्रण तथा नियोजन से विनिर्मित एक ध्वनि-श्रृङ्खला है जो उसके भावों तथा विचारों की अभिव्यञ्जना के लिए प्रतीक का कार्य करती है। प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक डा० बाबूराम सक्सेना के मतानुसार जिन ध्वनि-चिह्नों के द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं। संसार के सर्वप्रसिद्ध वैयाकरण आचार्य पाणिनी ने भी भाषा की परिभाषा ध्वन्यात्मक दृष्टि से की है—व्यक्तवाचां समुच्चारणे इति भाषा। अर्थात् सम्यक् प्रकार से उच्चरित व्यक्त वाणी को ही भाषा कहते हैं। पतंजलि ने उसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की है—

> व्यक्तवाचस्तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते।
> साधीयो ये व्यक्तवाच इति। के च साधीयः?
> येषां वाच्यकारादयो वर्णाः व्यंज्यन्ते।
> व्यक्ता वाचि वर्णा येषां त इमे व्यक्तवाच इति।—पतंजलि।

अर्थात् भाषा मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों द्वारा उच्चारण किये गये वर्णात्मक शब्दों से अपने विचारों को प्रकट कर सके। इस परिभाषा के अनुसार मनुष्य के विचारों को प्रकट करनेवाले हस्तादि द्वारा किये गये संकेतों, मुखाकृति द्वारा की गई व्यंजनाओं, क्लिक ध्वनियों, ममोमा जैसे भावाभिव्यक्ति के साधनों

को भाषा नहीं कह सकते। इसी प्रकार क्रोध या हँसी की आवाज जैसी व्यक्त ध्वनि को भी भाषा नहीं कह सकते।

इस दृष्टि से मेरे विचार में भाषा वक्ता के निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रयत्न के फल-स्वरूप उसके मुख से निस्सृत एवं तदेव अर्थ में श्रोता की श्रोत्रेन्द्रियों द्वारा गृहीत वह सार्थक ध्वनि-समष्टि है, जिसकी एक लम्बी परम्परा हो तथा जिसका रूप-साधन, विश्लेषण एवं अध्ययन हो सके।

उक्त परिभाषाओं में भाषा के ध्वनि पक्ष पर सर्वाधिक बल देते हुए यह बतलाया गया है कि ध्वनियाँ जब सार्थक शब्द के रूप में नियोजित होंगी तभी वे भाषा की वास्तविक विशेषता से सम्पृक्त होंगी। मनुष्य अपनी वागिन्द्रियों से अनेक बार निरर्थक ध्वनियाँ भी निकालता है, जो अनेक बार दूसरों के द्वारा श्रुतिगोचर भी होती हैं, किन्तु विशिष्ट अर्थ वहन करने की असमर्थता के कारण वे भाषा का रूप धारण नहीं कर पातीं। अर्थात् ध्वनियाँ अकेले भाषा का निर्माण नहीं कर सकतीं। उनका भाषा-पद पर आसीन होने के लिए सार्थक होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। किन्तु यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि ध्वनियों के अर्थवान् होने से ही भाषा नहीं बनती, क्योंकि पशु-पक्षियों की भाषा भी अर्थवान् होती है; पर हमारे विवेच्य विषय के भीतर वह भाषा-संज्ञा से अभिहित नहीं हो सकती। तात्पर्य यह कि भाषा-पद पर आसीन होने के लिए ध्वनियों को अर्थवान् होने के साथ-साथ रूप-साधना तथा विश्लेषण योग्य भी होना चाहिए। ध्वनि की दृष्टि से भाषा की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि वह परम्परागत ध्वनि-चिह्नों की व्यवस्था स्थिर करती है। भाषा-दर्शन की स्थिति सन्तोषजनक तभी होती है जब उसमें भाषा के वक्ता तथा श्रोता सम्बन्धी दोनों आधार सन्निविष्ट रहते हैं।[1]

भाषा के शब्द-तत्त्व पर विशेष बल देनेवाले आचार्यों ने भाषा की परिभाषा निम्न प्रकार से की है—

शब्द-तत्त्व की दृष्टि से भाषा-परिभाषा—मेरियो पाई के मतानुसार भाषा मुख्यतः मुखोद्गीर्ण शब्दों की एक विशिष्ट क्रमबद्ध रचना है, जिनमें से प्रत्येक लोक-स्वीकृत होता है। प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री मंगलदेव के मतानुसार भाषा मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं जिससे वे अपने उच्चारणो-

---

१. A satisfactory philosophy of language must recognize both the aspects. By **जितेन्द्र मोहनी** (Types of Linguistic philosophy)—**विश्व-भारती** Volume 25, November 1959.

पयोगी शरीरावयवों द्वारा उच्चारण किये गये वर्णात्मक शब्दों से अपने विचारों को प्रकट करते हैं। मेरियो पाई ने अपनी उक्त परिभाषा में बलपूर्वक यह बताने का प्रयत्न किया है कि भाषा के विभिन्न शब्द—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, अव्यय, विभक्ति, उपसर्ग आदि—स्वयं में भाषा का निर्माण नहीं कर सकते जब तक कि वे एक विशिष्ट क्रम में नियोजित न हों कि उनसे एक पूर्ण अर्थ निकलने लगे। अर्थात् शब्द को भाषा का रूप धारण करने के पूर्व आकांक्षा, सन्निधि, समभिव्यवहार से युक्त होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। कोई शब्द उस समय तक भाषा के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता जब तक कि उससे तात्पर्य स्वर अथवा स्वर-व्यञ्जनों का संयोग न हो, जब तक कर्ण-कुहरों पर उसका आघात न हो, जब तक वह भावना का प्रेरक न बन जाय, जब तक वह मन में एक ऐसा चित्र न उपस्थित कर दे कि उससे हम उस शब्द का अर्थ लगा लें, जब तक वह एक प्रतीक का रूप न धारण कर ले।

भाषा-प्रकृति की दृष्टि से उसकी परिभाषा—भाषा की प्रेषणीय प्रकृति की दृष्टि से उसकी परिभाषा भाषाशास्त्रियों द्वारा निम्न प्रकार से की गई है—डा० ए० सेपिर के मत में भाषा मुख्यतः उसके जाननेवालों के बीच विचाराभिव्यक्ति तथा उसके सम्प्रेषण का एक पूर्ण साधन है। डा० ए० ए० गार्डनर भी उपर्युक्त विचारों के अनुसार भाषा की सामान्य परिभाषा निम्न प्रकार से करते हैं—भाषा मनुष्य के विचारों की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों की समष्टि है। डा० ए० सी० उलनर भी उक्त मत के अनुसार भाषा की परिभाषा निम्न प्रकार से करते हैं। उनके मतानुसार भाषा सामान्य अर्थ में मनुष्य की वह वाणी है जो उसकी मानसिक तथा शारीरिक प्रक्रिया से उत्पन्न होकर उसके विचारों तथा भावों को उसकी मुखोद्गीर्ण ध्वनियों द्वारा प्रकट करती है। डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल की दृष्टि में भाषा वाणी के द्वारा व्यक्त स्वच्छन्द प्रतीकों की वह रीतिबद्ध पद्धति है जिससे मनुष्य अपने भावों का परस्पर आदान-प्रदान करता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं में भाषा की प्रेषणीय प्रकृति पर सर्वाधिक बल देते हुए यह बताया गया है कि भाषा में प्रेषणीय प्रकृति की पूर्णता का होना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। किन्तु सांकेतिक भाषा प्रेषणीय होने पर भी हमारी विवेच्य भाषा का स्थान नहीं ले सकती, क्योंकि वह मनुष्यों की विचाराभिव्यक्ति तथा उसके संप्रेषण का पूर्ण साधन नहीं बन सकती। इसका मुख्य कारण यह है कि उसमें मुखोद्गीर्ण रूप-साधना योग्य व्यक्त ध्वनि-संकेतों का प्रयोग नहीं होता, इसलिए उससे किसी प्रकार विचाराभिव्यक्ति का काम

निकाला जा सकता है, उससे वक्ता के विचार या मनोभाव पूर्णतः व्यक्त नहीं किये जा सकते तथा उसका विश्लेषण एवं अध्ययन नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि भाषा की प्रेषणीय प्रकृति मुखोद्गीर्ण रूप-साधना योग्य व्यक्त-ध्वनियों द्वारा ही बनती है। दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि मुखोद्गीर्ण व्यक्त भाषा ही हमारे मनोभावों को प्रकट करने का सर्वोत्कृष्ट साधन है। इस साधन के अभाव में पाणि, मुद्रा, अक्ष-विकार, अस्पष्ट-ध्वनि-संकेतों से मनुष्य कभी-कभी अपना काम चला लेता है किन्तु इन स्थूल साधनों से सूक्ष्म भाव प्रकट नहीं किये जा सकते। इसी लिए सेपिर ने ध्वन्यात्मक भाषा को ही विचाराभिव्यक्ति का पूर्ण साधन माना है।

भाषा-प्रक्रिया की दृष्टि से भाषा की परिभाषा—भाषा-प्रक्रिया पर बल देते हुए डा० भोलाशंकर व्यास ने इसकी परिभाषा निम्नांकित ढंग से की है। भाषा से हमारा तात्पर्य मानव-मस्तिष्क की उस प्रक्रिया से है जिसके अंतर्गत वक्ता अपने कतिपय ध्वनि-यन्त्रों द्वारा नाना प्रकार की ध्वनियों का उच्चारण कर उनके द्वारा अपने भावों तथा विचारों का प्रकाशन करता है। वस्तुतः भाषा के किसी भी एक शब्द या वाक्य को वक्ता के मुख से निकलने के पूर्व उच्चारण की प्रक्रिया में ढलना आवश्यक है। यह दूसरी बात है कि मानव के मुख से वाणी का प्रथम स्फोट सहज ढंग से ध्वन्यात्मक रूप में भावावेश की स्थिति में हुआ और फिर उसके आस-पास के समाज ने उसे एक निश्चित अर्थ प्रदान किया। जैसे दो या तीन माह के बच्चे के मुख से आ, या मा, या हाँ की ध्वनि रोते समय मुँह के खुलने से या दोनों अधरों के बन्द होने से निकलती है परन्तु उसकी माँ उसे मा, आ अर्थ प्रदान कर देती है किन्तु वही बच्चा बड़ा होने पर अपने मुख से किसी भी व्यक्त सार्थक ध्वनि को निकालने के पूर्व उसके आन्तरिक रूप अर्थात् विचार या भाव को अपने मन में पहले प्रतिष्ठित देखता है। इन विचारों या भावों का उद्दीपक जगत् का बाह्य वातावरण ही होता है। किन्तु मन में भाषा की सहायता से विचारों की निश्चित प्रतिमाएँ वर्णात्मक व्यक्त ध्वनियों के मुख से निकलने के पूर्व ही उठती हैं। तब आत्मा बुद्धि द्वारा अर्थों का संयोग मन से कराती है; तदनन्तर मन जठराग्नि को उत्पन्न करता है, वह जठराग्नि वायु को उद्दीप्त करती है, वायु प्रेरित होकर सिर में टकराती है और सिर में टकराने के पश्चात् मुख में पहुँचती है, तब विविध वर्णों की उत्पत्ति होती है। अर्थात् भाषा को वास्तविक स्वरूप धारण करने के पूर्व मनुष्य की वाणी सम्बन्धी मानसिक तथा शारीरिक प्रक्रिया में ढलना आवश्यक है। इसपर भारतवासी बहुत पहले विचार कर चुके हैं—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनोसंयुक्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
सोदीर्णो मूर्धन्यभिहितो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णां जनयते तेषां विभागं पंचधा स्मृतम् ॥

—वाक्यपदीय

भाषा-लक्षणों की दृष्टि से भाषा की परिभाषा—भाषा के प्रमुख लक्षणों तथा विशेषताओं पर बल देते हुए भाषा-वैज्ञानिकों ने उसकी परिभाषा निम्न प्रकार से की है—

जेस्पर्सन के शब्दों में मनुष्य ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा अपना विचार प्रकट करता है। मानव-मस्तिष्क वस्तुतः विचार प्रकट करने के लिए ऐसे ध्वन्यात्मक शब्दों का निरन्तर उपयोग करता आया है, इस प्रकार के कार्य-कलाप को ही भाषा की संज्ञा दी जाती है। डा० सुकुमार सेन के मतानुसार अर्थवान् कण्ठोद्गीर्ण ध्वनि-समष्टि ही भाषा है। इस दृटि से मेरियो पाई के मतानुसार भाषा मनुष्य की वागिन्द्रियों से निस्सृत तथा उसकी श्रोत्रेन्द्रियों से गृहीत व्यक्त ध्वनियों की समष्टि है जिनका विश्लेषण तथा अध्ययन हो सके। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के मतानुसार मुँह से बोली जानेवाली तथा कान से सुनी जानेवाली एवं सर्वसामान्य द्वारा स्वीकृत ध्वनियों के उस मेल को भाषा कहते हैं जो कहनेवालों की बातों को सुननेवालों को समझा सके। उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि भाषा के अस्तित्व के लिए श्रोता तथा वक्ता दोनों ही उसके अनिवार्य सहकारी तत्त्व हैं। वह अस्तित्व में तभी आती है जब वह बोली जाने के साथ सुनी तथा समझी भी जाती है। अर्थात् उसे भावना या विचारणा तथा बोलने एवं समझने की प्रक्रिया में ढलना पड़ता है। तात्पर्य यह कि भाषा का अस्तित्व समाजगत पहले है, व्यक्तिगत बाद में। भाषा के वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए ध्वनियों का वर्णात्मक तथा रूप-साधना योग्य होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

बर्नार्ड ब्लाक तथा जार्ज ट्रेगर ने अपनी पुस्तक 'An outline of Linguistic Analysis' में भाषा की परिभाषा इस प्रकार से दी है—'भाषा स्वेच्छागत वाक्-प्रतीकों की एक ऐसी पद्धति है जिसके माध्यम से सामाजिक प्राणी परस्पर सहयोग करते हैं।'[1] इस परिभाषा में भाषा के चार लक्षण दिये हुए हैं।

---

१. 'A Language is a system of arbitrary vcocal symbols by means of which social group co-operates.

१—भाषा एक पद्धति है—अर्थात् प्रत्येक भाषा में कोई न कोई विशिष्ट व्यवस्था होती है। ध्वनि, शब्द, पद, वाक्य आदि में एक क्रम रहता है। उसमें परिवर्तन होते हुए भी उसका अधिकांश रूप समाज में स्थिर रहता है। प्रत्येक भाषा में व्याकरण सम्बन्धी, ध्वनि सम्बन्धी, रूप-परिवर्तन एवं अर्थ-परिवर्तन सम्बन्धी नियम होते हैं। यदि किसी भाषा में यह व्यवस्था न हो तो कोई उसे सीख नहीं सकता।

२—भाषा में स्वेच्छागत वाग्ध्वनियों का प्रयोग होता है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भाषा में जिन-जिन ध्वनियों का प्रयोग होता है, कालान्तर में उसी भाषा में उनसे अधिक ध्वनियों का प्रयोग होने लगता है। अरबी तथा फारसी के प्रभाव से हिन्दी में संघर्षी क़, ख़, ग़, ज़, फ़ ध्वनियों का प्रयोग होने लगा है। अंग्रेजी के प्रभाव से इधर ऑ तथा इ़ स्वर का प्रयोग भी हिन्दी में प्रचलित कुछ शब्दों में होने लगा है। लेकिन स्वेच्छागत का अर्थ यह कदापि नहीं लेना चाहिए कि जिस व्यक्ति के मन में जो कुछ आवे वही उच्चारण करने लगे और वह ध्वनि भाषा के अन्तर्गत समाविष्ट कर ली जाय।

३—भाषा में प्रतीकात्मक वाग्ध्वनियों का प्रयोग होता है, अर्थात् भाषा में प्रयुक्त ध्वनियाँ सार्थक होती हैं। जैसे क ध्वनि को लीजिए। यह ध्वनि कमल, कलश, केसर शब्दों में सबसे प्रथम प्रयुक्त हुई है। अंग्रेजी में यही बुक (Book), टुक (Took), लुक (Look) शब्दों में अन्त में प्रयुक्त हुई है। इन ध्वनियों का एक निश्चित अर्थ है। अतः सार्थक हैं।

४—भाषा के माध्यम से जन-समूह पारस्परिक सहयोग करता है। तात्पर्य यह कि जिस ध्वनि-समूह का प्रयोग हम करें समाज उसका अर्थ समझ ले; और भाषा का प्रयोग करके हम जो कुछ कराना चाहते हैं, समाज के व्यक्ति वह करने के लिए तैयार हो जायँ। रमेश और उसकी पत्नी लक्ष्मी स्टेशन के विश्रामगृह में बैठे हैं। लक्ष्मी भूखी प्यासी है और वह भोजन-पानी के प्रबन्ध के लिए अपने पति से कहती है। रमेश पर लक्ष्मी की इन वाग्ध्वनियों का प्रभाव पड़ता है और वह भोजन-पानी का अपेक्षित प्रबन्ध करता है। इसी प्रकार समाज में सभी व्यक्ति वक्ता और श्रोता बनकर पारस्परिक व्यवहार के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं। यही उनका पारस्परिक सहयोग है।

भाषा पक्ष की दृष्टि से परिभाषा—वान्द्रिए के मतानुसार मनुष्य की वाणी सम्बन्धी शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के योगफल को भाषा कहते हैं। उन्होंने इस परिभाषा में यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि भाषा में शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों पक्षों का होना अनिवार्य है। यहाँ तक

तो उसकी परिभाषा ठीक है। विचाराभिव्यक्ति के दूसरे माध्यमों जैसे मूक अभिनय, हाव-अनुभाव, ममोमा द्वारा बातचीत आदि में मनुष्य के केवल मानसिक पक्ष की प्रक्रिया घटित होती है, किन्तु उसमें शारीरिक प्रक्रिया अर्थात् वागिन्द्रियों की प्रक्रिया नहीं घटित होती, इसी लिए विचाराभिव्यक्ति के उपर्युक्त साधन भाषा में सम्मिलित नहीं किये जा सकते। इसी प्रकार करतलध्वनि, अँगुलियों की चटकाहट की ध्वनि, हास्य ध्वनियाँ आदि भी इसमें सम्मिलित नहीं की जा सकतीं, भले ही इनसे अर्थ की व्यंजना होती हो। क्योंकि इन ध्वनियों के उद्गीर्ण होने में वगिन्द्रियों की प्रक्रिया घटित नहीं होती। इनमें वर्णात्मक व्यक्त ध्वनियाँ नहीं रहतीं। इसी प्रकार मुख, ओठ आदि से भी कुछ अस्पष्ट गूढ़ ध्वनियाँ निकाली जा सकती हैं, पर वे वर्णात्मकता के अभाव में अस्पष्ट कोटि की होती हैं। इसी तरह रेडियो की भाषा तथा ग्रामोफोन के रिकार्डों में वर्णात्मक व्यक्त ध्वनियाँ तो रहती हैं, किन्तु वे मानव मुखोद्गीर्ण न होने के कारण भाषा-प्रक्रिया से शून्य हैं। इसलिए उनका समावेश हमारी विवेच्य भाषा के अन्दर नहीं हो सकता। वान्द्रिये ने जहाँ शारीरिक तथा मानसिक पक्षों की प्रक्रियाओं के योगफल को भाषा कहा है वहाँ उसकी स्थिति भ्रमपूर्ण है; क्योंकि भाषा में दोनों पक्षों—शारीरिक तथा मानसिक—की प्रक्रियाओं का एक दूसरे से गुणनफल होता है। दोनों की अलग-अलग प्रक्रिया के योग से भाषा नहीं बनती, वरन् दोनों की प्रक्रिया साथ-साथ अभिन्न रूप में गुणित रूप में चलती है।

संस्कृति की दृष्टि से भाषा की परिभाषा—विलियम इंट्विटिल के शब्दों में संस्कृति के माध्यम को भाषा कहते हैं। किन्तु किसी भी परिस्थिति में उसके लिए संस्कृति का पर्याय होना आवश्यक नहीं। इनकी परिभाषा में भाषा के सांस्कृतिक पक्ष पर बल है, किन्तु इस परिभाषा में अतिव्याप्ति-दोष है। जैसे पुस्तकों की लिपि-बद्ध भाषा, शिलालेखों की भाषा, संस्कृति की माध्यम है, इसमें प्राचीन से प्राचीन संस्कृति सुरक्षित हो सकती है, किन्तु मुखोद्गीर्ण न होने के कारण उसमें ध्वन्यात्मकता नहीं है। अतः वह हमारी विवेच्य भाषा के भीतर सम्मिलित नहीं हो सकती।

भाषा की उपर्युक्त परिभाषाओं तथा उनके विवेचन से उसके विषय में निम्नांकित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

भाषा एक प्रकार का चिह्न है। चिह्न से तात्पर्य उन प्रतीकों से है जिनके द्वारा मनुष्य अपना विचार दूसरों पर प्रकट करता है। ये प्रतीक भी कई प्रकार

के होते हैं, जैसे नेत्र-ग्राह्य, श्रोत्र-ग्राह्य एवं स्पर्श-ग्राह्य। वस्तुतः भाषाकी दृष्टि से श्रोत्र-ग्राह्य प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

भाषा मनुष्य के प्रतीकात्मक कार्यों का प्राथमिक एवं बहुविस्तृत रूप है। इसके प्रतीक ध्वनि-अवयवों से उत्पन्न ध्वनि अथवा ध्वनि-समूहों से निर्मित होते हैं एवं विभिन्न वर्गों तथा आकारों में इस प्रकार नियोजित रहते हैं कि उनका एक संयुक्त एवं सुडौल आकार (ढाँचा) बन जाता है। इस प्रकार भाषा का अस्तित्व प्रतीकों में होता है। इसके सभी प्रतीक सार्थक होते हैं; किन्तु इन प्रतीकों तथा इनसे बोधित वस्तुओं का सम्बन्ध समाज-सापेक्ष्य एवं स्वच्छन्द होता है। ये प्रतीक एक व्यक्ति की उत्तेजना को दूसरे व्यक्ति के मन में संचारित करके प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, यद्यपि इस प्रतिक्रिया को तत्काल उत्पन्न होने से रोका भी जा सकता है। भाषा का आकार इस प्रकार का होता है कि जिसके द्वारा किसी भाषा का बोलनेवाला अपने भावों, इच्छाओं एवं अनुभवों को दूसरे मनुष्य से अभिव्यक्त कर सकता है। सारांश यह प्रत्येक भाषा किसी संस्कृति को अभिव्यक्त करती है तथा अपने वातावरण के अनुसार होती है।

वह किसी विशिष्ट काल में किसी देश-विशेष की मनुष्य-जाति के उच्चारणोपयोगी अवयवों द्वारा अभिव्यक्त तथा उससे परिचित मनुष्यों की श्रवणेन्द्रियों द्वारा गृहीत एवं सर्वसामान्य द्वारा स्वीकृत तथा परम्परा से आगत सार्थक ध्वनि-समष्टि होती है जो मुख्यतः उसके जाननेवालों के बीच विचाराभिव्यक्ति तथा भाव-सम्प्रेषण का एक पूर्ण साधन बनती है। उसकी एक विशिष्ट ध्वनि-प्रणाली तथा विशिष्ट कोटि की रूप-साधन-पद्धति होती है जिसका भली भाँति विवेचन तथा विश्लेषण किया जा सकता है। उसके दो पक्ष होते हैं—शारीरिक तथा मानसिक। अतः वह इन दो पक्षों की प्रक्रियाओं से उद्‌भूत होती है। अर्थात् वक्ता के मुख से निकलने के पूर्व उसे उच्चारण-प्रक्रिया में ढलना आवश्यक होता है। उसके दो मुख्य आधार होते हैं—भौतिक तथा मानसिक। उसकी प्रकृति प्रेषणीय कोटि की होती है। उसमें परिवर्तनशीलता का गुण रहता है। उसके निर्माणकारी तत्त्वों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—ध्वनि तत्त्व, शब्द तत्त्व, वाक्य तत्त्व तथा अर्थ तत्त्व।

भाषा की उत्पत्ति

किसी वस्तु को ठीक तरह से समझने के लिए उसकी उत्पत्ति तथा इतिहास जानना आवश्यक है। अतः भाषा का दर्शन ठीक तरह से जानने के लिए भाषा की उत्पत्ति तथा इतिहास पर आगे विचार किया जायगा। सृष्टि के आदिकाल में पृथ्वी पर मनुष्य ने पहले-पहल किस प्रकार किस रूप में बोलना आरम्भ किया—यह भाषा-विज्ञान का सबसे विचारणीय एवं विवादास्पद विषय अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। इस प्रश्न पर भाषा-वैज्ञानिकों ने नाना वादों की दृष्टि से विचार किया है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में आधुनिक युग में भाषा-उत्पत्ति-विषयक ग्यारह वाद प्रचलित हैं—(१) दैवीवाद, (२) संकेतवाद, (३) धातुवाद, (४) निर्णयवाद, (५) प्रकृतिवाद, (६) अनुकरणमूलकतावाद, (७) परिहरणमूलकतावाद, (८) मनोभावाभिव्यंजकतावाद, (९) अनुरणनमूलकतावाद, (१०) समन्वयवाद, (११) विकासवाद। क्रम के अनुसार पहले दैवीवाद पर विचार किया जायगा।

दैवीवाद—सबसे प्राचीन मत यह है कि भाषा ईश्वर-प्रदत्त वस्तु है। जिस प्रकार ईश्वर ने सृष्टि की रचना की, मनुष्य को उत्पन्न किया उसी प्रकार उसने भाषा का भी निर्माण किया। प्रायः सभी परम्परावादी भारतीय तथा पाश्चात्य धर्म-पण्डितों ने अपने-अपने ढङ्ग से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। मनु की सम्मति में स्वयम्भू (ब्रह्म) ने वाक् की सृष्टि की। बृहदारण्यक उपनिषद् वेदों को अनन्त ब्रह्म का निश्वास मानता है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि संस्कृत को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि मैं अब दैवी वाणी की व्याख्या करने जा रहा हूँ। 'दैवीवाक् व्यवकीर्णेऽयम्' (भर्तृहरि)। आचार्य दण्डी संस्कृत को दैवी वाणी मानते हैं। इसी प्रकार पतंजलि, कृष्णद्वैपायन, व्यास तथा व्याडि भी भाषा को ईश्वरकृत मानते हैं। ऋग्वेद का भी मत है कि दैवी वाक् को देवों ने उत्पन्न किया—"देवीवाचमजनयन्त देवाः" ८।१००।११। पश्चिम के पुराने विद्वान् होमर, हेरैक्लिटस, अरस्तू, एपिकार्मस, एम्पेडौक्लीज, थ्रैक्स्, लिबनिज आदि भाषा को दैवी मानते हैं। पुरातनवादी सभी धर्म-मतावलम्बी यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि उनके धर्म की भाषा ईश्वरीय है और वही आदिभाषा है। उनके अनुसार संसार की अन्य भाषाएँ उसी से निकली हैं। पुरातनवादी हिन्दू संस्कृत को,

ईसाई हिब्रू को, मुसलमान अरबी को, पारसी अवस्ता को ईश्वरीय सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं हिन्दूधर्म में अन्ध-श्रद्धा रखनेवालों के मत में संस्कृत देववाणी है, आदिभाषा है। जिसे ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में वैदिक ऋषियों को सिखाया। उन्होंने अपने बादवालों को सिखाया। कालान्तर में अन्य भाषाएँ, उपभाषाएँ इसी से निकलीं। इञ्जील को धर्मग्रन्थ माननेवालों के लिए तो यहूदी (हिब्रू) भाषा ही आदम की आदिम भाषा थी जो परमेश्वर-प्रदत्त है। और यदि बेबल के मीनार की दुर्घटना न हुई होती तो आज भी वही अकेली भाषा सारे संसार में व्याप्त होती। मुसलमान कुरान को अल्ला ताला का कलाम मानते हैं। उनका विश्वास है कि कुरान की भाषा ही संसार की आदिभाषा थी। ईसाई लोग हिब्रू भाषा को आदिभाषा मानते हैं। सृष्टि के प्रवाह को अनादि अनन्त माननेवाले अनीश्वरवादी बौद्ध लोग भी पालि को मूल भाषा मानते हैं और उनका विश्वास है कि आदिम युग के मनुष्य, ब्राह्मण, संबुद्ध इसी भाषा का प्रयोग करते थे। इसी प्रकार जैन लोग अर्द्धमागधी प्राकृत को मूल भाषा (प्राक्कृत्) मानकर उसे मनुष्य की आदिम भाषा कहते हैं। उनका विश्वास है कि महावीर स्वामी ने इस भाषा का उपदेश पशु, पक्षी आदि को भी दिया और सिद्ध, देव आदि योनियों के लोग इसे समझते थे।

खण्डन—जीव-विज्ञान-वेत्ताओं का मत है कि मानव-जाति का विकास एक व्यक्ति के विकास की भाँति ही हुआ है। इस मत से प्रभावित होकर भाषा-शास्त्री यह मानते हैं कि आदिम मनुष्य में भाषा का उद्भव तथा विकास उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार शिशु में भाषा का उद्भव तथा विकास होता है। इस कारण आजकल के भाषा-वैज्ञानिक भाषा-उत्पत्ति सम्बन्धी वादों की प्रामाणिकता का निर्णय करने के लिए शिशु की भाषा का उदाहरण देते हैं। बच्चे में भाषा-उत्पत्ति के कारणों, प्रकारों, विभिन्न स्थितियों, स्वरूपों तथा प्रणालियों का प्रमाण देते हैं ; जैसे—जैस्पर्सन, मेरियो पाई आदि। भाषा-उत्पत्ति सम्बन्धी वादों की प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए आदिवासियों की भाषा तथा भाषा के सामान्य विकास का सहारा लेने से भाषा-उत्पत्ति सम्बन्धी विवेचन में निगमन प्रणाली का समावेश हो जाता है। इसलिए विवेचन वैज्ञानिक हो जाता है। इसी कारण मैंने भी उपर्युक्त तीनों तथ्यों का उपयोग यथावसर किया है।

दैवी मत की परीक्षा के लिए अकबर बादशाह ने कुछ बच्चों को उनके माता-पिता तथा समाज से दूर रखकर उनके पालन का प्रबन्ध किया। उनके

सामने किसी को बातचीत करने या कुछ बोलने की आज्ञा नहीं थी। अन्त में वे बच्चे गूँगे निकले। इसी प्रकार मिस्र देश के राजा सैमेटिकुस ने दो तत्काल पैदा हुए बच्चों को मनुष्य-समाज से अलग एक पार्क में रखकर उनके पालन का प्रबन्ध करवाया। उन बच्चों के सामने सबको बोलने का निषेध था। कई वर्षों के पश्चात् जब उनकी परीक्षा की गई तब वे केवल बेकोस् शब्द बोलते थे जिसका अर्थ फ्रीजियन भाषा में रोटी है। बेकोस् शब्द बोलने में वे अनजान बच्चे इसलिए समर्थ हुए कि रोटी देनेवाले के मुख से एक दिन अचानक में बेकोस् शब्द निकल पड़ा था। अभी हाल की बात है कि फतहपुर जिले में एक गाँव में एक किसान की औरत अपने बच्चे को खेत में सुलाकर फसल काट रही थी। भेड़िया खेत में से बच्चे को अकस्मात् उठा ले गया और अपनी माँद में रखकर उसका पालन-पोषण किया। कई वर्षों के पश्चात् जब वह बच्चा किसी प्रकार मिला तब वह भेड़िये के समान चारों पैरों से चलता था और भेड़िये की तरह ही बोली बोलता था। उपर्युक्त उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य कोई भाषा ईश्वर के यहाँ से सीखकर नहीं आता। भाषा सम्बन्धी सभी बातें इसी वातावरण में अर्जित करता है।

ऋग्वेद का यह मत कि देवों ने दैवी वाणी की सृष्टि की भ्रमपूर्ण है। देव का अर्थ वायु, जल, पृथ्वी, सूर्य, अग्नि आदि देव हैं। आदिकाल में जब सृष्टि बन रही थी उस समय विविध पदार्थों के अस्तित्व में आते समय अग्नि, वायु आदि देवों के योग से जो मूल ध्वनियाँ द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक आदि में उत्पन्न हुईं वे ही मूल शब्द की विधात्री थीं। मानव-सृष्टि के आरम्भ में तत्तदर्थ सम्बन्धी शब्दों को पूर्व-सृष्टि में संचित योग-शक्ति से ऋषियों ने प्राप्त किया और उनसे लोक-भाषा चली। यदि देव का अर्थ वायु, जल, सूर्य, अग्नि आदि है तो इनसे कुछ ध्वनियाँ उद्भूत हो सकती हैं और आज भी होती हैं, किन्तु ऐसी ध्वनियों से एक तो सार्थक शब्दों की सृष्टि कम होती है और आदिम मनुष्य ने यदि तत्तद् ध्वनियों के अनुकरण से सृष्टि के आरम्भ में कुछ शब्दों की सृष्टि भी की हो तो उनकी संख्या किसी भाषा में बहुत ही थोड़ी है। उनसे किसी भाषा का सम्पूर्ण अंश नहीं बन सकता।

इस वाद में अधिक से अधिक तथ्य इतना ही है कि जब जरायुज जीवों के चरम विकास की चरम स्थिति में बन्दर से पैदा हुआ बनमानुस नाम का जीव दो पैरों के बल चलने लगा तब उसके गले की बनावट पहले से बदल गई। उसमें बहुत लोच आ गई और उसके गले में विविध प्रकार की वर्णात्मक व्यक्त ध्वनियों को पैदा करनेवाली बोली की डिबिया, आस्तिकों की

दृष्टि में ईश्वर द्वारा तथा नास्तिकों के मत में प्रकृति द्वारा निर्मित हो गई जिससे वह विविध वर्णात्मक भाषा को बोलने में समर्थ हुआ। पशु, पक्षी, बन्दर, गाय, भैंस आदि में भी भाषा की शक्ति है। किन्तु मनुष्य की भाषा-शक्ति उपर्युक्त जीवों से कुछ दूसरे ही प्रकार की हो गई, जो व्यक्ति की मनः-प्रेरणा से उद्भूत होकर समाज की लोकेच्छा-शक्ति द्वारा अर्थ प्राप्त कर भाषा पद पर आसीन हुई तथा सामाजिक आवश्यकताओं के बढ़ने के साथ ही विकसित हुई। किन्तु ईश्वर द्वारा किसी विशेष प्रकार की भाषा आदिम मनुष्य को प्रदान की गई यह बात तर्क-संगत प्रतीत नहीं होती। यदि भाषा ईश्वर-प्रदत्त होती तो वह सारे संसार में सर्वत्र एक प्रकार की होती एवं पूर्ण होती। उसमें देश-देश की भिन्नता के अनुसार विभिन्नता न आती। भिन्न वातावरण तथा समाज में परिपोषित होने पर भी बच्चे एक ही भाषा सीखते और निर्जन वन के निवासी आदिवासी भी सभ्य नागरिक की भाँति ही बोलते; परन्तु ऐसा नहीं है। संसार में भारोपीय, सेमेटिक, हेमेटिक, चीनी, तुर्की इत्यादि अनेक भाषाएँ हैं। यदि हिन्दू बालक कारणवश मुसलमानों द्वारा परिपोषित हो तो वह उर्दू सीखेगा, हिन्दी नहीं। इसी प्रकार यदि मुसलिम बच्चा हिन्दू-समाज में परिपालित हो, तो वह हिन्दी बोलेगा, उर्दू नहीं। यदि कोई भारतीय बच्चा इंगलैंड ले जाया जाय तो वह अंग्रेजी बोलेगा, भारतीय भाषा नहीं। ईश्वर-प्रदत्त भाषा को सर्वत्र पूर्ण होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। आदिवासियों की भाषाएँ सर्वत्र बहुत ही अविकसित कोटि की हैं।

प्रसिद्ध भाषाविद् हर्डर का कहना है कि यदि भाषा ईश्वर द्वारा रचित और उसी के द्वारा मनुष्य के मन में प्रविष्ट की गई होती तो वह अत्यधिक तर्कयुक्त और शुद्ध युक्तियों से भरपूर होती पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। हर्डर ने दैवी मत के विरुद्ध यह भी तर्क दिया है कि यदि भाषा ईश्वर-उत्पादित होती तो इसका आरम्भ नामों से होता क्योंकि यही तार्किक आदर्श मार्ग था। किन्तु भाषाओं में नाम आख्यातों से उत्पन्न माने जाते हैं इसलिए भाषा को ईश्वर-रचित मानना ठीक नहीं। सभी क्षेत्रों, सभी विषयों, सभी वस्तुओं में मानव-जाति का क्रमिक विकास इस बात का साक्षी है कि जिस प्रकार मनुष्य ने मकान बनाना, भोजन बनाना, खेती करना, वस्त्र बनाना क्रमशः सीखा उसी प्रकार उसने सामाजिक बनते ही, एक से दो होते ही, विचार-विनिमय की कठिनाई दूर करने के लिए भाषा का भी निर्माण किया। जिस प्रकार मूर्तिकला, चित्रकला, लेखन-कला, काव्यकला इत्यादि की उत्पत्ति तथा विकास धीरे-धीरे हुआ तद्वत् भाषा की उत्पत्ति तथा विकास भी क्रमशः हुआ, अर्थात् वह ईश्वर-प्रदत्त नहीं है।

संकेतवाद—इस मत के सबसे बड़े समर्थक प्रोफेसर टिले महोदय हैं। उनका मत उन्हीं के शब्दों में पहले दिया जाता है—"There is an intimate connection between the two forms of communication. speech centre of human brain is developed to a very great extent by hand gesture. It is possible that gestures possibly made by hands were unconsciously copied in the movement of tongue or lips. Many children and even grown-up people often twist their tongues while writing". संकेतात्मक अभिव्यक्ति-प्रणाली तथा ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति-प्रणाली में घनिष्ठ सम्बन्ध है। हाथों के संकेत से मानव-मस्तिष्क में स्थित वाणी के केन्द्र का विकास हुआ है। बहुत संभव है कि हाथ द्वारा किये गये संकेत का अनुकरण अप्रयास रूप से जिह्वा या ओठों द्वारा हुआ। आज भी बहुत से बच्चे तथा प्रौढ़ लिखते समय अपनी जिह्वा अथवा ओठों को भिन्न-भिन्न प्रकार से चलाते, घुमाते तथा मोड़ते रहते हैं। विकासवादी डारविन का भी मत है कि आदिम काल में मनुष्य के हाथों के अभिनय या संकेतों की नकल आस्यगत ध्वनियंत्र भी अज्ञात रूप से करते थे।[1]

सृष्टि के आदिम काल में जब मनुष्य के पास विचाराभिव्यक्ति के लिए ध्वन्यात्मक साधन नहीं था अथवा बहुत ही अपूर्ण कोटि का था तब वह जंगली जानवरों या बच्चों या अनपढ़ों के समान संकेत से विचारों का आदान प्रदान करता था। जानवर भी तीव्र भावावेग के क्षणों में संकेत से काम लेते हैं। बन्दर प्रसन्नता के समय चीं-चीं करते हुए दाँत दिखाता है। गाय, भैंस मैथुन के समय चिल्लाने के साथ-साथ विचित्र प्रकार का संकेत पूँछ, पीठ आदि के विचित्र 'मोड' आदि द्वारा करती हैं। भैंसें वर्षाकाल में आनन्दोल्लास प्रकट करने के लिए अपनी पूँछ पीठ पर डालकर चिल्लाती हुई भागती हैं। कुत्ता प्रेम प्रकट करते समय विचित्र ढंग से अपनी दुम हिलाता है। मधुमक्खी

---

[1] One hypothesis, originally sponsored by Darwin, is to the effect that speech was in origin nothing but mouth-pantomime, in which the vocal organs, unconsciously attempted to mime gesture by the hands.

The story of language By Merio Pie, P. 8.

पराग पाने पर भनभनाती हुई नाचने लगती है। बच्चे के जीवन के निरीक्षण से भी पता चलता है कि वह ध्वन्यात्मक अस्फुट वाणी निकालते समय संकेत से भी काम लेता है। बहरे और गूँगे संकेत से सबसे ज्यादा काम लेते हैं। देहात के वे अनपढ़, जिनके पास शब्द-भाण्डार बहुत ही कम है, बोलते समय विचाराभिव्यक्ति में असमर्थता देख संकेत से काम लेते हैं। जंगल में रहने वाले जंगली आदमियों के पास बहुत ही अपूर्ण कोटि का शब्द-भाण्डार रहता है इसलिए वे लोग विचाराभिव्यक्ति में संकेत से बहुत अधिक काम लेते हैं। उपर्युक्त प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सबसे आदिम काल में आदि-मानव अपने हाथ, दाँत, ओंठ आदि की ओर संकेत करने के साथ ही किसी का ध्यान आकर्षित करने के लिए किसी ध्वनि का उच्चारण करता रहा होगा। धीरे-धीरे उस संकेतार्थ के लिए वह ध्वनि ही विचाराभिव्यक्ति में प्रयुक्त होने लगी जैसे दाँत की ओर संकेत करते हुए मनुष्य ने अ अ आ अत् आत् अद् जैसी विवृत्ति ध्वनि निकाला होगा। इस प्रकार अद् अद् आदि ध्वनियाँ उपर्युक्त संकेतार्थ में प्रचलित होकर धीरे-धीरे लक्षणा द्वारा खाने के अर्थ में प्रयुक्त होने लगीं। इसी प्रकार इ उ ध्वनि अंगुलि-निर्देश के साथ निकलकर इदम् एवं अदस् अर्थों में परिणत हुई होगी। इसी प्रकार त्वम् तू (you) की ध्वनि अंगुलि से मध्यम पुरुष की ओर निर्देश करते हुए निकली होगी।

पैगेट (Paget) नामक विद्वान् का कहना है कि मनुष्य का हाथ जब किसी चीज से भरा रहता था तब संकेत करने में कठिनाई होती थी। इस कठिनाई के समय ध्वन्यात्मक वाणी अपने आप मनुष्य के मुख से फूट पड़ी। जब मनुष्य का हाथ किसी अन्य काम में लगा रहता था उस समय हाथ से संकेत करने में कठिनाई उपस्थित होती थी। इस कठिनाई के काल में मनुष्य के मुख से सहसा स्वात्म अभिव्यञ्जक के लिए ध्वनि फूट पड़ी होगी। संकेत से बहुत दूर के व्यक्ति को पुकारा नहीं जा सकता। अतः दूर के व्यक्ति को पुकारने के लिए भी ध्वन्यात्मक भाषा का आविष्कार अनिवार्य रूप में हुआ होगा। रात्रि में अंधकार के समय संकेत से काम नहीं चलता था इसी लिए भाषा का आविष्कार संकेत के अभाव में अनिवार्य हो गया होगा। मनुष्य का सामान्य विकास संकेतात्मक भाषा से नहीं हो सकता था इसलिए ध्वन्यात्मक भाषा का आविष्कार अनिवार्य हो गया।

खण्डन—यदि टिले और पैगेट का पूर्वउद्धृत मत संकेतवाद के विषय में

कुछ ठीक मान लिया जाय तो संकेतवाद के विषय में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि सांकेतिक भाषा और ध्वन्यात्मक भाषा (Vocal language) में घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु यहाँ भी यह स्मरण रखने की बात है कि वर्णात्मक व्यक्त भाषा के साथ सांकेतिक भाषा के प्रयोग चलते हैं। बच्चा भी जब Baffling sound की Stage में पहुँचकर बा मा बब्बा अ अ ओ ए कहने लगता है तब संकेत का प्रयोग करता है। पशु-पक्षी भी कुछ बोलने के साथ सांकेतिक भाषा का प्रयोग करते हैं। गूँगा भी कुछ ऊँ ऊँ अँ अँ आदि अस्फुट वाणी निकालते हुए संकेत का प्रयोग करता है। गाँव के अनपढ़ या जंगली लोग भी कुछ बोलते हुए संकेत का प्रयोग करते हैं। अतः संकेतवाद से वर्णात्मक भाषा उत्पन्न हुई यह मत तर्कसंगत नहीं बैठता। दूसरे संकेतात्मक भाषा ध्वन्यात्मक तो होती नहीं कि उससे भाषा की उत्पत्ति की समस्या कुछ हल हो सके। भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय मूल प्रश्न यह है कि सृष्टि के आदिम काल में जब बनमानुस की स्थिति पार कर मनुष्य मनुष्य कहलाने लगा तब सर्वप्रथम कौन सी ध्वनि किस प्रकार उसके मुख से निकली। सांकेतिक भाषा ध्वन्यात्मक तो होती नहीं इसलिए यदि यह मान भी लिया जाय कि वह आरम्भ में संकेत से ही विचार-विनिमय करता था तब भी भाषा की उत्पत्ति का मूल प्रश्न हल नहीं होता किन्तु विकासवाद के अनुसार पशु-पक्षी, किम्पुरुष, बन्दर, बनमानुस के पश्चात् मनुष्य का विकास हुआ। अतः विकासवाद के मतानुसार ध्वन्यात्मक वाणी तो पक्षी, गाय, बैल, कुत्ते, बन्दर, बनमानुस की स्थिति में उत्पन्न हो गई थी। बनमानुस की स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते कुछ वर्णात्मक व्यक्त ध्वनियाँ भी उसके मुख से निस्सृत होने लगी थीं। अतः यह कहना कि मनुष्य में सांकेतिक भाषा से वर्णात्मक व्यक्त भाषा उत्पन्न हुई तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। पैगेट ने जो कठिनाइयाँ प्रकट की हैं वे निराधार हैं क्योंकि मानव-स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते उसने वर्णात्मक व्यक्त ध्वनियों का आविष्कार कर लिया था। अतः इस स्थिति में वह वर्णात्मक व्यक्त ध्वनियों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में करने लगा था। साथ ही सांकेतिक भाषा का प्रयोग भी कुछ दूर तक करता था। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संकेतवाद भाषा-उत्पत्ति सम्बन्धी प्रश्न के समाधान में कोई योगदान नहीं कर सकता।

धातुवाद—(धातुसंग्रहात् वाक्) भारत में यास्क तथा पाणिनी और यूरोप में एडम स्मिथ तथा प्रो० हेज इसके महान् समर्थकों में हैं। यास्क वैदिक भाषा को धातुओं पर अवलम्बित मानते हैं, पाणिनी संस्कृत भाषा के सभी शब्दों

को धातुओं से उद्भूत मानते हैं। इस प्रकार दोनों आचार्य भाषा की उत्पत्ति धातुओं से मानते हैं। मैक्समूलर ने एडम स्मिथ के मत को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

"Adam Smith would wish us to believe that the first artificial words were verbs. Nouns, he thinks, were of less urgent necessity because things could be pointed at or imitated, whereas mere actions, such as are expressed by verbs could not.

Lectures on the Science of Language, Vol. I, P. 33-1886.

जर्मन विद्वान् प्रोफेसर हेज के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य में एक ऐसी शक्ति थी जिससे वह ४०० या ५०० धातुओं को जन्म दे सका। इसके बाद वह शक्ति नष्ट हो गई और उन धातुओं पर भाषा का भवन खड़ा हुआ।

खण्डन—धातु भाषा का स्वाभाविक अंश नहीं, उसे हमने बहुत बाद को खोज निकाला है। व्याकरण के विकास की दृष्टि से विचार करने पर यह विदित होता है कि धातु आदि की चीज न होकर अन्त की चीज है। आरम्भ में मनुष्य ने धातुओं से कैसे भिन्न-भिन्न शब्द बनाये और उनका भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग कैसे हुआ? आदि प्रश्नों का समाधान धातुवाद से नहीं होता। बालक के जीवन के भाषा सम्बन्धी अध्ययन से ज्ञात होता है कि वह पहले संज्ञा शब्द सीखता है, क्रिया शब्द नहीं। जब बच्चा लगभग एक या डेढ़ वर्ष की अवस्था में अपने आसपास की चीजों का नाम टूटी-फूटी भाषा में सीखकर उच्चारणीय करने में समर्थ हो जाता है तब वह इस आरम्भिक स्थिति में भी एक वाक्य के लिए एक संज्ञा का प्रयोग करता है। क्रिया का प्रयोग तो बहुत बाद में सीखता है। पिताजी के लिए तादिन, पानी के लिए अम् या मम, दूध के लिए दूद, गोदी के लिए दोदी, बाजार के लिए बजी कहने लगता है तब इनका अर्थ एक पूरा वाक्य होता है। इससे यही अनुमान होता है कि आदिम मनुष्य द्वारा भी सर्वप्रथम संज्ञा शब्द ही आविष्कृत हुआ होगा, क्रिया शब्द नहीं। यदि भाषा की उत्पत्ति के लिए धातुवाद को ठीक माना जाय तो संसार की सभी भाषाओं में धातुओं का होना अनिवार्य है किन्तु एकाक्षरी परिवार में धातु नाम की कोई वस्तु

नहीं है। जैस्पर्सन भाषा-उत्पत्ति के सम्बन्ध में धातुवाद को व्युत्पत्ति शास्त्र का तथ्य से अधिक मूल्याङ्कन करना मानता है।

निर्णयवाद (परस्परविमर्शात् च वाणी)—इस मत के समर्थक फ्रांसीसी क्रान्ति के जनक रूसो महोदय हैं। इनका कहना है कि आदिम मनुष्यों ने एक स्थान पर बैठकर आपस के समझौते से उस समय भाषा बनाई जब संकेत से उनके विचार-विनिमय का काम चलना असम्भव हो गया। अमुक वस्तु, कार्य, विचार, दृश्य, परिस्थिति का यह नाम है और अमुक का यह—उसने आपसी समझौते द्वारा निर्णय किया। इस प्रकार रूसो के मत में सबसे आदिम भाषा का सृजन मनुष्य ने आपसी समझौते से किया। परन्तु यह मत अल्पकाल भी आलोचना की कसौटी पर ठहर नहीं सकता। निर्णयवाद का मूल्याङ्कन करते समय सबसे मुख्य प्रश्न यह उठता है कि जब आदिकाल में मनुष्य के पास भाषा थी ही नहीं तब उसने कैसे सबको भाषा-आविष्कार के लिए एक स्थान पर निमंत्रित किया और जब उसके पास केवल संकेत ही थे तब उसने समझौते के समय अपने विचार किस साधन से प्रकट किये? जब भाषा थी ही नहीं तब किसी वस्तु का नाम किसी व्यक्ति ने कैसे प्रकट किया और भाषा के अभाव में निर्णय के लिए वाद-विवाद कैसे हुआ? क्या यह वाद-विवाद केवल संकेतों द्वारा हुआ? ध्वन्यात्मक भाषा के अभाव में किसी वस्तु के लिए किसी व्यक्ति के मन में विचार कैसे उद्भूत हुआ? आदि प्रश्नों का उत्तर देने में रूसो का यह निर्णयवादी मत असमर्थ हो जाता है। इसलिए निर्णयवाद भाषा-उत्पत्ति की समस्या हल करने में सहायक सिद्ध नहीं होता।

अनुकरणमूलकतावाद या ध्वन्यनुकृतिवाद (Bow Bow theory or Onomatopoeia theory)—इस वाद के समर्थक प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री हर्डर, मैक्समूलर, ह्विटनी, पाल आदि हैं। इस वाद के मतानुसार सृष्टि के आदिकाल में मनुष्य का पहला शब्द अनुकरणात्मक कोटि का था। इस मत के माननेवाले मनुष्य द्वारा चेतन तथा अचेतन पदार्थों की ध्वनियों के अनुकरण को भाषा-उत्पत्ति का मूल कारण मानते हैं। प्रकृति-जगत् में होनेवाली ध्वन्यात्मक क्रियाओं के नाम, भिन्न-भिन्न बोली बोलनेवाले पशु-पक्षियों के नाम, विशिष्ट ध्वनि उद्भूत करनेवाले प्रकृति के नाना पदार्थों के नाम, अनुकरणशील प्रवृत्ति रखनेवाले मनुष्य द्वारा उनकी ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर रखे गये। इन्हीं अनुकरणमूलक शब्दों के आधार पर भाषा का भवन तैयार हुआ। सृष्टि के आदिकाल में मनुष्य जब जङ्गल में

शिकारी की स्थिति में रहता था उस समय पशु-पक्षियों की बोली सुनकर वह बहुत प्रभावित होता था और उस पशु या पक्षी को उससे निःसृत ध्वनि के अनुकरणवाची शब्द के आधार पर पुकारने लगता था। जैसे कौवे की का का की ध्वनि सुनकर उसकी ध्वनि की अनुकृति के आधार पर उसे काक कहना शुरू कर दिया। इसी प्रकार कोयल की कू कू ध्वनि सुनकर उसे ककू या कोकिल, उल्लू की घू घू ध्वनि सुनकर उसे घुग्घू नाम दिया। मुर्गे से कु कु हूँ कू की ध्वनि सुनाई देने के कारण उसका नाम कुक्कुट रखा गया। वायु-संचालन से सरसर ध्वनि उद्भूत होने के कारण उसकी गति को सरसर गति कहा गया। पत्तियों के गिरने या हिलने में मर्मर गति उत्पन्न होती थी इसलिए उसकी गति को मर्मर नाम दिया गया। नदी के बहने से नद नद शब्द निकलता था इसलिए उसका नाम नदी रखा गया। झरने के बहने से झरझर शब्द निकलता था इसलिए उसका नाम झरना या निर्झर रखा गया। इसी प्रकार हिनहिनाना, भौं-भौं करना, पिपियाना, मिमियाना, चरमराना, खड़खड़ाना, चुलबुलाना आदि क्रियाओं की उत्पत्ति ध्वन्यनुकरण के आधार पर हुई। इस प्रकार अनुकरण के आधार पर मूल शब्दों का पर्याप्त कोश बन गया। इन्हीं बीज-रूप मूल शब्दों से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ। जैसे—भों-भों से भौंकना, भूसना, भों-भों करना, पी-पी से पिपियाना, में-में से मिमियाना इत्यादि।

इस वाद के समर्थक अपने मत की पुष्टि में बच्चे की भाषा का प्रमाण देते हुए कहते हैं कि बच्चा भाषा सीखने के आरम्भ-काल में चेतन तथा अचेतन पदार्थों का नाम उनसे निःसृत ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर करता है। वह बिल्ली की म्याऊँ-म्याऊँ बोली सुनकर उसका नाम म्याऊँ-म्याऊँ रखता है। मोटर को मोटर न कहकर पों-पों कहता है क्योंकि उसको हटाने के लिए मोटर पों-पों शब्द करती है। अतः सृष्टि के आरम्भ में आदिम मनुष्य ने भी अपने आसपास के चेतन तथा अचेतन पदार्थों से निःसृत ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर अपनी आरम्भिक भाषा का निर्माण किया। इस वाद के अनुयायी दूसरा तर्क यह देते हैं कि ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर शब्दों का निर्माण होता रहा है या हो सकता है—इस बात की सत्यता इस बात से स्पष्ट है कि प्रत्येक भाषा के शब्द-कोष में ऐसे शब्द मिलते हैं जो स्पष्टतः ध्वन्यनुकृति के आधार पर बने हैं और जो प्रायः एक रूप के हैं। उदाहरणार्थ बिल्ली की बोली के लिए म्याऊँ शब्द चीनी, मिस्री तथा भारतीय भाषाओं में प्रायः एक ही अथवा समान रूप में मिलता है।

सं० कुक्कुट अंग्रेजी Cock काक, हिन्दी भौं-भौं अं० Bow, Bow, सं० कोकिल, ग्रीक Kokkyx अं० Cuckoo, हिन्दी हिनहिनाना फ्रेंच Hennir। वे लोग तीसरा तर्क यह देते हैं कि ध्वन्यनुकृति के आधार पर शब्द-निर्माण की प्रवृत्ति मनुष्य में आज भी दिखाई देती है। इसलिए फाउन्टेनपेन के लिए डा० रघुवीर द्वारा आविष्कृत निर्झरिणी शब्द नहीं चल सकता क्योंकि स्याही निकलते समय उससे निर्झरप्रवाहकालीन झरझर शब्द उद्भूत नहीं होता। मोटर के हार्न को हम लोग आज भी उसकी ध्वन्यनुकृति के आधार पर भोंपू शब्द से अभिहित करते हैं।

खण्डन—परीक्षा करने पर यह वाद भी बहुत सन्तोषजनक सिद्ध नहीं होता। संसार भर की प्राचीन से प्राचीन बोलियाँ तथा भाषाओं की छान-बीन करने से यह जान पड़ता है कि इन प्राचीन बोलियों तथा भाषाओं में पशु-पक्षियों तथा अन्य पदार्थों के अनुकरण के आधार पर बने हुए शब्दों की संख्या बहुत थोड़ी है। बहुत-सी आदिम जातियों की भाषाओं का अध्ययन भी भाषाविदों ने किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उन भाषाओं में अनुकरणात्मक शब्दों का अनुपात भी बहुत थोड़ा है। अमरीका की मैकेञ्जी नदी के किनारे बसी हुई असभ्य जाति अथवस्कन की भाषा में तो ऐसे शब्दों का नितान्त अभाव है। दूसरा विरोधी तर्क इस वाद के खण्डन के विषय में यह दिया जाता है कि मनुष्य ने जब पशु-पक्षी, निर्जीव पदार्थ आदि की ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर शब्द बनाना आरम्भ किया तब क्या उसने अपने साथियों का अनुकरण आरम्भ में नहीं किया? क्या वह स्वयं पशुओं, पक्षियों, दृश्यों तथा वस्तुओं को देखकर कुछ शोर न कर सकता था। हम पहले यह सिद्ध कर चुके हैं कि मनुष्य के पास भाषा की शक्ति तथा प्रवृत्ति बनमानुस की स्थिति में ही विकसित तथा व्यापक कोटि की मिल चुकी थी। मनुष्यों की तरह कुछ-कुछ गाने तथा सुर निकालने की शक्ति बनमानुस को प्राप्त हो चुकी थी। जब उसे यह शक्ति प्राप्त थी तब उसने भाषा के सृजन के लिए दूसरों का सहारा क्यों लिया? अपने साथी मनुष्यों की ध्वनियों का अनुकरण वह क्यों नहीं कर सका? आदि प्रश्नों का उत्तर इस वाद से नहीं मिलता। इस वाद में अव्याप्तिदोष है, क्योंकि संसार की सभी भाषाओं में अनुकरणमूलक शब्द नहीं मिलते जैसे अमरीका की अथबास्कन भाषा में अनुकरणमूलक शब्दों का अभाव पाया जाता है।

यदि इस वाद को भाषा-उत्पत्ति के लिए ठीक भी मान लिया जाय तो किसी भाषा में भी एक प्रतिशत ध्वनि-अनुकरणमूलक शब्द नहीं मिलते और किसी

भाषा के शब्द-भाण्डार को इन अनुकरणमूलक शब्दों से विकसित मानने में असम्भवनीय कठिनाई दिखाई पड़ती है। अधिक से अधिक इस वाद के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि पशु-पक्षियों तथा निर्जीव पदार्थों की ध्वनियों को सुनकर भी कुछ शब्द आरम्भ में मनुष्य द्वारा बनाये गये होंगे पर निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि अनुकरणमूलक शब्द ही मनुष्य के मुख से निःसृत प्रथम प्रकार के शब्द रहे होंगे।

अनुरणनमूलकतावाद—इस वाद के जन्मदाता मैक्समूलर महोदय हैं। इनके मतानुसार मनुष्य में भाषा-सृजन की एक स्वतन्त्र विभाषिका शक्ति थी जिसके द्वारा वह पदार्थों के ऊपर चोट पड़ते ही अथवा आपस में टकराने से उद्भूत ध्वनि को श्रवण करते ही उसे अपने मुख से सहज ढंग से ध्वन्यात्मक रूप प्रदान कर देता था, जो भाषा के उत्पन्न होने पर नष्ट हो गई। इस मत के अनुसार शब्द और अर्थ का रहस्यमय सम्बन्ध है अतः सृष्टि के आदि में प्रकृति के विशिष्ट पदार्थों की अनुरणनात्मक ध्वनि श्रुति-गोचर होते ही उसके लिए शब्द भी आदि में मनुष्य के मुख से स्वाभाविक रूप में निकला। अर्थात् मनुष्य के प्रारम्भिक या आदिम शब्द निर्जीव पदार्थों की अनुरणनात्मक ध्वनियों के आधार पर बने। हिन्दी के कलकल, छलछल, झड़झड़, जगजग, खटपट, खड़खड़, गड़गड़, धड़धड़, चटपट, अंग्रेजी के dazzal, thunder, Buzzing, zigzig आदि शब्द निर्जीव पदार्थों से उद्भूत ध्वनियों के अनुरणन के आधार पर बने। इस प्रकार निर्जीव विशिष्ट पदार्थों से उद्भूत ध्वनियों के अनुरणन के आधार पर मूल शब्दों का पर्याप्त कोश बन गया। इन्हीं बीज-रूप मूल शब्दों से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ। जहाँ तक इन शब्दों के निर्माण का सम्बन्ध है वे अवश्य ही अनुरणन के आधार पर बने। पर उपर्युक्त वादों से निकले अन्य शब्दों की भाँति ही इस वाद से बने शब्दों की संख्या भी बहुत थोड़ी है। अतः भाषा की उत्पत्ति के विषय में इनसे कोई महत्त्वपूर्ण सहायता नहीं मिल पाती। दूसरे इस वाद के जन्मदाता मैक्समूलर महोदय ने ही अपने उत्तरकालीन जीवन में ही इस वाद का खण्डन आरम्भ कर दिया था। अतः भाषा-उत्पत्ति सम्बन्धी समस्या के योगदान में इस वाद का महत्त्व निरर्थक कोटि का है।

श्रमपरिहरणमूलकतावाद—इस मत के समर्थकों में नोरे का नाम सबसे प्रसिद्ध है। यह वाद मल्लाहों के जीवन के निरीक्षण से निर्मित किया गया है। मल्लाहों के नाव खेते समय पतवार के खींचने में बहुत परिश्रम

पड़ता है। अतिशय परिश्रम के कारण उनके श्वास-प्रश्वास की वृद्धि हो जाती है। साँस बड़े झोंके से चलने लगती है। गले की भीतरी नसें तीव्र गति से काँपने लगती हैं। उनको आराम देने की चेष्टा में उनके मुख से अपने आप यो हे हो शब्द निकलने लगता है। इस मत के समर्थकों ने इस प्रकार नाव खेते समय मल्लाहों के मुख से श्रमपरिहरणार्थ यो हे हो शब्द निकलते हुए सुनकर यह निष्कर्ष निकाला कि भाषा का आदिम शब्द सृष्टि के प्रारम्भ-काल में जी-तोड़ परिश्रम करते हुए मनुष्य के मुख से श्वास-प्रश्वास की गति बढ़ जाने पर, गले की भीतरी नसों में तीव्र कम्पन उत्पन्न हो जाने पर उनको आराम देने की सहज चेष्टा में स्वभावतः निकला होगा और इस प्रकार के शब्द जिन कार्यों के करते समय निकलते थे उसी के बोधक उस समय के समाज द्वारा मान लिये जाते थे। इस प्रकार उनके मत में श्रमपरिहरणमूलक शब्दों से मनुष्य की आदिम भाषा बनी। इस वाद के आविष्कारकर्ताओं का कहना है कि आज भी कपड़ा धोते हुए कठिन शारीरिक श्रम करते समय धोबी छियो-छियो, पहलवान हजार दण्ड-बैठक करते समय मुँह से हुँअ-हुँअ शब्द, अवहनीय सवारी ढोते समय कहार अपने मुख से हुँ-हुँ शब्द निकालते हैं, बच्चे के जीवन के अध्ययन से भी विदित होता है कि वह भी अपनी नसों के ऊपर परिश्रम पड़ते समय अपने श्रम के परिहरण के लिए कुछ शब्द स्वाभाविक ढङ्ग से अपने मुख से उच्चारित करने लगता है। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर नोरे आदि भाषा-वैज्ञानिकों ने यह कल्पना की कि आदि-मानव जंगल में रहता था। उसे अपनी जीविका अथवा रक्षा के लिए कठिन शारीरिक परिश्रम करना पड़ता था। जैसे—जङ्गली जानवरों के भय से बचने के लिए दौड़ने में, सामूहिक रीति से शिकार करने में, पेड़ काटने में, कठिन शारीरिक श्रमकाल में श्रम-परिहरण के लिए उसके मुख से कुछ शब्द अपने आप निकलते रहे। इस वाद के अनुसार वे ही भाषा के आदिम शब्द बन गये। उन्हीं के आधार पर मनुष्य की परिवर्तिनी भाषा विकसित हुई।

खण्डन— यह सिद्धान्त ऊपर के सभी सिद्धान्तों से गया-बीता है क्योंकि इस प्रकार के शब्दों की संख्या संसार की सभी भाषाओं में बहुत ही न्यून कोटि की है। दूसरे इस मत के विरुद्ध यह तर्क दिया जा सकता है कि शारीरिकश्रम-परिहरण-काल में मनुष्य के मुख से निकले हुए शब्द कुछ इस प्रकार के हैं कि उनसे दूसरे शब्दों का निर्माण बहुत ही कम मात्रा में सम्भव है। तीसरा तर्क इस मत के विरुद्ध यह दिया जा सकता है कि शारीरिक श्रम-परिहरण-मूलक शब्दों की जितनी ध्वनियाँ किसी भाषा में मिलती हैं

उससे बढ़कर ध्वनियाँ तो अनेक जीव बोलते रहे हैं पर आज तक वे किसी भाषा का निर्माण नहीं कर सके।

मनोभावाभिव्यञ्जकवाद—इस वाद के समर्थकों में काडलिक महोदय का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

इस वाद के अनुसार मनुष्य की भाषा के प्रारम्भिक शब्द विस्मयादि-बोधक ध्वनियाँ या अव्यय हैं जो मनुष्य के दुःख-सुख, घृणा, भय, शोक, आश्चर्य, क्रोध आदि की परिस्थितियों में उसके मुख से सहसा स्वात्माभिव्यञ्जन के लिए पर्वत के निर्झर के समान अपने आप फूट पड़े। इसके प्रमाण में इसके समर्थक पशुओं तथा बच्चों का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि पशु भावावेशों तथा आवेगों के समय ही विशेष रूप की ध्वनियाँ सहसा अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए निकालते हैं; पक्षी आनन्दोल्लास के समय चूँ-चूँ करते हैं; कुत्ता दुर्घटना से मरी हुई अपनी माता के वियोग में शोकाकुल होकर भों-भों करके चिल्लाता रहता है; गाय का बच्चा भूख से व्याकुल होकर अपनी माँ को मिया-मिया करके चिल्लाता है। चरागाह से लौटती हुई उसकी माँ वात्सल्य रस के वेग में बाँ-बाँ करके रँभाती है। गायें-भैंसें मैथुन-काल में विशेष तरह से चिल्लाती हैं। श्री वैशाखनन्दन हरी घास पाने पर हर्षातिरेक में रेंकने लगते हैं। घोड़ा चोरों को देखकर अपने मालिक को जगाने के लिए हिनहिनाने लगता है; बच्चा भी गर्भ-स्थान से पृथ्वी पर आने के समय गर्भ-स्थान से भिन्नता पाकर कँः-कँः कहके चिल्लाने लगता है। दो माह पश्चात् सुख की अनुभूति में वह हूँ-हूँ करता है; इसी प्रकार धीरे-धीरे वह अन्य ध्वनियों का उच्चारण करता है।

इस वाद के समर्थक भावावेग को आरम्भिक भाषा का मूल आधार मानते हुए यह कहते हैं कि प्रारम्भ में मनुष्य केवल विस्मयादिबोधक भावों की अभिव्यक्ति-सम्बन्धी ध्वनियों के उच्चारण में समर्थ हुआ होगा; बाद में मनोभावाभिव्यञ्जक ध्वनियों में से कुछ उन्हीं मनोभावों तथा क्रियाओं की द्योतक हो गईं। धीरे-धीरे इसी प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण से अन्य ध्वनियों के उच्चारण की शक्ति उसे प्राप्त हुई। जैसे हिन्दी बोलनेवाले हिन्दुस्तानी के मुँह से दुःख के समय आह, ओह, उफ् शब्द सहसा निकलते हैं। इससे अधिक से अधिक हाय-हाय, आह, ओहो, शब्द बनते हैं। घृणा के समय निकली छिः, धिक्, ध्वनियों से छिया, छिः-छिः, धिक्कार, धिक्कारना, आदि शब्द बनते हैं। अभिशंसन के समय निकली वाह! वाह!! ध्वनि

से वाहवाही, तिरस्कार के समय धत् तथा दुर शब्द से धता, दुरदुराना आदि शब्द बने। अंग्रेज मजदूर जब बोझ उठाकर थका रहता है, तब उसके मुँह से अनायास हे, हो शब्द निकलते हैं। इसी से अंग्रेजी में उठाने के अर्थ में 'हीव' धातु की उत्पत्ति हुई। 'फाइ' शब्द जो अंग्रेजी में तिरस्कार के अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसी से तिरस्कृत काम करनेवाले 'फ्रियेण्ड' (Fiand) शैतान शब्द की उत्पत्ति हुई।

खण्डन—यह वाद इस बात को मानकर चलता है कि जानवरों की बोली तथा मनुष्यों की भाषा में बहुत घनिष्ठता है। किन्तु यह तथ्य भ्रमपूर्ण है क्योंकि मनुष्य की वाणी की शक्ति जानवरों से भिन्न प्रकार की होती है। यदि जानवरों की भाषा तथा मनुष्यों की भाषा में कुछ समानता होती तो जानवरों की बोली में भी कुछ विकास हुआ होता।

दूसरा तर्क इस वाद के विरोध में यह है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि मनुष्य विस्मयादिबोधक भावों की परिस्थितियों में तरह-तरह की ध्वनियों को सहसा निकालता है और वे ध्वनियाँ, उन भावों की प्रतीक या द्योतक बन जाती हैं। पर इस प्रकार के शब्दों की संख्या भी किसी भाषा में बहुत ही न्यून कोटि की है। ये विस्मयादिबोधक अव्यय भाषा के मुख्य अंश नहीं हैं, इनका अस्तित्व ही अलग है। ये वाक्य के अन्दर तो आते ही नहीं; ये अव्यय भिन्न-भिन्न भाषा में भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। यदि ये शब्द आरम्भ में निःसृत हुए होते तो सभी देशों में एक से होते। किन्तु कहीं कोई अव्यय प्रयोग में आता है, कहीं कोई। दुःख में जर्मन au, फ्रेंच ahi, इंगलिशमैन ohow, अफगान ai, हिन्दुस्थानी ohho का उच्चारण करता है। यदि यह वाद भाषा-उत्पत्ति में ठीक मान लिया जाय तो इन अव्ययों को सर्वत्र एक होना चाहिए था। किन्तु उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि ऐसा नहीं है।

इस वाद से अधिक से अधिक इतना ही तथ्य निकलता है कि भावात्मक तत्त्व ही भाषा की उत्पत्ति का मूलाधार है। और बहुत सम्भव है कि मनुष्य की आरम्भिक भाषा आदिम काल में मनोवेगों के आवेग-क्षणों में स्वात्म-अभिव्यञ्जन के लिए पर्वत के निर्झर के समान अपने आप फूट पड़ी होगी। इसका विशद विचार प्रकृतिवाद के अन्तर्गत हुआ है। प्रकारान्तर से मनोभावाभिव्यञ्जकवाद प्रकृतिवाद के अन्तर्गत आ जाता है, इसलिए भाषा-उत्पत्ति-विषयक वादों में इसे अलग मानना ठीक नहीं।

भाषा-उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त—इस वाद के समर्थकों में डार्विन और हेकेल का नाम प्रसिद्ध है। इनके मत के अनुसार सृष्टि के प्रत्येक तत्त्व का क्रमशः विकास हुआ है। उनका मत है कि मानव-जाति की विकासात्मक उन्नति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिस प्रकार मनुष्य ने अपनी वैयक्तिक तथा सामाजिक आवश्यकतानुसार अपने भोजन, वस्त्र, घर-निर्माण, पेशे, धर्म-भावना आदि में उन्नति की उसी प्रकार भाषा में भी। पृथ्वी पर जिस प्रकार योन्यन्तर परिणाम से, छोटे फूल पौधों से क्रमशः बड़े फूल-पौधे तथा वृक्ष उत्पन्न हुए उसी प्रकार छोटे जीवों से योन्यन्तर परिणाम द्वारा क्रमशः बड़े जीव बने। पृथ्वी पर जल उत्पन्न होने पर निर्जीव पदार्थों से ही क्रमशः सजीव पदार्थ बने। जीवन-तत्त्व बनने पर काई नामक पौधा पहले पैदा हुआ। जीवों में जलचारी जन्तु पहले पैदा हुआ। जलचारी से उभयचारी, उभयचारी से पङ्खवाले सरीसृपों की उत्पत्ति हुई। पंजवाले सरीसृपों से पक्षियों की उत्पत्ति हुई। बिना रीढ़ वाले जन्तुओं से क्रमशः रीढ़वाले जन्तुओं की सृष्टि हुई। रीढ़वाले जानवरों में दूध पिलानेवाले जीव सबसे पीछे के हैं और सबसे उन्नत श्रेणी के हैं। स्तन्य जीवों के तीन भेद हैं—अण्डज स्तन्य, अजरायुज पिंडज और जरायुज। ये तीनों सृष्टि के भिन्न-भिन्न युगों में उत्पन्न हुए। जरायुज जीवों की अनेक शाखाएँ हैं जिनमें चार प्रधान हैं—१—छेद्यदन्त जैसे—चूहा, बिल्ली, २—खुरपाद जैसे—बकरी, गाय, घोड़ा, भैंस, ३—मांसभक्षी जैसे—भेड़िया, बाघ, सिंह, हाथी, भालू आदि, ४—किंपुरुष। किंपुरुष शाखा के दो भेद हैं—बन्दर तथा बनमानुस। बनमानुस की उत्पत्ति बहुत पीछे की है। बनमानुस के भी दो भेद हैं—एक पूँछवाले बनमानुस, दूसरे बिना बिना पूँछवाले नराकार बनमानुस। बिना पूँछवाले बनमानुसों से ही आगे चलकर मनुष्य की उत्पत्ति हुई। बनमानुस में वे सब लक्षण मिलते हैं जो मनुष्य में पाये जाते हैं। बनमानुसों की रहन-सहन, स्वभाव, समझ, बच्चों के पालन-पोषण का ढंग आदि मनुष्य के से हैं। शरीर व्यापार विज्ञान ने मनुष्य तथा बनमानुसों में और बातों में भी सादृश्य दिखलाया है जो साधारण दृष्टि से देखने पर नहीं दिखाई पड़ता। हृत्पिण्ड की क्रिया में, स्तनों के विभाग में, दाम्पत्य-विधान में दोनों के स्त्री-पुरुष-धर्म मिलते हैं। बनमानुसों की बहुत सी जातियाँ हैं जिनकी मादा के गर्भाशय से उसी प्रकार सामयिक रक्तस्राव होता है जिस प्रकार मनुष्य की स्त्रियों को मासिक धर्म होता है। दोनों के दूध पिलाने का ढङ्ग भी एकसा है। सबसे बढ़कर ध्यान देने की बात यह है कि मिलान करने पर बनमानुसों की बोली मनुष्य की वर्णात्मक बोली के

विकास की आदिम अवस्था प्रतीत होती है। एक प्रकार का बनमानुस होता जो कुछ-कुछ मनुष्यों की तरह गाता और सुर निकालता है। इससे अनुमान लगाना सरल है कि मनुष्य की विचार-व्यञ्जक विशद वर्णात्मक वाणी उसके पूर्वज बनमानुसों की अपूर्ण बोली से क्रमशः धीरे-धीरे विकसित हुई है। जैसे नर की आकृति तथा शरीर-व्यापार क्रमशः विकसित होते-होते आधुनिक प्रकार का बना है उसी प्रकार उसकी भाषा-प्रवृत्ति तथा शक्ति भी विकसित होकर इस कोटि की बनी कि वह सैकड़ों क्या हजारों ध्वनियों को निकालने में समर्थ हो सका। जीव की उभयचारी स्थिति में ही बोलने की प्रवृत्ति का जन्म हो चुका था जैसे—मेढक में। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि मेढक एक ही प्रकार की ध्वनि निकालने में समर्थ होता है। उभयचारी से पञ्जवाले सरीसृपों की उत्पत्ति हुई जिनमें साँप, छिपकली, गिरगिट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये जीव भी एक विशेष प्रकार की ही ध्वनि बोल सकते हैं। पञ्जवाले सरीसृपों से पक्षियों की उत्पत्ति हुई जैसे—कौवा, कोकिल, शुक, सारिका। विविध ध्वनियों को उच्चारित करनेवाली शुक या सारिका की बोली इस तथ्य का प्रमाण है कि पक्षी कई प्रकार की ध्वनि बोल लेते हैं, अर्थात् इस स्थिति में आकर भाषा की शक्ति तथा प्रवृत्ति पहले से काफी विकसित हो चुकी थी। इसी कारण शुक मनुष्य की बोली के अनुकरण में बहुत दूर तक समर्थ हो जाता है। जरायुज योनि में आकर भाषा का पक्षि-योनि से अधिक विकास हुआ। जैसे कुत्ता अन्य चौपायों से अधिक प्रकार की बोली बोलने में समर्थ हो जाता है। वह हर्ष, शोक, क्रोध, आश्चर्य आदि के अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनि निकालने में सफल होता दिखाई पड़ता है।

शुक, सारिका, श्वान आदि जीवों के गले में दो-चार या दस प्रकार की ध्वनि निकालने की शक्ति वर्तमान थी किन्तु बनमानुस की स्थिति तक आते-आते उसके गले में अधिक लोच होने के कारण सैकड़ों ध्वनियों को निकालने की शक्ति उसमें आ गई थी। मनुष्य की स्थिति में आकर बोली की डिबिया गले में स्थित होने के कारण भाषा की शक्ति और प्रवृत्ति का और अधिक विकास हुआ और वह सैकड़ों क्या हजारों ध्वनियों के निकालने में तथा सजीव एवं निर्जीव पदार्थों से निःसृत ध्वनियों के अनुकरण में समर्थ हुआ। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वाणी की प्रवृत्ति तथा शक्ति मनुष्य-योनि के बहुत पूर्व की योनियों में ही उद्भूत हो चुकी थी। किन्तु वह Rudimentary, बहुत ही सामान्य कोटि की थी। उदाहरण के लिए मेढक नामक उभयचारी

योनि के जीव की बोली ली जा सकती है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि बोली की प्रवृत्ति तथा शक्ति का उद्भव तथा विकास सृष्टि-योनि के विकास के साथ साथ अपने आप हुआ है। जैसे मेढक बिना सिखाये टर्र-टर्र करता है; छोटे टिड्डे और झींगुर अपने आप चिर्र-मिर्र की ध्वनि निकाल लेते हैं। मक्खी, भौंरे, मच्छर बिना कुछ सिखाये भिनन्-भिनन् कर लेते हैं। हमारे चारों ओर जितने पंछी और चौपाये दिखाई पड़ते हैं वे सभी अपने-अपने गले से बिना सिखाये कुछ न कुछ बोल लेते हैं। तो फिर यह क्यों सोचा जाय कि बोली की डिबिया और गले की लोच लेकर मनुष्य बहुत दिनों तक गूँगा बना रहा होगा। अर्थात् मानवीय योनि धारण करने पर मनुष्य भी अपने आप बोलता रहा होगा। जैसे हमारा शुक बिना सिखाये भी बोलने की सामर्थ्य रखता है और कई प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण में समर्थ हो जाता है और वह कौवे की काँव-काँव सुनकर अनुकरण द्वारा काँव-काँव कर लेता है, कोकिल की कूँ कूँ ध्वनि का अनुकरण कर कूँ कूँ बोल लेता है और अपने मालिक की बोली सुन और सीखकर तरह-तरह की बोली बोल लेता है उसी प्रकार मनुष्य भी उपर्युक्त जीवों के समान तरह-तरह की बोली अपने आप बोलता रहा। इनको अर्थ प्रदान करने का श्रेय उसके प्रथम निर्मित समाज को है। पशु-पक्षियों में सर्वप्रथम आरम्भिक भाषा की उत्पत्ति तथा आदिम मानवीय भाषा की उत्पत्ति में केवल डिग्री का अन्तर है, प्रकार का नहीं।[1] कालान्तर में जाकर वह डिग्री का अन्तर प्रकारान्तर में परिणत हो गया। जैसे छः-सात माह के शिशु से उसके ओठों के मिलने या Lung के अभ्यास से माँ बा दा आदि ध्वनियाँ शुरू में अपने आप निकलती हैं किन्तु उसके प्रति भावुक व्यवहार करनेवाले उसके माँ-बाप द्वारा उन्हें तुरन्त ही अर्थ प्रदान कर दिया जाता है। अर्थात् भाषा मनुष्य का यदि एक वैयक्तिक गुण है तो वह केवल भाषा की प्रवृत्ति के रूप में उसके गले की विशिष्ट लोच तथा बनावट के रूप में। किन्तु भाषा सबसे अधिक मात्रा में मनुष्य का सामाजिक गुण है क्योंकि भाषा की उत्पत्ति तथा विकास

१. The difference between the beginning of language which we detect in animals and the first attempt at speech of early man is but a difference of degree; but differences of degree became in time differences of kind.
Introduction to the Science of Language By A. H. Sayce, P. 309,

व्यक्ति की मनःकल्पना का फल नहीं वरन् समाज के अनुमोदन तथा व्यवहार का फल है। यदि मनुष्य समाज के निर्माण में समर्थ न हुआ होता तो वह आज जैसी मानवीय भाषा की उत्पत्ति तथा विकास में सफल न हुआ होता। जैसे अफ्रीका के घने जङ्गलों में रहनेवाले बुशमैन जो आज तक समाज की रचना में समर्थ नहीं हुए हैं वे बनमानुस जैसी कुछ ध्वनियों तथा कतिपय क्लिक ध्वनियों के ही उच्चारण में समर्थ होते हैं। इस प्रकार भाषा-उत्पत्ति तथा विकास का प्रश्न मनुष्य-समाज की उत्पत्ति तथा विकास के साथ उलझा हुआ है। भाषा की सब प्रकार की उन्नति व्यक्तियों के द्वारा समाज की इकाई बनने पर ही सम्भव हुई। मनुष्य आदिकाल में एक से दो अर्थात् अपने लघुतम समाज की रचना में भावात्मक प्रेरणा से सफल हुआ, बौद्धिक प्रेरणा से नहीं। इसी प्रकार भाषा की उत्पत्ति का मूल कारण भावात्मक है, बौद्धिक नहीं। अर्थात् मानव-योनि तक आते-आते मनुष्य में भाषा की प्रवृत्ति, बीज तथा शक्ति विकसित कोटि की हो गई। इसी कारण वह बहुत-सी ध्वनियों के उच्चारण में समर्थ हुआ। अतएव उसकी आदिम मानवीय भाषा स्वान्तःसुखाय या स्वात्माभिव्यञ्जनाय पर्वत के निर्झर के समान अपने आप फूट पड़ी होगी। उसको अर्थगर्भित करने का श्रेय मनुष्य-समाज को है। अर्थात् किस ध्वनि से कौन अर्थ-बोध होना चाहिए इसे लोकेच्छा-शक्ति ही बनाती है। किसी वर्णात्मक शब्द का शब्दत्व इसी में है कि वह किसी न किसी समाज में किसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। उस शब्द के उस अर्थ के सम्बन्ध का हेतु वह समाज ही होता है। हम अपने विचारों को प्रकट करने के लिए जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं उनको हम समाज में दूसरों के व्यवहार से सीखते हैं। परस्पर भावात्मक व्यवहार करने की इच्छा ही आदिम भाषा की उत्पत्ति का मूल कारण है। बच्चा पहले अवश्य ही निरर्थक ध्वनियाँ निकालता है किन्तु वे निरर्थक ध्वनियाँ उसके समाज द्वारा अर्थात् उसके माता-पिता द्वारा जो उसके व्यवहार एवं संकेत समझने के लिए भावात्मक दृष्टि से इच्छुक हैं सार्थक बनकर शब्द का रूप धारण कर लेती हैं और भाषा का अङ्ग बन जाती हैं। जिस प्रकार छोटे बच्चे की पहली ध्वनि उसके किसी न किसी भाव की व्यञ्जक होती है, उसकी पहली वर्णात्मक बोली अपने मन की बात कहने के झोंक में खुलती है उसी प्रकार मानव की प्रथम बोली जिसे सार्थक भाषा की संज्ञा दी जा सकती है और जो निश्चय ही समाज की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न हुई, वह अवश्य ही मनोभावाभिव्यञ्जक कोटि की थी और वह आदिम मनोभावाभिव्यञ्जक भाषा, चाहे वह किसी दैनिक आवश्यकता

की पूर्ति के लिए निकली हो, अथवा अपने साथी के सहवास में प्रेमातिरेक रूप में निकली हो, चाहे श्रम-परिहरण के रूप में उद्भूत हुई हो, वह निश्चय ही मनुष्य के चेतन-प्रयास के फल-स्वरूप नहीं उत्पन्न हुई वरन् स्वाभाविक उन्मेष के रूप में प्रकट हुई और समाज द्वारा अर्थवती हुई और उसका विकास समाज के क्रमिक विकास के कारण धीरे-धीरे मनुष्य की सामाजिक आवश्यकता बढ़ने के साथ-साथ हुआ।

सृष्टि के आरम्भ में भूतल पर मनुष्यों के जितने गिरोह थे उतने ही प्रकार की भाषाएँ बनीं। आगे चलकर दो या तीन जातियों की भाषाएँ एक भाषा में परिणत हो गईं। उनमें से कुछ मृत हो गईं। जैसे बच्चा आरम्भ में स्वान्तःसुखाय कुछ सहज और स्वाभाविक ध्वनियाँ निकालता है, भूख-प्यास, दुःख-दर्द आदि के क्षणों में रोता तथा चिल्लाता है, अनुकूल तथा प्रतिकूल वेदनीय स्थितियों में उसके मुख से कुछ ध्वनियाँ सहजोद्गार के रूप में निकल पड़ती हैं। उन निरर्थक ध्वनियों को उसके माँ-बाप धीरे-धीरे अर्थ देने लगते हैं और वे ध्वनियाँ शब्द बनकर भाषा-अङ्ग बन जाती हैं उसी प्रकार मनुष्य-योनि की स्थिति में पहुँचने पर मनुष्य की सबसे आरम्भिक वाणी सहजोद्गार के रूप में मनोभावाभिव्यञ्जक कोटि की थी। जब सभी जानवर अपनी भावनाओं के अनुसार कुछ न कुछ ध्वनित करते हैं तो मनुष्य के सम्बन्ध में ऐसा मानना उचित न होगा कि वह मनुष्य की स्थिति में पहुँचने के पूर्व कुछ नहीं बोलता रहा। जब बच्चा तीन-चार मास का हो जाता है तो हर्षोद्रेक में कूँ कूँ, गूँ गूँ, चूँ चूँ आदि ध्वनियाँ निकालता तथा किलकारियाँ मारता है। इसी प्रकार आदिम मनुष्य भी स्वान्तःसुखाय कुछ गुनगुनाया होगा। इसी लिए भाषा की उत्पत्ति पर विचार करनेवाले भाषाशास्त्रियों का मत है कि मनुष्य की आदिम भाषा में भाषा की ध्वनि सम्पत्ति ही विशेष थी। सरल और कठिन सभी प्रकार की ध्वनियाँ उसमें थीं। धीरे-धीरे जैसे-जैसे भाषा का विकास हुआ कठिन ध्वनियाँ कम होती गईं। जिस प्रकार ६ या ७ मास के बच्चे की भाषा में गुनगुनाने की ध्वनियाँ अधिक रहती हैं तद्वत् भाषा-शास्त्रियों का मत है कि मनुष्य की आरम्भिक भाषा में सुर (गेयत्व) की प्रधानता थी। आदिवासियों की भाषा में भी भावुकता तथा पद्यात्मकता अधिक मिलती है। जब शिशु आठ या नव माह का होता है तो वह बहुरङ्गी खिलौनों तथा रङ्ग-बिरङ्गी वस्तुओं को देखकर उनकी ओर लपकने लगता है, हस्तादि संकेत प्रकट कर उनको पकड़ने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार आदिम काल में मनुष्य-जाति ने भाषा की अपूर्णता की घड़ी में इङ्गित से

भी काम लिया होगा। जैसे एक या डेढ़ साल का बच्चा संज्ञा शब्द का उच्चारण कर क्रिया का बोध संकेत द्वारा करता है और शब्द में ही वाक्य का भाव रहता है, तद्वत् आदिम काल में मानव भी शब्दों का प्रयोग वाक्यों के रूप में करता रहा होगा और हस्तादि के संकेतों से क्रिया, काल आदि का बोध करता रहा होगा। अमेरिका और अफ्रीका के आदिवासियों की भाषा में अब तक शब्द वाक्यरूप में प्रयुक्त होते हैं और भाषा की अपूर्णता के कारण वे आदिवासी संकेतों से पर्याप्त मात्रा में काम लेते हैं। इससे दूसरा निष्कर्ष यह भी निकलता है कि मनुष्य की आदिम भाषा में शब्द ही अधिक थे। शब्द ही वाक्य के बोधक थे। शब्दों से ही भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव प्रकट किये जाते थे। जब बच्चा नव या दस माह का हो जाता है तब वह 'बा-बा' 'मा-मा' इत्यादि ध्वनियाँ ओठों के अकारण मिल जाने से उच्चारित करने लगता है परन्तु माता-पिता उनको अपने लिए प्रत्युक्त समझकर उत्तर दे देते हैं और बच्चे से बोलने लगते हैं। इन ध्वनियों से प्रयुत्तर पाने के कारण बच्चा इन उपर्युक्त ध्वनियों को माता-पिता के लिए प्रयुक्त करने लगता है। इस प्रकार शिशु की निरर्थक दृष्टि से निकली ध्वनियों का अर्थ से आकस्मिक संसर्ग कर दिया जाता है और ये ध्वनियाँ विशिष्ट अर्थ की प्रतीक बनकर समाज में प्रचलित हो जाती हैं। जिस प्रकार बच्चे की भाषा का प्रारम्भ समाज के आकस्मिक संसर्ग तथा प्रत्युत्तर द्वारा होता है तद्वत् मनुष्य की आदिम भाषा का प्रारम्भ भी समाज के संसर्ग से सहजोद्‌गार के रूप में हुआ। उसकी सहज ध्वनियों को विशिष्ट अर्थ की प्रतीक समझने से हुआ। जब बच्चा डेढ़ या दो वर्ष का हो जाता है तो वह अनुकरणशील प्रवृत्ति रखने के कारण चेतन, अचेतन तथा मनुष्य प्राणियों से निःसृत ध्वनियों का अनुकरण करने में समर्थ होने लगता है। इसी प्रकार मनुष्य ने भी मनोभावाभिव्यञ्जक अथवा lung के प्राकृतिक अभ्यास के रूप में निकली ध्वनियों के पश्चात् चेतन, अचेतन पदार्थों तथा अपने पड़ोसी मनुष्य से निःसृत ध्वनियों के अनुकरण में सफलता पाई होगी। इसी प्रकार समाज की रचना हो जाने पर उसकी श्रमपरिहरणमूलक ध्वनियाँ भी अर्थवती होकर उसके शब्द-भाण्डार की वृद्धि में सहायक सिद्ध हुई होंगी। जब बच्चा लगभग दो वर्ष का होता है तब वह मूर्त पदार्थों तथा सम्बन्धित व्यक्तियों के नाम जानने की कोशिश करता है। जातिवाचक तथा भाववाचक शब्दों के नाम बहुत बाद में सीखता है। अविकसित आदिवासियों की भाषा में भी पदार्थवाचक शब्दों की ही अधिकता पाई जाती है। उनमें जातिवाचक

एवं गुणवाचक शब्दों की न्यूनता दिखाई पड़ती है। इससे अनुमान लगाना सरल है कि आदिम भाषा में पदार्थवाचक शब्दों का विकास पहले हुआ, भाववाचक एवं जातिवाचक शब्दों का बाद को। जब बच्चा दो से तीन वर्ष की अवस्था में पहुँचता है तब वह दो-दो तीन-तीन शब्दों का एक साथ प्रयोग करने लगता है जैसे 'अम्मा मिठाई, बजार' (अम्मा, बाजार से मिठाई मँगा दो), 'बाबू पैसा आम' (बाबू पैसा दे दो; आम लूँगा)। इसके अतिरिक्त वह अधूरे वाक्य बोलने लगता है जैसे—बाबू राजू मारा (बाबू! राजेन्द्र ने मुझे मारा है)। इस स्थिति में उसे कारक-चिह्न, काल, लिङ्ग, वचन, क्रिया-भेद आदि व्याकरणिक सम्बन्धों का ज्ञान नहीं होता। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि आदिम भाषा में व्याकरणिक सम्बन्धों का विकास नहीं हो सका था। अतः उसके वाक्यों में व्याकरण आदि के नियमों की व्यवस्था नहीं थी। धीरे-धीरे समाज की वृद्धि तथा उसकी आवश्यकताओं की बढ़ती के साथ-साथ जैसे-जैसे नाना प्रकार के विचारों की वृद्धि होती गई वैसे-वैसे भाषा का विकास होता गया। उसमें व्याकरणादि के नियमों की व्यवस्था बहुत बाद को हुई जब वह बहुत ही, सम्पन्न विकसित तथा शब्द-भाण्डार की दृष्टि से विस्तृत हो गई और उसमें साहित्य रचा जाने लगा तथा शिक्षित वर्ग में शिक्षा के माध्यम रूप में उसका प्रयोग होने लगा।

खण्डन—विकासवाद मानवीय भाषा के विकास पर सबसे अधिक प्रकाश डालता है उत्पत्ति पर कम। यह वाद भी मनुष्य की आदिम ध्वनि तथा उसके अर्थ के सम्बन्ध पर समुचित प्रकाश नहीं डालता। विकासवाद ने मनुष्य की आदिम भाषा की उत्पत्ति पर जिस तरह प्रकाश डाला है, और उसका जो आदिम स्वरूप बताया है उसका बहुत कुछ अंश प्रकृतिवाद द्वारा विवेचित हो चुका है। उपर्युक्त सभी वादों की विवेच्य सामग्री से यह स्पष्ट है कि विकासवाद मानवीय भाषा की उत्पत्ति पर ही नहीं वरन् भाषा की शक्ति तथा प्रवृत्ति के उद्भव तथा विकास पर सबसे अधिक वैज्ञानिक सामग्री प्रस्तुत करता है।

समन्वयवाद—स्वीट, श्लेगेल आदि भाषा-शास्त्रियों का कहना है कि सब वादों के मेल से भाषा बनी। जहाँ जैसा मनुष्य का वातावरण रहा वहाँ उससे काम लेकर भाषा बनाई गई। सबसे आरम्भ में मुख्यतया तीन प्रकार के शब्द थे। प्रथम प्रकार के शब्द मनोभावाभिव्यञ्जक कोटि के थे जिन्हें हम नैसर्गिक भी कह सकते हैं। मनुष्य की विशेष स्थिति में ये स्वतः मुँह से निकल पड़ते थे। दुःख या क्लेश में आह, ओह, हाय, उफ ध्वनियाँ, आश्चर्य या उद्वेग में

ओह, एँ, हर्षोल्लास में हो हो, अहा हा, घृणा की स्थिति में छिः, धिक्, भय की स्थिति में अरे, हाय, ओह जैसी ध्वनियाँ सहसा मुँह से निकल पड़ीं। इस प्रकार के शब्द सभी भाषाओं में पाये जाते हैं। ये मनुष्य के मुख से स्वतः निकले हैं; इसलिए नैसर्गिक कहे जाते हैं। जो जिस भाव की अभिव्यक्ति के अवसर पर निकला वह उसी के लिए भाषा में प्रयुक्त होने लगा। दूसरे प्रकार के आरम्भिक शब्द अनुकरणमूलक थे। मनुष्य में आरम्भ से ही अनुकरण की प्रवृत्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण कोटि की थी इसलिए उसने का का ध्वनि करनेवाले पक्षी को 'काक', 'कू कू' ध्वनि करनेवाले को 'ककू', 'घू घू' ध्वनि करनेवाले को 'घूक', 'भे भे' ध्वनि करनेवाले को 'भेक', सरसराते हुए निकल जानेवाले कीड़े को सर्प कहा। इस प्रकार चेतन अचेतन पदार्थों की ध्वनियों के अनुकरण से कुछ शब्द बन गये और चल पड़े। आगे चलकर इन शब्दों से और अनेक शब्दों का विकास हुआ।

तीसरे प्रकार के शब्द प्रतीकात्मक थे। ऐसे शब्द किसी ध्वनि के साथ होनेवाले काम के साथ जुड़ जाने से उसी अर्थ में आने लगे। बच्चा पाँच-छः माह की अवस्था में अपने दोनों ओठों को मिलाता है इससे म मा मामा की ध्वनि निकली। आरम्भ में माँ इस ध्वनि से आकर्षित होकर बच्चे के समीप आई। दो-चार बार ऐसा करने से बच्चे को आभास मिला कि माँ कहने से उसकी माँ आती है। फिर उसने माँ शब्द से माता को बुलाना शुरू किया और माँ ध्वनि माता की प्रतीक बन गई। धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा करके पीने से 'सिप' या 'सप' सी ध्वनि निकलती है अतः अंग्रेजी का 'सिप' शब्द उस क्रिया का प्रतीक बन गया। दाँत की ओर संकेत करते हुए मनुष्य ने खाने के लिए अ अ अत् अद् जैसी विवृत्ति ध्वनि निकाली वह अत् या अद् ध्वनि खाने की प्रतीक बन गई। इसी प्रकार मध्यम पुरुष की ओर अंगुलि-निर्देश के साथ इ उ ध्वनि निकली होगी। अतः वह मध्यम पुरुष की प्रतीक बन गई।

समन्वयवाद के समर्थक भाषा-शास्त्री उपर्युक्त त्रिविध रूपों में प्रारम्भिक शब्दकोश की कल्पना करते हैं। इन्हीं तीनों आधारों पर आगे चलकर और अधिक शब्द बने जिससे क्रमशः भाषा का भवन तैयार हुआ।

खण्डन—यदि किसी भाषा का प्राचीन से प्राचीन उपलब्ध शब्द-कोश देखा जाय तो उसका भी अधिकांश भाग ऐसा मिलता है जिसका समाधान उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तों से नहीं होता।

समन्वयवाद में भाषा की उत्पत्ति की व्याख्या भिन्न-भिन्न आधारों पर

की गई है परन्तु इनके मूल आधार की कोई व्याख्या नहीं है। इस वाद के अनुसार भी भाषोत्पत्ति के पूर्व मनुष्य मूक ठहरता है जो विकासवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध है; क्योंकि भाषा की प्रवृत्ति तथा शक्ति मनुष्य बनने की स्थिति में आने के बहुत पहले चेतन प्राणी को मिल चुकी थी। वनमानुष की स्थिति में ही वह पर्याप्त मात्रा में वर्णात्मक ध्वनियों को अर्जित करने में समर्थ हो चुका था। मनुष्य की तरह सुर अलापने तथा गाने में वह समर्थ हो चुका था। अन्तिम तर्क समन्वयवाद के विरुद्ध यह है कि वह भाषा के विभिन्न आधारों एवं विभिन्न निर्माणकारी तत्त्वों पर प्रकाश डालता है, भाषा-उत्पत्ति पर नहीं।

प्रकृतिवाद—इस मत के समर्थक हर्डर महोदय हैं। इसका सूत्र आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने इस प्रकार निरूपित किया है—"स्वाभाविकोन्मेषाद्वागुत्पत्तिः।" हर्डर का कहना है कि मनुष्य ने जान-बूझकर या समझौते से भाषा नहीं बनाई। वह आवश्यकता उपस्थित होने पर मनुष्य की प्रकृति से अपने-आप निकल पड़ी। जैसे समय पूरा होने पर गर्भ से बच्चा अपने आप निकल पड़ता है। आगे चलकर मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं के अनुसार इसका स्वाभाविक विकास हुआ और इसके विकास में भिन्न-भिन्न वादों—जैस्पर्सन ने निम्नांकित शब्दों में हर्डर के मत का समर्थन किया है—

"Language was not deliberately framed by man but sprang out of necessity from his inner most nature, "The origin growth and development of language".

अर्थात् मनुष्य ने विचारपूर्वक भाषा का निर्माण नहीं किया; परन्तु उसकी आवश्यकता के फलस्वरूप उसके चरम आन्तरिक स्वभाव से वह निकल पड़ी। मनुष्य भाषा का सहज एवं स्वाभाविक ढंग से अर्जन उसी प्रकार से करता है जिस प्रकार पक्षी सहज ढंग से उड़ना सीखता है। आधुनिक भारतीय ऋषि स्वामी शंकरानन्द ने भी भाषा की उत्पत्ति के विषय में अपना मत कुछ इसी प्रकार से व्यक्त किया है। उसे उन्हीं के शब्दों में यहाँ रख रहा हूँ—

The earliest sounds were probably more reflex, involuntary and independent of will, produced under the impulse of emotion like blinking of eyes. They were originally the expression of emotions, but emotions very under different environment and circumstances and even the mode of expressing emotions varies

in corrobrations with the depth of emotions." मनुष्य की आदिम वाणी संभवतः चेतन प्रयास से नहीं बनी। भावावेग की स्थिति में पलकों के गिरने के समान उत्पन्न हुई। उसका स्वाभाविक ढंग से उन्मेष हुआ। मनुष्य की आदिम वाणी भिन्न-भिन्न देशों के भूभागों में वातावरण तथा परिस्थिति की भिन्नता के अनुसार भावों की भिन्नता होने से भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुई। फलतः भिन्न-भिन्न भूभागों में भिन्न-भिन्न भाषा-परिवारों का जन्म हुआ। इस बात की प्रामाणिकता बच्चे की वाणी के प्रथम प्रयत्न पर सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करने पर प्रकट हो जाती है। आदिम मनुष्य के समान बच्चा भी अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति, अपनी आवश्यकता प्रकट करने की वेगवती इच्छा तथा अपनी lung के प्राकृतिक अभ्यास के वशीभूत होकर अपनी प्रथम वाणी स्वाभाविक उन्मेष के रूप में प्रकट करता है। जब बच्चा तीन-चार मास का होता है तो अपनी प्रसन्नता की स्थिति में कूँ कूँ गूँ गूँ आदि ध्वनियाँ सहज में ही स्वाभाविक ढंग से निकालता है। हर्षोल्लास के क्षणों में किलकारियाँ मारता है। इसी प्रकार आदिम मनुष्य ने भी स्वान्तः-सुखाय गुनगुनाया होगा। जब बच्चा पाँच-छः मास का हो जाता है तो खिलौना, लाल कपड़ा, लाल कागज देखकर किलकारी मारकर कुछ गूँ-गाँ करते हुए उनकी ओर लपकने लगता है। जब बच्चा आठ-नौ मास का होता है तब उसके मुख से बाबा, दादा, मामा इत्यादि ओष्ठय ध्वनियाँ lungs के प्राकृतिक अभ्यास के वशीभूत होकर निकलने लगती हैं; परन्तु माता-पिता उनको अपने लिये प्रयुक्त समझकर उत्तर दे देते हैं और बच्चे से बोलने लगते हैं। धीरे-धीरे बच्चा इन ध्वनियों को माता-पिता से अनुकूल प्रत्युत्तर पाकर माता-पिता के लिए प्रयोग करने लगता है इस प्रकार ध्वनियों का अर्थ से आकस्मिक सम्बन्ध हो जाता है, और ये सार्थक होकर ध्वनि-संकेत बन जाती हैं। इस प्रकार बच्चे की भाषा का प्रारम्भ सहज एवं स्वाभाविक ढंग से तथा उसका विकास समाज में क्रमशः होता है। इसी प्रकार आदि मानव के मुख से क्रमशः सहज रूप में प्राकृतिक ढंग से निकली ध्वनियाँ समाज द्वारा सार्थक हुई होंगी और धीरे-धीरे वातावरण सम्बन्धी अन्य आवश्यकताओं के अनुसार उनका विकास हुआ होगा। जब बच्चा डेढ़-दो वर्ष का हो जाता है तो वह म्याऊँ-म्याऊँ, क-क, भौं-भौं, चूँ-चूँ, खों-खों, का-का इत्यादि अनुकरण-मूलक शब्दों को बिल्ली, कोकिल, कुत्ते, गौरैया या कौवा आदि के सहज अनुकरण से सीख लेता है। इसी प्रकार विस्मयादिबोधक अहा, ओहो, हा हा शब्द उसके मुख के विस्मय की घड़ियों में अनायास ही निकल पड़ते हैं और

उसके निकट के व्यक्ति उसको अर्थ प्रदान कर देते हैं। M. Taine ने अपनी ही लड़की की वाणी के उद्भव का निरीक्षण करके उसका विवरण निम्नांकित प्रकार से प्रस्तुत किया है। उसके निरीक्षण के अनुसार शरीर के अन्य अवयवों के समान ही उच्चारण या वाणी के अवयवों का विकास होता है। जैसे-जैसे वह अपनी आँखों तथा सिर को घुमाता है वैसे-वैसे ध्वनियाँ उसके मुख से निकलती हैं। साढ़े तीन मास की आयु में उसके मुख से रोने-चिल्लाने, हर्षोद्गार की ध्वनि से स्वर ही उद्गीरित होता था। वयःविकास के साथ धीरे-धीरे स्वर से व्यंजन भी जुड़ने लगे और उसकी हर्षोद्गार, रुदन आदि की ध्वनियाँ स्पष्ट होने लगीं। उसकी प्रथम स्पष्ट ध्वनि (Nen) निन स्वाभाविक रूप में ओठ चलाने से निकली थी। इस ध्वनि की आवृत्ति उसके मुख से कई बार हुई। दूसरा स्पष्ट शब्द जो उसके मुख से निकला वह (kraa) क्रौ था। इसके बाद पापा पापा (papa papa) ध्वनि निकली। उपर्युक्त ध्वनियाँ इस लड़की द्वारा स्वाभाविक ढंग से आविष्कृत हुई थीं। किसी के अनुकरण से उसने इनको नहीं सीखा था। धीरे-धीरे ये ध्वनियाँ आवृत्ति के कारण उसको याद हो गईं किन्तु अब तक उसने अपने द्वारा आविष्कृत किसी शब्द की ध्वनि को अर्थ प्रदान नहीं किया था। ग्यारह मास की उम्र के बाद उसने अपनी माँ की ओर देखते हुए मामा शब्द का अकस्मात् उच्चारण किया था। बारह मास की उम्र में एक चित्र देखते हुए बेबी शब्द उसके मुख से स्वाभाविक ढंग से निकला था। इसके पश्चात् छः सप्ताह के भीतर उसने स्वाभाविक ढंग से शब्दों के आविष्कार में पर्याप्त उन्नति की; और नव शब्दों का अर्थ सहित प्रयोग किया—वे थे papa (पापा) पिता के लिए, mama (मामा) माता के लिए, tete (टीटी) नर्स के लिए, oua oua (आवा) कुत्ते के लिए, koko (कोको) मुर्गे के बच्चे के लिए, dada (दादा) घोड़े के लिए, mia (मिया) बिल्ली के लिए, kaka (काका) किसी तरुण व्यक्ति के लिए, tem दो, देखो, लो के अर्थ में। सत्रहवें मास तक उसने बहुत से शब्दों को सीखा जिसमें एक शब्द hamm भी था जिसका प्रयोग उसने खाने के अर्थ में या मैं खाना चाहता हूँ के अर्थ में किया। hamm शब्द का उसने स्वयं आविष्कार स्वाभाविक ढंग से किया था।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि दूसरे जीवों झींगुर, टिड्डे, मक्खी, मच्छर, भौंरे, पक्षी, कुत्ते, बिल्ली, गाय, भैंस, बन्दर, घोड़े में जैसी बोली अपने आप स्वाभाविक ढङ्ग से उपजती है वैसे ही मनुष्य में भी उपजी।

चारों ओर हमें जितने कीट, पतङ्ग, पक्षी, पशु दिखाई पड़ते हैं वे सभी अपने-अपने गले से बिना सिखाए कुछ-न-कुछ बोलते हैं, फिर यह कैसे सम्भव है कि गले में इतनी लोच रखनेवाला प्राणी मनुष्य बहुत दिनों तक गूँगा रहा होगा। उसने भी अपने आप बोलना शुरू किया। प्रारम्भ में सिर आँख के हिलने-डुलने, जीभ के घुमाव-फिराव, गले के भीतर जिह्वा के भिन्न-भिन्न स्थानों के स्पर्श, जबड़े तथा ओठों के मिलने, दबने, सिकुड़ने, फैलने से उसने सहज में ही कई प्रकार की ध्वनियाँ निकालीं। फिर आस-पास के लोगों ने वातावरण, प्रसङ्ग, परिस्थिति के अनुसार उन्हें अर्थ प्रदान किया। अभी हाल में लखनऊ के अस्पताल में एक लड़का भेड़िए जैसा ही चारों ओर हाथ-पैर चलाता था, भेड़िए के समान ही चिल्लाता और गुर्राता था। बहुत दिन हुए मेदिनीपुर में भी एक पादरी को ऐसी ही एक लड़की भेड़िए की खोह से मिली थी। वह भी भेड़िए की तरह चिल्लाती गुर्राती थी।

तात्पर्य यह कि आदिम काल में मनुष्य से प्रतिकूल वातावरण में रोने की आवाज निकली होगी। अनुकूल स्थिति में हँसी की आवाज उद्भूत हुई होगी। चोटलगने पर वह कराहता एवं गुर्राता रहा होगा। सामने भयानक जानवर को देखकर घिघियाता रहा होगा। अपने बच्चे पर झपटनेवाले जीवों पर बिगड़कर हुंकारता एवं गुर्राता रहा होगा अर्थात् मनुष्य की पहली बोली भावावेग की स्थिति में सहज उन्मेष के रूप में स्वाभाविक ढङ्ग से निकली। Instinct is the root cause of his first speech. भाषा की यह प्रवृत्ति मनुष्य को पशु-स्थिति से ही प्राप्त हो गई थी। वनमानुष की स्थिति में पहुँचने पर उसके गले में बहुत लोच आ गई और वह बोलने की प्रवृत्ति पाने पर सैकड़ों ध्वनियों के निकालने में समर्थ हुआ। पशु के पास वाणी की सामान्य कोटि की प्रवृत्ति है। गले में लोच न होने के कारण वह दो ही चार प्रकार की ध्वनियाँ निकाल पाता है। मनुष्य में लोच होने के कारण सैकड़ों ध्वनियों को निकालने की समाई है। अब प्रश्न यह है कि मनुष्य में प्रथम भावावेग किस कोटि का रहा होगा। मनुष्य में वाणी उत्पन्न करनेवाला प्रथम भावावेग अनुकूल या प्रतिकूल वातावरण की तीव्रता से उत्पन्न हुआ होगा—अनुकूल वातावरण में अब वह चाहे अपनी साथिन स्त्री का प्रथम बार सम्पर्क पाकर या अनुकूल भोजन पाकर हर्ष के आवेग में बोल उठा हो अथवा चाहे प्रतिकूल वातावरण में भयानक जन्तु के आक्रमण से चिल्ला उठा हो।

मनोभावाभिव्यञ्जकवाद का क्षेत्र बहुत संकीर्ण है क्योंकि वह विस्मयादि-बोधक भावों को ही लेकर चलता है। प्रकृतिवाद सब प्रकार के भावावेगों को लेकर भाषा की उत्पत्ति पर विचार करता है। अनुकरणमूलकतावाद का सम्बन्ध मनुष्य की अनुकरणमूलक प्रवृत्ति से है। इस प्रकार अनुकरणमूलकता-वाद का समावेश भी प्रकृतिवाद के भीतर हो जाता है। इसी प्रकार अत्यधिक श्रम के समय श्वास-वेग बढ़ने पर श्वास-नलिकाओं के श्रम को दूर करने के लिए जो कुछ ध्वनियाँ अपने आप निकलती हैं उनका सम्बन्ध भी मनुष्य की प्रकृति से है। इस प्रकार श्रम परिहरणमूलकतावाद का सम्बन्ध भी मनुष्य की प्रकृति से स्थापित हो जाता है। समन्वयवाद में मनुष्य की प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाले भाषा-उत्पत्ति-सम्बन्धी विभिन्न वादों का समन्वय किया जाता है। विकासवाद में भाषा की प्रवृत्ति, शक्ति तथा उद्भव का सम्बन्ध मनुष्य की मूल प्रकृति तथा प्रवृत्ति से स्थापित कर उसकी प्रकृति के विकास के साथ भाषा के विकास का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। इस प्रकार विकासवाद की सामग्री का सम्बन्ध भी प्रकृतिवाद में प्रकारान्तर से जुड़ जाता है। अतएव भाषा उत्पत्ति की मूल समस्या हल करने में प्रकृतिवाद सबसे अधिक सहायक होता है।

भाषा की प्रकृति

प्रेषणीय प्रकृति—भाषा की परिभाषा तथा लक्षण-विवेचन के समय हम पढ़ चुके हैं कि भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में हम उसी भाषा का अध्ययन करते हैं जो ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा वक्ता के भाव तथा विचार को श्रोता तक सम्प्रेषित करने का अपेक्षाकृत एक पूर्ण साधन है। इस प्रकार भाषा की प्रकृति की दृष्टि से उसकी परिभाषा निम्न प्रकार से होगी। भाषा मनुष्य के विचारों या भावों के सम्प्रेषणार्थ व्यक्त ध्वनि-संकेतों की एक समष्टि है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि प्रयोजन की दृष्टि से भाषा की प्रकृति प्रेषणीय कोटि की होती है। भाषा की इस प्रकृति से यह स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान में सांकेतिक भाषा का अध्ययन नहीं होता, क्योंकि प्रेषणीयता की दृष्टि से वह विचाराभिव्यक्ति के लिए एक अपूर्ण साधन है। दूसरे सांकेतिक भाषा ध्वन्यात्मक भाषा की पूरक हो सकती है, किन्तु उसका स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रयोजन की दृष्टि से भाषा की प्रकृति प्रेषणीय कोटि की होती है।

भाषा की प्रकृति अपूर्ण कोटि की होती है—मनुष्य की तरह भाषा की प्रकृति भी अपूर्ण कोटि की होती है। प्रायः भाषा के दो स्वरूप होते हैं—एक प्राकृतिक और दूसरा कृत्रिम। एक सामान्य जनता की भाषा दूसरी शिष्ट या शिक्षित वर्ग की भाषा जिसका व्यवहार साहित्य तथा शिक्षा के माध्यम के रूप में होता है। इन दोनों रूपों में सदैव खींचा-तानी चलती रहती है और समय-समय पर प्रत्येक बोलचाल की भाषा साहित्यिक और पूर्व-साहित्यिक भाषा मृत और फिर बोलचाल की नई भाषा उत्पन्न होती रहती है। अतः भाषा विकास की दृष्टि से कभी पूर्ण नहीं होती। अर्थात् कोई निश्चित रूप से यह कभी नहीं बता सकता कि अमुक भाषा का अमुक रूप उसका अन्तिम स्वरूप है। यहाँ भाषा का प्रयोग जीवित भाषा के लिए हो रहा है। परिवर्तन और अस्थैर्य ही भाषा के जीवित होने के लक्षण हैं। पूर्णता और स्थिरता तो उसकी मृत्यु के लक्षण हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि विकासात्मक दृष्टि से भाषा की प्रकृति अपूर्ण कोटि की होती है।

परम्परागत प्रकृति—रूप की दृष्टि से भाषा की प्रकृति परम्परागत कोटि की होती है। अरस्तू के शब्दों में भाषा स्वीकृत परम्परा की एक विशिष्ट

प्रणाली है।[1] भाषा-विज्ञान के भीतर स्वीकृत भाषा की परिभाषा में परम्परागत तत्त्व अन्य तत्त्वों की अपेक्षा अधिक रहता है। हम भाषा की परिभाषावाले अध्याय में यह देख चुके हैं कि भाषा किसी विशिष्ट काल में किसी देश-विशेष की मनुष्य-जाति में उसके वागेन्द्रिय द्वारा अभिव्यक्त तथा उसके अन्य सदस्य की श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत वह परम्परागत तथा सर्वस्वीकृत सार्थक ध्वनि-समष्टि है जिसकी एक विशिष्ट ध्वनि-प्रणाली हो तथा जो रूप-साधना के योग्य हो। प्रत्येक भाषा में उसकी ध्वनियों, शब्दों, रूपों तथा अर्थों की मात्रा परम्परागत अधिक होती है। जैसे, हिन्दी की ध्वनियों में सबसे अधिक संख्या परम्परागत ध्वनियों की है, उसके तत्सम तथा तद्भव शब्द भी अधिकांश मात्रा में पुराने ही हैं। शब्दों में अर्थ-परिवर्तन की क्रिया सदा जारी रहने पर भी हिन्दी के शब्दों में पुराने अर्थों की मात्रा सर्वाधिक कोटि की मिलती है। आज की हिन्दी की रूप-रचना या वाक्यों की बनावट भी बहुत पुरानी है। अंग्रेजी भाषा के प्रभाव से हिन्दी की वाक्य-रचना में जो परिवर्तन हुआ है वह बहुत ही न्यून कोटि का है। अर्थात् बनावट की दृष्टि से भाषा में आनुवंशिक परम्परा सर्वाधिक मात्रा में रहती है जिसकी रचना पूर्वागत काल की होती है। भाषा की रूप-रचना में परिवर्तन भयानक संघर्ष के पश्चात् होता है।[2] भाषा का मुख्य उद्देश्य विचार-विनिमय कराना होता है। यदि नित्य प्रति भाषा में नवीनता बढ़ती जायगी तो पारस्परिक विचार-विनिमय में बहुत कठिनाई उपस्थित हो जायगी। यद्यपि भाषा-विकास के प्रवाह में प्रत्येक जीवित भाषा में परिवर्तन होता रहता है किन्तु उसका परम्परागत तत्त्व सदा उसके तत्कालीन परिवर्तित तत्त्व से बहुत अधिक मात्रा में रहता है। इसीलिए किसी व्यक्ति को अपने लिए नई भाषा नहीं बनानी पड़ती वरन् अपने पूर्वजों की ही भाषा सीखनी पड़ती है। इसलिए वह भाषा को उसी प्रकार प्राप्त करता है जिस प्रकार अन्य परम्परागत सम्पत्ति को। जिस प्रकार प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य पैतृक सम्पत्ति की अन्य वस्तुओं को बचाता है उसी प्रकार अपनी मातृ-भाषा को

---

1. Language is a system of recognised convention.
—Aristotle

2. The structure of language strongly tends to remain stable; and change takes place only after overcoming stout resistance even then except in vocabulary.
Foundation of language p. 7.

भी। भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् भाषा के आधार पर प्रान्तों का बँटवारा, हाईस्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में अविकसित प्रान्तीय भाषाओं का माध्यम स्वीकृत होना इसका प्रमाण है। अपनी परम्परागत मातृ-भाषा से साहचर्य-जन्य प्रेम होने के कारण उसके अनगढ़ रूप में भी उस भाषा के वक्ता को मिठास मिलती है। इसीलिए शिक्षा-दीक्षा, संस्कृति के संस्कार तथा विविध भाषाओं के परिज्ञान से भी उसकी मातृभाषा उससे दूर नहीं होती। इसी कारण बुन्देली भाषा-भाषी को हाँ की जगह 'हव' थे के स्थान पर 'हते' 'इधर, किधर, जिधर के स्थान पर क्रमशः, इतै, कितै, जितै आदि अनगढ़ रूपों को बोलते किसी प्रकार की लज्जा या शर्म का अनुभव नहीं होता। भाषा में सदा परिवर्तन जारी रहने पर भी परम्परा से प्राप्त भाषा उसके साथ लगी रहती है। इसीलिए बोलनेवालों के लहजे, लटके अलग-अलग ढंग के होते हैं। इसीलिए खड़ी बोली बोलते समय बिहारी, बंगाली, राजस्थानी, पंजाबी, दक्षिणी व्यक्तियों का लहजा, लटका अलग-अलग ढंग का होता है। इसी कारण पीछे से सुनकर हम जान जाते हैं कि यह बिहारी भाषा भाषी की हिन्दी है या बंगाली की। इसी प्रकार अमरीकी, फ्रांसीसी, रूसी, चीनी, जापानी, हिन्दुस्तानी की अंग्रेजी का उच्चारण भिन्न-भिन्न कोटि का होता है। सभी अपनी परम्परा के अनुसार उच्चारण करते हैं। भाषा अपने पुराने शब्दों के पुराने अर्थों के द्वारा किसी जाति की परम्परा को सुरक्षित करने में समर्थ होती है। उस शब्द के भिन्न-भिन्न कालों के भिन्न-भिन्न रूप तथा उनके भिन्न-भिन्न अर्थ उस जाति की भिन्न-भिन्न युगों की मानसिक स्थितियों को उसी प्रकार व्यक्त करते हैं जिस प्रकार चट्टानों के शिलाभव अवशेष पुराने समाज के विकास के स्तर को व्यक्त करते हैं।[1] इसी कारण ऐतिहासिक तथा

---

1. If the fragment of a fossil bone can tell us the history of the extinct world, so, too can the fragment of a word reveal to us the struggles of ancient societies and ideas and beliefs that have long since perised. It embodies all the past life and history of communities that speaks it, each phase in the development of its speakers is reflected in it as in a mirror, and its worn out words and forms are so many crystallized embodiment of dead aud bygone thought so many fossil relics, as it were of the past strata of social growth.

प्रागैतिहासिक भाषा के शब्दों के अध्ययन के आधार पर ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक संस्कृति की खोज भाषा-विज्ञान के अध्ययन में एक अलग स्वतंत्र शाखा मानी गई है। भारोपीय वर्ग की प्राचीनतम भाषाओं—संस्कृत, अवस्ता, ग्रीक, लैटिन, गाथिक के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा[1] मूल भारोपीय भाषा के शब्दों का पता लगाकर उनके अर्थों के द्वारा भाषा-वैज्ञानिक प्राचीनतम मूल भारोपीय संस्कृति के अन्वेषण का प्रयत्न करते हैं।

जैसे, भारोपीय वर्ग की कतिपय प्राचीनतम भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा मूल भारोपीय शब्दों का पता लगाकर उनके अर्थों द्वारा प्राचीनतम भारोपीय संस्कृति पर प्रकाश डाला गया है :—

---

[1] Words in fact are like the fossils of rocks. They embody the theught of knowledge of society that first coined tham and used them and if we can find out their primitive meaning by the aid of the comperative method, we shall know the character of the society that produced them and the degree of civilization it had attained.

(५) जेनोस् शब्द यह प्रमाणित करता है कि मूल आर्य लोगों का उनके प्राचीनतम निवासस्थान पर सामाजिक जीवन आरंभ हो गया था।

(६) पितृ, मातृ, भ्रातृ आदि पारिवारिक सम्बन्ध सूचक शब्द यह सिद्ध करते हैं कि प्राचीनतम आर्य लोगों का पारिवारिक जीवन उनके प्राचीनतम निवासस्थान पर आरंभ हो गया था।

(७) नावस् शब्द यह बताता है कि प्राचीनतम आर्य लोग नाविक जीवन से परिचित थे।

(८) मूल भाषा में अनुमित चतोम् शब्द यह प्रमाणित करता है कि प्राचीनतम आर्य लोग सौ तक गिनती जानते थे।

(९) मूल भाषा में अनुमित मेडु शब्द यह बताता है कि प्राचीनतम आर्यों के पास कोई न कोई पेय पदार्थ अवश्य रहा होगा।

भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रकृति—पक्ष तथा आधार की दृष्टि से भाषा की प्रकृति भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक कोटि की है। भाषा के भौतिक पक्ष का निर्माण ध्वनियाँ करती हैं। ध्वनि उत्पन्न करने तथा ध्वनि ग्रहण करने में शरीर के अवयव काम करते हैं। ध्वनियों के मुँह से निकलने के पश्चात् कान तक पहुँचने तथा ध्वनि-कम्पन एवं लहरों आदि के बनने में भौतिक तत्त्व काम करते हैं। यदि वक्ता की बात को श्रोता की श्रवणेन्द्रियाँ दोषपूर्ण होने के कारण उसके मस्तिष्क तक पहुँचाने में असमर्थ हों अथवा वक्ता के उच्चारणावयव दोषपूर्ण होने के कारण ऐसी ध्वनियों का उद्गीकरण करें जिसे श्रोता समझने में असमर्थ हो तब विचारों का सम्प्रेषण असंभव होकर भाषा के अस्तित्व का निर्माण ही नहीं कर सकता। इसलिए भाषापक्ष की दृष्टि से उसकी प्रकृति भौतिक कोटि की है।

भाषा की मानसिक या मनोवैज्ञानिक प्रकृति वक्ता तथा श्रोता के मानसिक पक्ष से स्पष्ट हो जाती है। यदि वक्ता ऐसी बात कह रहा है कि उसका अपूर्ण या अधूरा ज्ञान श्रोता को है अथवा यदि श्रोता वक्ता की बातों से विकर्षण रखता है तो वक्ता तथा श्रोता में ठीक प्रकार का विचार-विनिमय हो ही नहीं सकता चाहे भले ही वक्ता ठीक तरह से बोल रहा हो और श्रोता उसकी ओर कान दिये खड़ा हो। भाषा के मूल में विचार और भाव हैं और उनका सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। भाषा, विचारों और भावों का परिधान ही नहीं वरन् शरीर है। विचारों और भावों के नियम भाषा को भी शासित करते हैं। भाषा उत्पत्ति का सर्वप्रधान कारण मनोवैज्ञानिक है। भाषा-उत्पत्ति की प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक है। ध्वनि-परिवर्तन के आन्तरिक कारण मनोविज्ञान पर आधारित

हैं। अर्थ-परिवर्तन के विभिन्न भेदों—अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच, अर्थोत्कर्ष, अर्थापकर्ष की व्याख्या मनोविज्ञान के बिना हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार किसी भाषा का वाक्य-तत्त्व भी मनोविज्ञान पर प्रतिष्ठित रहता है[1] किसी व्यक्ति में किसी भाषा के वास्तविक ज्ञान का अर्थ उसके मन, अनुभूति, आत्मा का अंश बन जाना है। उस व्यक्ति में मानसिक विकास का अर्थ भाषा का विकास है। क्योंकि विचार के विकास के साथ-साथ भाषा का विकास होता है। विचार भाषा को जन्म देता है, उसे सार्थक और सफल बनाता है। भाषा के बिना विचार अव्यक्त, अस्पष्ट और अग्राह्य है और बिना विचार के भाषा निष्प्राण और निरर्थक है। विचार मानसिक वस्तु है और वाक्य उसका व्यक्त स्वरूप है। इस प्रकार आधार की दृष्टि से भाषा की प्रकृति मनोवैज्ञानिक होती है।

रूप से अरूप की ओर जाने की—जिस प्रकार की प्रकृति रूप से अरूप की ओर जाने की है उसी प्रकार भाषा की प्रकृति भी रूप से अरूप की ओर बढ़ने की है। यह तथ्य बच्चे की भाषा के विकास के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। बच्चा सर्वप्रथम वस्तुवाचक संज्ञा को सीखता है, तदनन्तर बहुत दिनों के बाद गुणवाचक या भाववाचक संज्ञाओं को जानने में समर्थ होता है। यह देखा गया है कि बच्चा अपने सबसे नजदीक की चीजों को सबसे पहले सीखता है। वह अपने माता-पिता, पानी, दूध, गाय, कुत्ता, फूल इत्यादि अपने वातावरण सम्बन्धी शब्दों को अनुकरण से सबसे पहले सीखता है। नव दस महीने का बच्चा फूल का उच्चारण सीख जाता है किन्तु फूल की सुन्दरता के बोधक शब्द को वह चार-पाँच वर्ष में सीखता है। किसी भी भाषा के विकासात्मक अध्ययन से भी यही तथ्य प्रमाणित होता है कि प्रत्येक भाषा की आरम्भिक अवस्था में व्यक्तिवाचक तथा जातिवाचक संज्ञाओं के विकास के पश्चात् गुणवाचक तथा भाववाचक संज्ञाओं का विकास हुआ। आदिवासियों की अविकसित भाषाओं में आज भी गुणवाचक तथा भाववाचक संज्ञाओं की न्यूनता दिखाई पड़ती है। भाषा उत्पत्ति विषयक विभिन्नवाद जैसे अनुकरणमूलकतावाद, विकासवाद आदि यह स्पष्ट सिद्ध करते हैं

---

1. Psychology is the foundation of two of the five great subdivisions of linguistics—syntax and semantics.

foundation of language p. 105.

कि मनुष्य सबसे पहले प्रकृति के प्रांगण में निवास करते हुए रूपवान् पदार्थों के नामकरण में समर्थ हुआ होगा। धीरे-धीरे सभ्यता तथा संस्कृति में विकास करने के पश्चात् उसने इन जंगली जानवरों, पशु-पक्षियों एवं निर्जीव पदार्थों से सम्बन्ध रखनेवाले विचारों एवं विशेषताओं का अध्ययन किया होगा और तब उनसे सम्बन्ध रखने वाले भाववाची एवं गुणवाची शब्दों के आविष्कार में वह समर्थ हुआ होगा।

सामाजिक— जिस प्रकार मनुष्य की प्रकृति वैयक्तिकता से सामाजिकता की ओर जाने की है तद्वत् मनुष्य द्वारा निर्मित भाषा की प्रवृत्ति भी अपने स्वाभाविक विकास के रूप में सदैव सामाजिक कोटि की रहती है। वह सामाजिक सीमा को संकुचित तभी करती है जब वह व्याकरण, राजनीति तथा धर्मनीति के बन्धनों में आबद्ध कर दी जाती है। भाषा उत्पत्ति के विविध वादों के विवेचन के अवसर पर हम देख चुके हैं कि मानवीय भाषा मानव-समाज के सर्वाधिक आरम्भिक निर्माण के साथ-साथ उत्पन्न हुई; उसकी आवश्यकता विकास एवं सभ्यतागत तथा सांस्कृतिक उन्नति के साथ-साथ विकसित हुई। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाषा आद्यन्त समाज की वस्तु है। उसका अर्जन समाज से होता है तथा उसका प्रयोग भी समाज में होता है तथा विकास भी समाज में होता है। यों अकेले कोई भी व्यक्ति भाषा के सहारे सोचता विचारता है। पर वह सोचना तथा विचारना समाज-निरपेक्ष नहीं वरन् समाज-सापेक्ष होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाषा पूर्णतः आदि से अन्त तक समाज से सम्बन्धित है इसलिए वह सामाजिक वस्तु है व्यक्तिगत नहीं। किसी एक व्यक्ति या कुछ लोगों द्वारा भषा नहीं बनाई जा सकती। अन्यथा हिन्दुस्तानी, स्पैरेण्टो, इन्तरलिंगुआ आदि कृत्रिम भाषाएँ जो एक व्यक्ति द्वारा या कई व्यक्तियों द्वारा बनाई गई समाज में अब तक प्रचलित हो गई होती। समाज में नये शब्द नई आवश्यकतावश गढ़े जाते हैं किन्तु जनसाधारण के व्यवहार में जो चल निकलते हैं वे ही भाषा में खपते हैं। समाज ही शब्द की ध्वनियों तथा अर्थों को परिवर्तित करता रहता है। कुछ शब्द या अर्थ प्रचलित होकर त्याज्य हो जाते हैं इसका कारण भी समाज ही है।

जनतन्त्रात्मक—भाषा की प्रकृति जनतन्त्रात्मक कोटि की होती है। जब तक कि किसी नये शब्द, रूप, अर्थ तथा मुहावरे को जनसाधारण स्वीकार नहीं करता तब तक उसे सीज़र जैसा स्वेच्छाचारी निरंकुश शासक तथा गांधी जैसा संसार का सर्वश्रेष्ठ महामानव या महात्मा भी उसे भाषा में

नहीं चला सकता। गांधी जी के लाख प्रयत्नों के बावजूद भी हिंदी के लिए हिंदुस्तानी शब्द नहीं चल सका। भाषा के सार्थक होने की पहली शर्त यह है कि उसे जनसाधारण द्वारा स्वीकृत होना चाहिए तथा जनता की मुहर उसपर लगनी चाहिए। स्पैरेण्टो, इंतरलिंगुआ आदि सरलतम कृत्रिम भाषाएँ सुविधा की दृष्टि से अत्यन्त सरल होने पर भी नहीं चल सकी क्योंकि जनता की मुहर उसपर नहीं लग सकी थी।

प्रतीकात्मक—भाषा प्रतीकों का समूह है इसलिए भाषा की प्रकृति प्रतीकात्मक कोटि की कही जाती है। इसके प्रतीक ध्वनि अवयवों से उत्पन्न ध्वनि अथवा ध्वनि-समूहों से बने होते हैं एवं विभिन्न वर्गों तथा आकारों में इस प्रकार सजाये हुए रहते हैं कि उनका एक संयुक्त एवं सुडौल आकार बन जाता है। इस प्रकार ध्वनि निर्मित ये प्रतीक ही भाषा का अस्तित्व खड़ा करते हैं। भाषा के सभी प्रतीक सार्थक होते हैं किन्तु इन प्रतीकों तथा इनसे बोधित वस्तुओं का सम्बन्ध लोकेच्छा से निर्मित होते हुए भी स्वच्छन्द कोटि का होता है। उदाहरणार्थ—गाय शब्द को लीजिए, गाय शब्द में ग्+अ+य्+अ ध्वनियाँ हैं किन्तु गाय वस्तु तथा इन ध्वनियों में कोई सम्बन्ध नहीं है। गाय शब्द की ध्वनि-समष्टि तथा उससे बोधित वस्तु का सम्बन्ध स्वच्छन्दवादी कोटि का है। गाय शब्द की ध्वनि-समष्टि का अर्थ गाय नामक वस्तु अत्यन्त प्राचीन काल में लोक द्वारा स्वीकृत हुआ और परम्परागत रूप में वह उसी प्रकार चला आ रहा है। इसी प्रकार पत्थर शब्द तथा उससे बोधित भौतिक वस्तु 'पाषाण' में कोई तार्किक या स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है। निष्कर्ष यह कि किसी भी भाषा के शब्द स्वच्छन्दवादी प्रतीक होते हैं। लोक-सम्मति द्वारा वे किसी विशिष्ट भौतिक पदार्थ, भाव या विचार के वाचक बनकर एक विशिष्ट जन-समुदाय में रूढ़ि या परम्परा रूप में प्रचलित हो जाते हैं।

स्वच्छन्दवादी प्रकृति—पद्धति की दृष्टि से भाषा की प्रकृति स्वच्छन्द-वादी कोटि की होती है। भाषा के प्रतीकों तथा उनसे बोधित वस्तुओं का सम्बन्ध स्वच्छन्द कोटि का होता है। बाद को समाज उसपर अपनी मुहर लगा देता है। मानव-जीवन सतत विकासशील है। इसी कारण भाषा भी सतत विकासशील ढंग की होती है। भाषा अपने सतत विकास में आगे बढ़ने के लिए ही स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति धारण करती है। भाषा की स्वच्छन्द प्रक्रिया में समीपवर्ती भाषाओं के नये शब्द, नये रूप, नये मुहावरे, नये अर्थ; यदि देश परतंत्र हुआ तो शासक जाति की भाषा की नई ध्वनियाँ, नये शब्द,

नये अर्थ; आकर या संस्कृति-भाषा के नये शब्द, नये अर्थ; विजातीय सम्पर्क के कारण अन्य विदेशी भाषाओं के नये शब्द नये अर्थ उसमें प्रविष्ट होते रहते हैं। प्रत्येक जीवित तथा गतिशील भाषा में नये-नये शब्द निर्मित करने का दूसरी भाषाओं के अच्छे शब्दों को ग्रहण करने का क्रम बराबर उसके बोलनेवालों द्वारा जारी रहता है। भाषा की स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति व्याकरण में जकड़े जाने से मरती है और वह भाषा बोल-चाल से दूर पड़कर मरने लगती है। ज्यों-ज्यों वह व्याकरण के नियमों द्वारा जकड़ दी जाती है त्यों-त्यों उसका रूप स्थिर या मृत हो जाता है। प्राकृत भाषाओं को जब-जब व्याकरण के फन्दे में बाँधकर गतिहीन बनाने का प्रयत्न किया गया तब-तब वे स्वच्छन्दवादी प्रकृति से च्युत हो गईं और वे जनता की बोली नहीं रहीं। जैसे प्राकृत, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट ज्यों ही शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्र में पहुँचकर व्याकरण के फंदे में कस दी गईं त्यों ही वे स्वच्छंदवादी प्रवृत्ति से च्युत हो गईं। जो बोलियाँ व्याकरण के चंगुल में बहुत कसी नहीं रहतीं वे अपना साज़ बराबर बेरोक-टोक बदलती रहती हैं। उनमें स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति बहुत अधिक मात्रा में रहती है। इसलिए ऐसी बोलियों के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि बस इस बोली का यही साँचा या यही रूप होगा।

भिन्नत्वं हि प्रकृतिः—स्वच्छंदवादी प्रकृति से ही भाषा की दूसरी प्रकृति स्वतंत्र व्यक्तित्व ढालने की उत्पन्न होती है। आकर भाषा की एकता होने पर भी बोलियों की प्रवृत्ति बोलनेवालों के निवासस्थानों की प्राकृतिक दशा, जलवायु, उपज, सामाजिक आवश्यकता, विजातीय सम्पर्क की भिन्नता के कारण अलग-अलग ढंग की हो जाती है। उदाहरणार्थ, बुन्देली, ब्रज तथा खड़ी बोली पश्चिमी हिंदी की बोलियाँ हैं किंतु इनका व्यक्तित्व उन-उन प्रान्तों की भिन्न-भिन्न प्राकृतिक दशा, भिन्न-भिन्न उपज, भिन्न-भिन्न सामाजिक आवश्यकता, भिन्न-भिन्न सम्पर्क आदि के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार का हो गया है। हम भाषा की परिभाषा में पढ़ चुके हैं कि प्रत्येक भाषा की एक विशिष्ट ध्वनि-प्रणाली तथा रूप-प्रणाली होती है। इसलिए उनका व्यक्तित्व तथा प्रकृति भिन्न-भिन्न कोटि की हो जाती है। छानबीन करने पर पता चलता है कि संसार की भिन्न-भिन्न बोलियाँ विश्व के इने-गिने परिवारों की बोलियाँ हैं। इसलिए उनकी प्रकृति अलग-अलग कोटि की है। एक भाषा अपने बोलनेवालों के साथ जब किसी दूर देश या प्रान्त में जाती है तो कियत् काल में वहाँ की अन्य जातियों की भाषा के सम्पर्क, वहाँ की प्राकृतिक दशा, जलवायु,

उपज, सामाजिक आवश्यकताओं आदि की भिन्नता के कारण अपनी प्रकृति एवं व्यक्तित्व अलग-अलग ढंग का बना लेती हैं। जैसे ग्वालियरी या बुंदेली पहले ब्रजभाषा से अभिन्न थीं। किंतु इन दोनों ने भिन्न भाषा-सम्पर्क, भिन्न वातावरण तथा समय के हेर-फेर से अपना व्यक्तित्व अलग-अलग ढङ्ग का बना लिया है।

विकेन्द्रीमुखी प्रवृत्ति–भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं प्रकृति विकेन्द्रीमुखी कोटि की है, केन्द्रीमुखी कोटि की नहीं।[१] उदाहरणार्थ, हमारी भारोपीय मूल भाषा अपने मूल भाषियों के आदिम सम्पर्क से हटने पर केल्टिक, ट्यूटानिक, इटालिक, ग्रीक, हित्ताइट, तोखारिश, अर्मीनियन, अल्बैनियन, लेटोस्लोवाहिक, काकेशस इराडोइरानियन में परिणत हो गई। आर्यों के भारत में आने के पश्चात् वैदिक प्राकृत से भिन्न-भिन्न प्राकृतें उत्पन्न हुईं। एक विभाषा भी भिन्न-भिन्न बोलियों का निर्माण कर अपनी शक्ति को विकेंद्रित कर देती है। जैसे बुन्देलखण्डी ने पँवारी, लोधान्ती, राठौरी, खटोला, बनाफरी, कुंड्री, तिरहारी, निभट्टा आदि बोलियों को उत्पन्न कर अपनी शक्ति को विकेन्द्रित कर दिया है। हिन्दी, राजभाषा या राष्ट्रभाषा घोषित होकर भी अन्य विभाषाओं को अपने-अपने प्रान्तों में पनपने का अवसर देकर विकेन्द्रमुखी प्रवृत्ति का परिचय दे रही है।

भाषा की प्रकृति सदैव सीधेपन की ओर ढलने की है—मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह कम से कम परिश्रम से अधिकाधिक लाभ उठाना चाहता है। इसी प्रयत्नलाघव की प्रक्रिया में वह राजेन्द्रकुमार को राजेन्द्र फिर राजू, फिर रज्जू कहता है। यह सरलता तो ध्वनि सम्बन्धी है, अर्थ की दृष्टि से भी वह प्रयत्न-लाघव की प्रक्रिया को अलंकारों के प्रयोग के रूप में प्रकट करता है। वह सिंह है, राजू बैल है, श्याम बृहस्पति है आदि उक्तियों में हम कितने थोड़े तथा सरल शब्दों में अपनी अधिक से अधिक अभिव्यक्ति करते हैं।

---

1. The natural tendency of a language is centrifugal not centripetal and this means that language tends to break up into local varities whenever contacts are lost and political unity ceases to exert its pull towards the centre.

The story of language—by Merio Pie, p.48

सर्वसाधारण की बोलियाँ सदैव उलझन एवं अटपटेपन को छोड़कर सरलता की ओर जाती रहती हैं। जनता की भाषा में ध्वनि सम्बन्धी विभिन्न परिवर्तन, जैसे वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णलोप, वर्णविकार आदि उसे कठिनता से सरलता की ओर ले जाने के लिए उत्पन्न होते हैं। प्राकृत भाषाएँ जब कभी शिक्षित अथवा संस्कृत वर्ग के हाथ में पड़ती हैं तो वे साहित्यिक होकर जटिल हो जाती हैं। जटिलता आते ही साधारण जनता से वे दूर हो जाती हैं। फिर जनता अपने लिए सरल भाषा बना लेती है। वैदिक प्राकृत में व्याकरण की जटिलता का ज्यों ही प्रवेश हुआ त्यों ही जनता ने उसे छोड़ दिया। उसने अपने लिए दूसरी भाषा का निर्माण कर लिया, जो प्राकृत संस्कृत कहलाती है। आगे चलकर जब यह भी पाणिनि के व्याकरण से जटिल कर दी गई तब जनता ने इसे भी छोड़ दिया। तब तीसरी प्राकृत का जन्म हुआ जो पालि के नाम से अभिहित है। पालि भी जब साहित्यिक भाषा बनकर कठिन हो गई तो फिर नई प्राकृत का जन्म जनता के भीतर हुआ। जब वह भी साहित्यिकों द्वारा कठिन बना दी गई तब अपभ्रंश जनता की बोली के रूप में आई। वह भी जब साहित्यिकों तथा शिक्षितों के हाथ में पड़कर कठिन हो गई तब आधुनिक प्रांतीय भाषाओं का जन्म जन-भाषाओं के रूप में हुआ। कुछ लोग कहते हैं कि आज की हिंदी कठिनता की ओर जा रही है पर वस्तुतः यह बात नहीं है। हिंदी का साहित्यिक रूप कठिन हो रहा है या इसे दूसरे रूप में यों कहा जाय कि साहित्यिक हिंदी कठिन हो रही है, जनभाषा से दूर पड़ रही है किंतु हिंदी भाषा का जीवित स्वरूप जो जनसाधारण में प्रचलित है वह कठिनता से सरलता की ओर ढल रहा है। कुछ विद्वान् लोग सड़क को रथ्या, घड़ी को घटिका यंत्र, रूमाल को मुखमार्जन वस्त्र-खण्ड, स्टेशन को धूम्र-शकट-विश्रामस्थल कह लें पर सर्व-साधारण की जीवित बोली में उनका रूप सड़क या सरक, घड़ी, रूमाल, टेसन या टीसन ही चलेगा। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भाषाएँ सदा कठिनता से सीधेपन की ओर ही ढलती रहती हैं। धीरे-धीरे अपनी जटिलता, उलझन, अटपटेपन को छोड़कर सुलझती रहती हैं। पढ़े-लिखे, शिक्षित या सुसंस्कृत लोग अपने मन की लहर में अथवा अपने अहं के प्रदर्शन के लिए भाषा को कठिन बनाते रहते हैं। पर यह भाषा की प्रकृति नहीं विकृति है। यह तो व्यक्तिविशेष या वर्गविशेष की एक विशिष्ट भावना की अभिव्यक्ति है, भाषा की प्रकृति की अभिव्यक्ति नहीं।

जैसे, हिन्दी बोलनेवाला साधारण आदमी यदि यह कहता है कि साँझ

हो गई, पश्चिम में सूरज की लाली छा गई, चिड़ियाँ चहचहाती हुई अपने घोसलों की ओर जाने लगीं, तो इस प्रकार की अभिव्यक्ति में भाषा की प्रकृति झलकती है। इसी तथ्य को हिन्दी का विद्वान् इस रूप में कहेगा—सायंकाल का समय सन्निकट है, भगवान् भास्कर अस्ताचल पर चले गये; उनकी अरुणाभा पश्चिम में व्याप्त हो गई। पक्षीगण अपने शावकों की चिन्ता से विह्वल हो अँपने-अपने नीड़ों को लौटने लगे। इसी बात को हिंदी का कवि इस प्रकार कह सकता है—सूर्य दिन भर के अपने अनवरत परिश्रम से परिश्रांत होकर निशा-अंक में विश्राम हेतु अंतर्हित हो गया। पश्चिम की लाली निशा-नायिका के शृङ्गारात्मक अनुभावों की अभिव्यक्ति है और पक्षीगण उसके शृङ्गारोत्सव में मानो कलरव करते हुए आनंद मना रहे हैं। उपर्युक्त अंतिम दो वाक्यों में बोली की झलक नहीं झलकती वरन् वक्ताओं की प्रकृति झलकती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भाषायें सदा सीधेपन की ओर ढलती रहती हैं। धीरे-धीरे अपनी जटिलता, उलझन, अटपटापन छोड़कर सुलझती रहती हैं। पढ़े-लिखे शिक्षित सुसंस्कृत लोग अपने मन की लहर में अथवा अपने अहं की अभिव्यक्ति के लिए भाषा को कठिन बनाते रहते हैं। पर यह भाषा की प्रकृति नहीं विकृति है। यह तो व्यक्तिविशेष या समूहविशेष की एक विशिष्ट भावना की अभिव्यक्ति है, भाषा की प्रकृति की अभिव्यक्ति नहीं। वैदिक प्राकृत से संस्कृत प्राकृत सरल, उससे सरल पालि फिर प्राकृत अपभ्रंश तथा आधुनिक भाषायें उनसे भी सरलतर होती गईं। जैसे ऋग्वेद का पहला सूक्त देखिए—'अग्निमीड़े पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्'। उपर्युक्त सूक्त के अग्नि, पुरोहितम्, यज्ञ रत्न के रूप संस्कृत भाषा में ज्यों के त्यों बने हैं, पर जनता की भाषा में इनका रूप सरल से सरलतर होता गया है। जैसे अग्नि का अग्गि, आग, आगि, अगिया रूप क्रमशः सरलतर होते गये हैं। इसी प्रकार पुरोहितम् का आधुनिक भाषाओं में प्रचलित रूप उपरोहित या पुरोहित पहले से सरल है। आधुनिक भाषाओं में प्रचलित यज्ञ के विभिन्न रूप—यग्य, जग्य, जंग्ग, जग्यँ, जाग रूप पहले से सरल या सरलतर हो गये हैं। रत्न से निकला रतन रूप, जो आज की जन-भाषा में प्रचलित है, निश्चय ही पहले से सरल है।

प्रकृति—मनुष्य की प्रकृति परिवर्तनशील है, अतः उसके द्वारा निर्मित भाषा भी परिवर्तनशील होती है। भाषा की प्रकृति परिवर्तनशील कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उसमें कुछ स्थिर तत्त्व होते ही नहीं। प्रत्येक भाषा के

मूल तत्त्व—ध्वनि, शब्द, वाक्य तथा अर्थ तत्त्व अधिकांश मात्रा में स्थिर रहते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत भाषा का ध्वनि समूह अधिकांश मात्रा में हिंदी में वर्तमान है। इसी प्रकार हिंदी के तत्सम शब्द संस्कृत के ही हैं। आज हिंदी की पारिभाषिक शब्दावली भी संस्कृत शब्दों के आधार पर ही अधिकांश मात्रा में निर्भर की जा रही है। हिंदी के अर्थ तत्त्वों में परिवर्तन होने पर भी उसका अधिकांश भाग संस्कृत पर ही आश्रित है। हाँ, वाक्य तत्त्व में कुछ परिवर्तन हुआ है किंतु उसमें भी संस्कृत भाषा का वाक्य तत्त्व पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। व्याकरण से अनुशासित होने पर भाषा का साँचा बहुत पक्का हो जाता है और वह स्थिर रूप धारण कर लेता है। संस्कृत भाषा का साँचा पाणिनी के व्याकरण से बहुत कुछ पक्का हो गया; इसीलिए उसमें स्थिरता या गतिहीनता का समावेश हो गया। जंगली लोगों की बोली, जो प्रायः झुण्ड बनाकर सबसे अलग रहते हैं, बहुत कम परिवर्तित होती है। जैसे भारत की कोल, भील तथा गोंड़ जैसी आदिवासियों की भाषा में बहुत कम परिवर्तन इसी कारण हुआ है कि वे अभी तक जंगलों में रहते हैं तथा लोगों से कम मिलते हैं। अर्थात् जिस जाति को जितना अधिक अवसर अपने वातावरण तथा सम्पर्क को बदलने का मिलता है, उसकी भाषा उतनी ही अधिक परिवर्तित होती है।

किसी भी देश की भाषा में अधिक परिवर्तन प्रायः उन परिस्थितियों से उत्पन्न होता है जिनपर व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता। ये परिस्थितियाँ सम्पूर्ण जाति को प्रभावित करती हैं। हिन्दी को आज जो राष्ट्रभाषा का पद मिला है, और जो उसमें परिवर्तन उपस्थित किये जा रहे हैं तथा जिन परिवर्तनों की संभावना है, वे ऐसे परिवर्तन नहीं हैं जिनपर किसी एक व्यक्ति का अधिकार हो। आज हम सम्पूर्ण राज्य को एक इकाई में बाँधना चाहते हैं, इसके लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी भाषा सभी प्रान्तों में राज्य-भाषा के रूप में स्वीकृत हो। सभी प्रान्तों के निवासी अपने अन्तर्प्रान्तीय तथा केंद्रीय कार्यों में इसका प्रयोग करें। इस अनिवार्य स्थिति में उत्तर भारत के ही नहीं दक्षिणी भाषाओं के भी चलते मुहावरे तथा शब्द प्रयुक्त होंगे। इससे हिंदी के ध्वनि, शब्द तथा अर्थ-तत्त्वों में अनेक प्रकार के परि-वर्तन अनिवार्य रूप से होंगे। इसी प्रकार हिंदी का व्याकरण भी प्रांतीय भाषाओं के व्याकरण से यत्र-तत्र प्रभावित होगा।

जिस भाषा में प्रगतिशीलता का लक्षण नहीं रहता, वह मृत कही जाती है। संस्कृत भाषा को मृत भाषा इसी अर्थ में कहते हैं। यह भाषा की

प्रकृति नहीं, विकृति है। भाषा में यह विकृति व्याकरणादि के बंधनों से ही आती है। भाषा का स्वाभाविक स्वरूप जनता की ही बोली में दिखाई पड़ता है। जनता की बोली सदैव प्रगतिशील रहती है, इसीलिए उसमें सबसे अधिक जीवन रहता है।

शक्तिशाली भाषा का सबसे प्रधान लक्षण यही है कि उसकी पाचन-शक्ति बहुत विस्तृत कोटि की हो। भाषा की पाचन-शक्ति के विस्तृत होने का अर्थ है—दूसरी भाषा की ध्वनियों, शब्दों, मुहावरों एवं अर्थ तत्त्वों को पचाने की शक्ति। जिस भाषा में पाचन-शक्ति की यह विशेषता जितनी अधिक होगी, उसका व्याकरण भी उतना ही अधिक प्रगतिशील होगा। उदाहरणार्थ, प्राकृत भाषा का उदाहरण लिया जा सकता है, जो वैदिक युग से आज तक बराबर परिवर्तित होता चला आता है। यदि हिंदी भाषा में गतिशीलता की इतनी अधिक शक्ति न होती तो वह एक जनपदीय बोली से साहित्यिक भाषा तथा उससे एक राज्य भाषा का सिंहासन प्राप्त न करती और न राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने का स्वप्न देखती।

जिस भाषा में परिवर्तनशीलता की प्रकृति जितनी अधिक होगी, उसमें उतनी ही अधिक प्रगतिशीलता आयेगी। फलतः उसकी जीवंत शक्ति भी उतनी अधिक बलवती होगी; उसमें भाषा-सम्बन्धी जीवन की व्यापकता एवं कलात्मकता के तत्त्व उतनी ही मात्रा में आयेंगे।

भाषा की प्रगतिशीलता ही उसके बोलनेवालों को विकास के पथ पर ले जाने में समर्थ होती है, उसकी मानसिक शक्ति का अधिकाधिक विकास करती है, उसकी अनुभूतियों में विविधता लाती है तथा उसके विचार करने के ढंग को कलात्मक बनाती है। किसी भाषा में आदर्शात्मक प्रवृत्ति, राष्ट्रीयता एवं अंतर्राष्ट्रीयता लाने का श्रेय इसी प्रवृत्ति को है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामान्य भाषा की गति सदा परिवर्तन की ओर रहती है। अर्जन उसका स्वभाव है, पाचन-शक्ति उसका धर्म। भाषा और मनुष्य में नैसर्गिक सम्बंध है। मनुष्य की प्रकृति में विकास अवश्यम्भावी है अतः भाषा में भी विकास अवश्यम्भावी है। भाषा के विकास का एक रूप है वृद्धि, आगम तो दूसरा है लोप या विकार। किसी भी जीवंत भाषा में नई-नई ध्वनियाँ, नये-नये रूप, नये-नये अर्थ वक्ता के जीवन में बाह्य तथा अंतः कारणों से बराबर आते रहते हैं। साथ ही उन्हीं कारणों से वह पुरानी ध्वनियों, रूपों तथा अर्थों को छोड़ती जाती है। प्राकृत भाषा की ध्वनियों, शब्दों, अर्थों में परिवर्तन इन्हीं उपर्युक्त कारणों से बराबर होता आया है।

भाषा की प्रकृति मनुष्य के समान सदा आगे बढ़ने की है। वैदिक प्राकृत, वैदिक संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश तथा आधुनिक प्रांतीय भाषायें भाषा की परिवर्तन सम्बंधी प्रकृति के कारण ही उत्पन्न हुईं। इससे भाषा अपनी गति से सदा आगे बढ़ी है। विद्वत् या शिक्षित वर्ग तो भाषा के संस्कार में लगता है; जब तक वह संस्कार पूर्ण होता है तब तक नैसर्गिक भाषायें अप्रतिहत गति से अविच्छिन्न रूप में बहुत आगे बढ़ जाती हैं। इस प्रकार संस्कार पाई हुई भाषा तथा नैसर्गिक भाषा में बहुत परिवर्तन या अंतर हो जाता है। जैसे संस्कार की हुई संस्कृत से नैसर्गिक प्राकृत भाषाओं में बहुत परिवर्तन पाया जाता है। मेरठी तथा संस्कार की हुई आज की हिन्दी में बहुत अंतर उपस्थित हो गया है।

भाषा मनुष्य की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षणिक तथा व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुसार बदलती रहती है। भाषा अधिकांश मात्रा में समाज की उपज होने के कारण समाज के परिवर्तन तथा विकास के साथ सदा बदलती रहती है। शिकारी युग के समाज से पशु-पालन युग के समाज में वृद्धि हुई, इसलिए उक्त युग के समाज की विभिन्न आवश्यकताओं धारणाओं में परिवर्तन उपस्थित होने से उसको व्यक्त करनेवाली भाषा में भी अंतर उपस्थित हुआ। पशुपालन युग से कृषि-युग में अंतर उपस्थित होने से उस युग की भाषा में भी अंतर प्रगट हुआ। स्वतंत्र भारत की सामाजिक आवश्यकता परतंत्र भारत की सामाजिक आवश्यकता से भिन्न है। अर्थात् आज की सामाजिक आवश्यकता स्वतंत्र भारत के समाज को एक इकाई में बाँधने की है, राष्ट्रीय भावनाओं के अधिकाधिक संचार की है, इसलिए अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी देश की राज-भाषा घोषित की गई है।

एक व्यक्ति के सांस्कृतिक जीवन में अंतर उपस्थित होने से भाषा बदल जाती है। बच्चे का सांस्कृतिक जीवन-स्तर शारीरिक तथा मानसिक अवस्था के बढ़ने के साथ-साथ जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे उसकी भाषा में परिवर्तन उपस्थित होता जाता है। असंस्कृत व्यक्ति के मुख से गाली-गलौज, अपशब्द आदि स्वाभाविक रूप से निकलते हैं। गाँव के किसान, गाड़ीवान आदि अपने बैलों को माँ-बहिन की गाली देते रहते हैं। शिक्षित अथवा साहित्यिक होने पर भी यदि किसी व्यक्ति का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा नहीं हुआ तो वह प्रायः अशोभनीय, अश्रवणीय बातें अपने मुख से निकालता रहता है। क्रुद्ध होना असंस्कृत होने का लक्षण है। सर्वसाधारण के जीवन में प्रायः यह देखा जाता

है कि उसके क्रोध-काल की भाषा उसके अन्य क्षणों के जीवन की भाषा से भिन्न कोटि की होती है। एक व्यक्ति के सांस्कृतिक सम्पर्कों में जितने प्रकार का अंतर होता है उतने प्रकार की भाषा उसके मुख से निकलती है। मैं जब अपने देहाती भाइयों के बीच पहुँचता हूँ तब बिना प्रयत्न के मेरे मुख से सीधी-सादी देहाती, भोजपुरी या बुंदेली निकलने लगती है। संस्कृत पढ़े-लिखे लोगों के बीच में 'सुप्रभातम्, शुभरजनी, नमामि गुरुदेव, प्रणमामि सखे, अत्र कुशलं तत्र किम भवान्' आदि पदावलियाँ अपने आप निःसृत होती हैं। मौलाना से भेंट होते ही आदाब अर्ज, खैरियत, बिसमिल्ला, इंशाअल्ला, शुक्रिया आदि अलफाज़ स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त होने लगते हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी पढ़े-लिखों के बीच में गुड मारनिङ्ग, हाऊ डू यू डू, थैंक यू आदि अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में होने लगता है।

धार्मिक आवश्यकता या परिस्थिति भाषा में परिवर्तन लाती है। धार्मिक आवश्यकता के कारण ही संस्कृत भाषा हिंदुओं के जीवन के अणु-अणु में समायी हुई है। बौद्धधर्म यदि अस्तित्व में न आता तो पालि भाषा कदापि साहित्यिक भाषा न बन पाती। उसको जो व्यक्तित्व तथा सम्मान आज प्राप्त है उसका सब श्रेय बौद्ध धर्म को ही है। यदि वह बौद्ध-धर्म द्वारा धर्मभाषा के रूप में अपनाई न गई होती तो कदाचित् लोक-साहित्य के अतिरिक्त उसमें कुछ न मिलता। धर्म के कारण ही बहुत सी भाषाओं को प्रामाणिक तथा आधुनिक बनने में मदद मिलती है; जैसे उर्दू को। सन् १५२१ में लूथर के बाइबिल के अनुवाद से आधुनिक जर्मन की नींव पड़ी।

धर्म का प्रभाव भाषाओं पर विधायक तथा विध्वंसात्मक दोनों कोटियों का पड़ता है। जर्मनों ने रोमन साम्राज्य को नष्ट किया पर क्रिश्चियन धर्म अपनाने के कारण जर्मन भाषा का प्रसार वहाँ नहीं किया। वरन् वहाँ की भाषा लैटिन को ही अपनाया। किंतु हंगरी की भाषा पर धर्म का प्रभाव विध्वंसात्मक कोटि का पड़ा। हंगरी में मध्य युग में सारा लिखित कार्य चर्च की लैटिन में होता था। यदि कोई स्थानीय भाषा में लिखता तो उसे मृत्यु की सजा मिलती थी। इससे हंगरी की भाषा बहुत दिनों तक मौखिक भाषा बनी रही। इससे राष्ट्र-भाषा के रूप में उसकी प्रगति बहुत दिनों तक रुकी रही। धर्म की भिन्नता के ही कारण पाकिस्तान की राजभाषा उर्दू तथा हिंदुस्तान की राजभाषा हिंदी घोषित हुई है।

अंग्रेजों के राजत्वकाल में भारत की राजभाषा अंग्रेजी रही, इसका कारण राजनीतिक है। किसी भाषा को राजभाषा बनाने में राजनीति का सबसे अधिक

योग रहता है। कोई भाषा राजनीति द्वारा जब राजभाषा के पद पर आसीन हो जाती है तो उसमें बहुत परिवर्तन अपने आप होता है। ७०० ई० से १२०० ई० तक अपभ्रंश को भारत की राष्ट्रभाषा बनने का जो गौरव मिला उसका श्रेय राजनीति को ही है। जब एक विदेशी जाति दूसरी जाति पर अपना प्रभुत्व जमाती है तो भाषा में परिवर्तन काफी तेजी से होता है। श्रवणीय भेद अधिक स्पष्ट हो जाता है। विजेता जाति पराजित जाति के शब्दों का उच्चारण अपने ढर्रे पर करने लगती है और पराजित जाति हीनता के भाव के कारण उसी का अनुकरण करने लगती है। अंग्रेजों के उच्चारण के अंधानुकरण से मथुरा, बनारस, बम्बई, हैदराबाद का उच्चारण हिंदू लोग भी मुतरा, बेनारस, बाम्बे, हैडराबाड करने लग गये थे।

भारत की शैक्षणिक आवश्यकता को समझकर ही आज दक्षिण भारत की प्रान्तीय भाषायें शिक्षा की माध्यम घोषित की गई हैं; किन्तु उत्तर भारत में बंगाल को छोड़कर शेष प्रान्तों की शिक्षा की माध्यम हिन्दी ही स्वीकृत हुई है। शैक्षणिक आवश्यकता के कारण ही प्राइमरी स्कूल की भाषा की पाठ्यपुस्तकों में प्रान्तीय बोलियों का पुट बहुत अधिक रखा जाता है जिससे बच्चे सरलता तथा शीघ्रता से समझ सकें। कक्षा में कहानी पढ़ाते समय मेरी भाषा में सरलता अपने आप आ जाती है, संस्कृत समीक्षा पढ़ाते समय भाषा अपने आप गंभीर कुछ क्लिष्ट कुछ दार्शनिक हो जाती है, भाषा-विज्ञान पढ़ाते समय शैक्षणिक आवश्यकतानुसार मेरी भाषा उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, ग्रीक, लैटिन, अवस्ता आदि विभिन्न भाषाओं के शब्दों से मिश्रित हो जाती है। व्यावसायिक आवश्यकता के अनुसार भाषा में परिवर्तन स्वयमेव हो जाता है। एक गुजराती या मारवाड़ी कलकत्ते में जाकर अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में जब आधी बंगाली मिलाकर बोलने लगता है तभी वह अपने व्यवसाय में सफल होता है, इसी प्रकार बम्बई में व्यवसाय आरम्भ करनेवाला व्यक्ति कुछ ही दिनों में अपनी भाषा में मराठी, गुजराती, मारवाड़ी का मिश्रण पाने लगता है। काशी में दलालों की भाषा ही भिन्न प्रकार की होती है। उसे दलाल या कुछ सिद्धहस्त व्यापारी ही समझ सकते हैं। जैसे 'मंगल रहे' का अर्थ बनारस में दलालों के बीच रुपया में दो आना दलाली है जो दलालों को मिलती है। अर्थात् बाजार की बोली प्रायः तीन प्रकार की होती है। एक तो सीधी साधी (रूढ़) जैसे—दाम चढ़ गये हैं, गेहूँ मन्दा है, देसाउर का चालान नहीं है।

दूसरी हाट की बोली मिलावट भरी होती है जो भिन्न-भिन्न प्रकार के ग्राहकों को देखकर भिन्न-भिन्न प्रकार की बोली जाती है। व्यापारी, अंग्रेजी पढ़े-लिखे ग्राहक से कुछ अंग्रेजी मिलेजुले शब्दों से भरी और गाँववालों से कुछ गँवारू बोली मिली हुई, मुसलमान ग्राहकों से उर्दू मिश्रित बोली जब बोलता है तो ग्राहकों को जल्दी फँसा लेता है।

(१) मार्केट डल है। (अंग्रेजी पढ़े लिखों से)

(२) पीसी को भाव गिर गओ है। (सागर के हाट की बोली)

(३) मौलवी साहब ! यकीन रखिए आपके साथ कोई दगल फसल मैं नहीं करता। (मुसलमान भाई से)

(४) हाट की तीसरे प्रकार की बोली कूट या चोर बोली होती है जिसे व्यापारी या दलाल ही आपस में समझ सकते हैं।

ऋग्वेद का भी यहीं मत है कि वाक् तत्त्व को ही विद्वान और कवि अनेक रूपों में प्रस्तुत करते हैं।

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

(ऋ० १०-११४-५)

संसार की समस्त विद्यायें, कलायें तथा शिल्प शब्द-शक्ति से सम्बद्ध हैं। शब्द ही वह शक्ति है जिसके द्वारा समस्त वस्तुओं का विभाजन तथा विवेचन होता है :—

सा सर्वविद्या शिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते॥ (वाक्य–१–१२५)

छान्दोग्योपनिषद के सप्तम अध्याय में नारद को उपदेश देते हुए सन्तकुमार ऋषि ने कहा है कि धर्माधर्म की व्यवस्था तथा विश्लेषण में, सत्यासत्य की पहचान में, साधु-असाधु के लक्षण-निरूपण में, सहृदय-अहृदय एवं चित्तज्ञ-अचित्तज्ञ के प्रत्यभिज्ञान में वाणी का ही प्रसार दिखाई पड़ता है। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण ने वाक् तत्त्व को सरस्वती के रूप में प्रतिष्ठित किया है :—

वाक् तु सरस्वती (ऐत–३,१)

यजुर्वेद ने वाक् तत्त्व के विभिन्न गुणों पर प्रकाश डालते हुए उसे समुद्र के समान अक्षय अगाध दुर्बोध बताया है। फिर उसे सर्वव्यापक, अनादि, अक्षर, एक तत्त्व अभिहित किया है, उसके मत में वह इन्द्रिय-शक्ति-सम्पन्न है, वह सदस है, वह आधारभूत है उसके कारण मनुष्यों में सदस्यता, सभ्यता, शिष्टता आदि की स्थिति है। वह चेतन तत्त्व है, बुद्धि तत्त्व है, यज्ञिय है।

समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि।
बुध्नो वागस्येन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ। (यजु० ५–३३)
चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि
यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी। (यजु० ४–१९)

भागवत पुराण में शब्द के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है उससे भाषा की व्याप्ति पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है :—

उसके मतानुसार शब्द ही जीव है। वही हृदयादि आकाशों में अभिव्यक्त होता है। वही प्राण-वायु के परिणाम-स्वरूप घोष (ध्वनि) से हृदय, शिर, कंठ रूपी गुहा में प्रविष्ट होकर अपने सूक्ष्म रूप को छोड़कर

मनोमय रूप अर्थात् अन्तःकरण परिणाम-रूपी विकार को प्राप्त करे; मात्रा, स्वर, वर्ण आदि नामों से अभिहित होता है।

शब्द के द्वारा ही सभी भावों की अभिव्यक्ति की जाती है असमाख्येय और समाख्येय सभी अर्थों का निरूपण किया जाता है। इस प्रकार भाषा की व्याप्ति सभी भावों तथा अर्थों तक दिखाई पड़ती है :—

तस्मादर्थं भावाः सर्वाः शब्दमात्रासु निश्रिताः (वाक्य १-११२)

भर्तृहरि का कथन है कि शब्द ब्रह्म एक है। वही संसार का बीज रूप है। उसी से संसार की उत्पत्ति होती है। वही भोक्ता, भोक्तव्य तथा भोग—त्रिविध रूपों में वर्तमान है। शब्द ब्रह्म ही भोक्ता रूप पुरुष है, भोक्तव्य विषय है। विषय-भोग-जन्य सुख-दुखादि का अनुभव-रूप भोग भी शब्द ही है। इस प्रकार भाषा की व्याप्ति भोक्ता, भोक्तव्य तथा भोग तक फैली हुई है :—

एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृ भोक्तव्यरूपेण भोग रूपेण च। स्थितिः। (वाक्य १-४)

भाषा और व्याकरण का सम्बन्ध—व्याकरण भाषा के निष्पन्न एवं शुद्ध स्वरूप को लेकर चलता है। अतएव वह भाषा के सिद्ध स्वरूप को सिखाता है, उसकी शुद्धता एवं अशुद्धता पर कारण-सहित विचार करता है। भाषा व्याकरण के निर्माण की सामग्री प्रदान करती है। इसके बदले में व्याकरण उसको शुद्ध एवं अनुशासित रखने के नियमों की रचना करता है। व्याकरणिक तत्त्वों का निर्माण भाषा के तत्त्वों के आधार पर होता है। भाषा के मुख्यतः तीन अंग होते हैं—ध्वनि, शब्द और वाक्य। भाषा के इन्हीं तीन अंगों के आधार पर व्याकरण के भी तीन विभाग बनाये गये हैं जिन्हें ध्वनि-विचार, शब्द-विचार और वाक्य-विचार कहते हैं। व्याकरण के तीन भेदों, वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक के आधार पर भाषा अध्ययन की तीन प्रणालियाँ निर्मित हुई हैं जिन्हें क्रमशः वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक संज्ञा दी जाती है। व्याकरण में वाक्य विचार के प्रकरण में वाक्य की गठन का वर्णन किया जाता है कि वह समास प्रधान है या व्यास प्रधान। इसी आधार पर भाषा का रूपात्मक वर्गीकरण किया जाता है। इस प्रकार व्याकरण तथा भाषा के अध्ययन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्याकरण भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को व्यावहारिक रूप देता है। जैसे ध्वनियाँ अनन्त हैं, एक ही ध्वनि कई रूपों में बोली जाती है किन्तु व्याकरण में ध्वनि विश्लेषण उस सीमा तक चलता है जहाँ तक वह विश्लेषण भाषा के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। इस प्रकार व्याकरण भाषा-विज्ञान का आधार तैयार करता है।

भाषा और धर्म का सम्बन्ध—भाषा उत्पन्न होने के पश्चात् ही धर्म की सृष्टि हुई। प्रत्येक धर्म की सृष्टि उपदेशों द्वारा हुई। धर्म का प्रसार एवं आन्दोलन की भाषा द्वारा ही हुआ। बदले में धार्मिक आन्दोलन भाषा के प्रसार प्रस्तार में बहुत योग देते हैं। जैसे बौद्ध-धर्म के आन्दोलन ने पालि के प्रसार में योग दिया। वैष्णव धर्म के आन्दोलन ने ब्रजभाषा के प्रसार में योग दिया। सन् १५३१ में लूथर के बाइबिल के अनुवाद से आधुनिक जर्मन भाषा की नींव पड़ी। धर्म के कारण ही बहुत सी भाषाओं को प्रामाणिक बनने में मदद मिलती है जैसे उर्दू को। धर्म भाषा को व्यक्तित्व, संस्कृति एवं साहित्य भी प्रदान करता है। यह पालि बौद्धधर्म द्वारा अपनाई न जाती तो कदाचित् लोक-साहित्य के अतिरिक्त उसमें कुछ न मिलता। पालि भाषा को एक विशिष्ट व्यक्तित्व, संस्कृति एवं साहित्य प्रदान करने का श्रेय बौद्धधर्म को ही है। इसी प्रकार उर्दू भाषा को निजी व्यक्तित्व, संस्कृति तथा साहित्य से गौरवान्वित करने का श्रेय इस्लाम मज़हब को है। संसार के सभी मुख्य धर्मों से एक-एक भाषा का विकास हुआ है। जैसे—हिन्दू-धर्म से संस्कृत भाषा का, बौद्धधर्म से पालि का, जैनधर्म से अर्धमागधी का, ईसाई-धर्म से हिब्रू का, इस्लाम धर्म से उर्दू का विकास हुआ। बहुत सी भाषाओं के आदिम स्वरूप को धार्मिक पुस्तकों ने सुरक्षित रखने में योगदान दिया। जैसे संस्कृत का आदिम स्वरूप ऋग्वेद में, हिब्रू का आदिम स्वरूप बाइबिल में, अरबी का आदिम स्वरूप कुरान में सुरक्षित है।

धर्म का प्रभाव भाषाओं पर सदा विधायक कोटि का ही नहीं पड़ता विध्वंशात्मक कोटि का भी पड़ता है। विधायक कोटि की चर्चा पालि, उर्दू आदि के प्रसंग में हो चुकी है। अतः भाषा के ऊपर धर्म के विध्वंशात्मक स्वरूप पर विचार करना चाहिए। हंगरी में मध्ययुग में सारा लिखित काम चर्च की लैटिन में होता था। यदि कोई स्थानीय भाषा में लिखता तो उसे मृत्यु तक की सजा मिलती थी इससे हंगरी की भाषा बहुत दिनों तक मौखिक बनी रही। इससे राष्ट्रभाषा के रूप में उसकी प्रगति बहुत दिनों तक रुकी रही।

प्रायः विजयी जाति पराजित देश पर अपनी भाषा की प्रभुता भी कायम करती है, किन्तु धर्म का प्रश्न उपस्थित होने पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। जर्मनों ने रोमन साम्राज्य नष्ट किया पर क्रिश्चियन धर्म अपनाने के कारण जर्मन भाषा का वहाँ प्रसार नहीं किया वरन् वहाँ की धार्मिक भाषा लैटिन को ही अपनाया। धर्म को अपनाने से भाषा का ग्रहण अपने आप हो जाता है। उपर्युक्त विवेचन विशिष्ट भाषा तथा विशिष्ट धर्म के प्रकृष्ट सम्बन्ध

को घनिष्ठ रूप में व्यक्त करता है। अब भाषा तथा धर्म के सामान्य सम्बन्ध पर विचार किया जाता है :—

धर्म की परम्परा रीति-रिवाज, रस्म, धारणा, मूल्य आदि भाषा के माध्यम से व्यक्त होते हैं। धार्मिक सम्पत्ति की रक्षा भी भाषा के द्वारा ही होती है। ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक आदि धर्म के प्रतीकों की कल्पना भाषा के द्वारा ही संभव होती है। धर्म के साध्य तथा साधनों की धारणा भाषा द्वारा निर्मित होती है। शब्दों का अर्थ-परिवर्तन धार्मिक कारणों से विविध कोटि का हो जाता है। जैसे—संध्या का अर्थ शाम है, धर्म के प्रसंग में हिंदुओं की धार्मिक प्रार्थना है, इसी प्रकार व्रतबन्ध, पितृ नियंत्रण, चूड़ी फूटना, त्रिरात्रि, दसवाँ, तेरही, खोरसी, खिचड़ी खाना, चूड़ाकरण या मुण्डन, उपनयन का अर्थ धर्म के प्रसंग में परिवर्तित हो गया है।

भाषा तथा पुरातत्त्व का सम्बन्ध—सभी प्रकार की सामग्रियों के अभाव में किसी भाषा के प्राचीनतम शब्दों के प्राचीनतम अर्थों द्वारा उसको बोलने वाली जाति के प्रागैतिहासिक रूपों, धारणाओं, रीति रिवाजों, सभ्यता, संस्कृति आदि को जानने में हम समर्थ हो सकते हैं। इस सामग्री को विवेचित करने के लिए भाषा विज्ञान की एक अलग शाखा है। जिसे (Paleantalogy) भाषा अध्ययन के आधार पर प्रागैतिहासिक खोज कहते हैं। पुरात्त्व तो प्राप्त भौतिक पदार्थों अथवा उनके अवशिष्टांशों के आधार पर ही प्राचीन काल का इतिहास उपस्थित करता है। किसी जाति के प्रागैतिहासिक कालीन मानसिक ब्योरों को देने में वह असमर्थ हो जाता है। भाषा-विज्ञान की पेलियांटालाजी शाखा इस अभाव की पूर्ति करती है। जिस प्रकार शिलाभव अवशेष (Fossils relics) पृथ्वी की प्राचीनतम स्थिति, प्रागैतिहासिक जीव स्थिति को व्यक्त करते हैं। तदवत् किसी जाति के पुराने शब्दों का भाषा अध्ययन की तुलनामूलक प्रणाली द्वारा प्राप्त प्राचीनतम अर्थ उसकी प्रागैतिहासिक संस्कृति तथा सभ्यता को व्यक्त करते हैं। सामान्य संस्कृति की दृष्टि से भाषा अनुशीलन का कदाचित् यह सबसे उपयोगी अंश है। जैसे, पेलियांटालिजिस शिलाभव अवशेषों अथवा हड्डी के कुछ चूर्ण टुकड़ों के द्वारा प्रागैतिहासिक कालीन विलुप्त जानवरों, पक्षियों, मछलियों, सरीसृपों का पता लगा लेता है उसी प्रकार भाषाशास्त्री उपयुक्त भौतिक पदार्थों के अभाव में केवल किसी भाषा के प्रागैतिहासिक कालीन शब्दों के अर्थों के द्वारा उस जाति की प्रागैतिहासिक कालीन विलुप्त संस्कृति एवं सभ्यता को जानने में समर्थ हो सकता है; जैसे कुलपति, गवेषणा,

माता, पिता, भ्रातृ, दुहिता; स्वसा, आर्य आदि शब्द हमारी प्रागैतिहासिक संस्कृति को व्यक्त करते हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भाषा शास्त्र तथा पुरातत्त्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

Just as the paleantologist reconstructs the extinct birds, beasts, fishes and reptiles which roamed the earth in prehistoric periods, often, having but a few fragments of bones or scanty fossils to guide him and just as the Geologist can determine the earlier configuration of the world from evidence to which the untrained mind is meaningless, so the linguist can trace and he alone in absence of material and tangible data—the history of mans larg and toilsome development in thought. He is the mental archaeologist who supplements the work of the archaeologist who deals with actual objects once used by man, and often, through his knowledge of the meaning of words, he can make valuable contributions towards the restoration and reconstruction of periods anterior to those from which material remains survive.

Foundation of language by Louis. H. Grag. P. II

भाषा और साहित्य का सम्बन्ध—भाषा साहित्य का माध्यम है। इसलिए कोई व्यक्ति किसी भाषा के सूक्ष्म, गंभीर अध्ययन तथा अधिकार के बिना न तो उसमें लिखे हुए साहित्य का मूल्यांकन या अभिशंसन ठीक से कर सकता है और न उसमें साहित्य का निर्माण ही कर सकता है, और न उस भाषा में किसी प्रकार के अनुवाद में ही सफल हो सकता है। सामान्य हिन्दी भाषा का ज्ञान तो साधारण आदमी भी रखता है किन्तु जब तक वह हिन्दी भाषा के सूक्ष्म कलात्मक तत्त्वों, भाषा के विभिन्न साहित्यिक रूपों से परिचित नहीं होता तब तक वह हिन्दी साहित्य की किसी कृति का मूल्यांकन या अभिशंसन ठीक ढंग से नहीं कर सकता। इसी प्रकार जो कृतिकार भाषा के कलात्मक तत्त्वों से परिचित नहीं है वह लोक साहित्य की रचना भले ही कर ले किन्तु उच्च कोटि की साहित्यिक रचना में समर्थ नहीं हो सकता। कोई

भी आलोचक भाषा सम्बन्धी सूक्ष्म तत्त्वों, विशेषताओं से परिचित हुए बिना किसी कृति की भाषा सम्बन्धी परीक्षा ठीक ढंग से नहीं कर सकता। किसी भाषा के सूक्ष्म तत्त्वों तथा विशेषताओं से परिचित हुए बिना कोई सम्पादक उसके पुराने साहित्यिक ग्रन्थों का सम्पादन ठीक ढंग से नहीं कर सकता, कोई टीकाकार ठीक टीका नहीं लिख सकता। तात्पर्य यह कि किसी भाषा का विद्वान हुए बिना कोई उसमें लिखित साहित्य का पंडित नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह कि भाषा और साहित्य में बहुत ही घनिष्ठ कोटि का सम्बन्ध है।

साहित्य ही प्राचीन भाषाओं के स्वरूप को सुरक्षित रखता है। किसी भी भाषा का प्राचीन स्वरूप उसके प्राचीन साहित्य को पढ़े बिना प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे, हिन्दी का प्राचीन स्वरूप नाथपन्थी कवियों की भाषा द्वारा ही आज उपलब्ध हो रहा है। इसी प्रकार संस्कृत का प्राचीनतम स्वरूप ऋग्वेद के मंत्रों में सुरक्षित है। साहित्य में प्रयुक्त शब्दों का सम्यक ज्ञान तथा उनकी आत्मा में प्रवेश भाषा-तत्त्व के ज्ञान के बिना असंभव है, जैसे—बरात शब्द को ही लीजिए, जो उसके मूल रूप वरयात्रा को नहीं जानता वह बरात शब्द की आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो सकता। शब्दों के मूल रूप को जानने के लिए भाषा-विज्ञान से सम्पर्क स्थापित करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। साहित्य में प्रयुक्त शब्दों के बाहरी रूप परिवर्तन को हम ध्वनि सिद्धांतों को समझे बिना नहीं जान सकते। उदाहरणार्थ, कबीर के निम्नांकित दोहों पर विचार कीजिए—

बलिहारी गुरु आँपड़ैं द्यौं हाँड़ी कै बार।
जिनि मानिस तैं देवता कियत न लागी बार॥

जो लोग नहीं जानते कि दूँ में स्वर विकार तथा वर्णागम से द्यौं बना है। हड्डी में मध्य वर्णलोप अभि-मात्रण तथा अनुनासीकरण का नियम लगने से हाँड़ी बना है वे द्यौं तथा हाँड़ी का गलत अर्थ लगाने लगते हैं। भाषा-अध्ययन में रूप-विचार की सामग्री अधिकांश मात्रा में प्राचीन साहित्य ही प्रस्तुत करता है। हिन्दी के सर्वनाम, कारक, क्रिया, विशेषण, अव्यय आदि की परम्परा की शृंखलायें हमें वैदिक संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश, अवहट्ट पुरानी हिन्दी के साहित्य से मिलती हैं। इस प्रकार भाषा-अनुशीलन की सामग्री साहित्य द्वारा पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इसी प्रकार साहित्य का अर्थ, उच्चारण, वर्णविन्यास प्रयोग सम्बन्धी शंकाओं का समाधान भाषा-दर्शन ही ठीक प्रकार से करने में समर्थ होता है।

मानवविज्ञान तथा भाषा का सम्बन्ध—प्रथमतः नृविज्ञान की अभिव्यक्ति तथा अध्ययन भाषा द्वारा ही किया जाता है, इससे स्पष्ट है कि भाषा बिना नृविज्ञान का काम चल नहीं सकता दूसरे नृविज्ञान मानव का अध्ययन तीन श्रेणियों के भीतर करता है—

जाति, भाषा तथा संस्कृति, जाति के भीतर मनुष्य की बाह्य आकृति का अध्ययन करके मानव जाति या परिवार से स्थापित किया जाता है। वह आर्य जाति का है या नीग्रो वर्ग का है या बुशमैन खानदान का है। भाषा के भीतर विश्व के मूल भाषा-परिवारों का अध्ययन करके जातिविशेष के भाषा-परिवार का निश्चय किया जाता है। संस्कृति के भीतर क्षेत्रविशेष के मानवों की संस्कृति का अध्ययन करके उसका सम्बन्ध विशिष्ट मूल संस्कृति से स्थापित किया जाता है। इस प्रकार नृविज्ञान का भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

नृविज्ञान का मानव-विकास से सम्बन्ध है। भाषा स्वयं मानव विकास की प्रतीक एवं कहानी है। मानवशास्त्र बताता है कि सृष्टि के आदि काल में मानव समाज की क्या अवस्था थी। मानव समाज में किन-किन बातों का विकास कब और कैसे हुआ। तो फिर मानवशास्त्र यह भी बताएगा कि भाषा का विकास कैसे हुआ। इस प्रकार भाषा का अनुशीलन नृविज्ञान की विवेच्य सामग्री का एक अंश बन कर आता है। युग के भाषा-रूपों को पाकर हम तत्कालीन समाज की रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि को जान सकते हैं जिसका सम्बन्ध नृविज्ञान से है—अर्थात् भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध मानव विज्ञान के उस अंश से रहता है जिसमें उसकी बातचीत, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि का विवेचन रहता है और इन बातों को भाषा के शब्द प्रस्तुत करते हैं।

भाषा उत्पत्ति विषयक कई वाद जैसे—संकेतवाद, श्रमपरिहरणमूलकतावाद, अनुकरणमूलकतावाद, मनोभावाभिव्यंजकवाद नृविज्ञान की सामग्री पर प्रकाश डालते हैं। जैसे, संकेतवाद बताता है कि मनुष्य पहले जंगली या असभ्य था उसके पास बहुत कम आवश्यकतायें, बहुत कम विचार, बहुत कम भाव, बहुत कम समस्यायें थीं अतः संकेत की अभिव्यक्ति द्वारा उसका काम चल जाता था। श्रमपरिहरणमूलकतावाद बताता है कि सृष्टि के आरंभ में मनुष्य को शरीर से बहुत कठिन परिश्रम करना पड़ता था तब कहीं वह अपनी सुरक्षा अथवा भोजन की व्यवस्था में समर्थ हो पाता था।

अनुकरणमूलकतावाद यह बताता है कि मनुष्य सृष्टि के आदि काल में प्रकृति के साहचर्य में रात-दिन जंगलों में रहता था। इसलिए उसने उस

काल में प्रकृति के चेतन तथा अचेतन पदार्थों से निसृत ध्वनियों का अनुकरण करके भाषा के आदिम शब्दों का निर्माण किया। इस प्रकार अनुकरण-मूलकतावाद मानव सभ्यता की पशु-चारण काल की पूर्व स्थिति पर प्रकाश डालता है। मनोभावाभिव्यंजकवाद भी यही बताता है मनुष्य की समाज रचना की लघुत्तम इकाई के साथ मनुष्य की भाषा उसकी प्रकृति से अपने आप फूट पड़ी। मानव समाज-रचना की लघुत्तम स्थिति के समय मनुष्य निश्चय ही प्रकृति की गोद में रहता था जिससे उसने प्रकृति के अनेक विस्मयकारी अद्भुत रूपों एवं दृश्यों को देखकर अपने भावों को विस्मयादि-बोधक शब्दों में व्यक्त किया। इस प्रकार भाषा-विज्ञान एवं मानव-विज्ञान दोनों एक दूसरे के लिए सामग्री प्रदान करते हैं। मानव-विज्ञान में जातियों के पृथक् होने पर प्रकाश डाला जाता है और उसी पृथकता के कारण एक भाषा से दो चार भाषायें बनती हैं। इस प्रकार नृविज्ञान एवं भाषा का अध्ययन बहुत अंशों में एक दूसरे के समीप है।

भाषा विज्ञान की व्याप्ति

१—शरीर-विज्ञान
२—भौतिक-विज्ञान
३—तर्कशास्त्र
४—भूगोल
५—इतिहास

भाषा तत्त्व का शरीर-विज्ञान तथा भौतिकशास्त्र से सम्बन्ध— किसी भी ध्वनि के उच्चरित तथा श्रुतिगोचर होने में शरीर-विज्ञान तथा भौतिकशास्त्र दोनों संसक्त हो जाते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि शरीर-विज्ञान तथा भौतिकशास्त्र दोनों भाषा-विज्ञानी को सहायता पहुँचाते हैं। ध्वनि-विज्ञान में ध्वनि उत्पन्न करनेवाले तथा ध्वनि ग्रहण करनेवाले अवयवों का अध्ययन करना पड़ता है। कालल से लेकर ओठ तक के उच्चारण सम्बन्धी अवयवों तथा कानों की बनावट का अध्ययन भाषाशास्त्री के लिए आवश्यक है। उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि उच्चारण तथा श्रवण सम्बन्धी विभिन्न शरीरावयवों की जटिल यंत्र-रचना के कार्य को समझने के लिए इन शरीरावयवों के स्थान, क्षेत्र तथा गति को समझना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। यह दूसरी बात है कि भाषाशास्त्री को शरीर के चीर-फाड़ करनेवाले डॉक्टर के समान शरीर-विज्ञान का विशेषज्ञ होना आवश्यक नहीं।

भौतिकशास्त्र से सम्बन्ध—फेफड़े से चली हवा ध्वनि-यंत्रों के आन्दोलन के कारण आन्दोलित होकर निकलती है और बाहर के वायु में अपने आन्दोलन के अनुसार एक विशिष्ट प्रकार के कम्पन से लहरें पैदा कर देती है। वे लहरें ही सुननेवाले के कानों तक पहुँचती हैं और वहाँ श्रवणेन्द्रिय में कम्पन पैदा कर देती हैं।

प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान में ध्वनियों के मुँह से निकलने के पश्चात् कान तक पहुँचने तथा ध्वनि कम्पन एवं लहरों आदि के बनने का अध्ययन किया जाता है। प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान की उपर्युक्त सामग्री में भौतिकशास्त्र भाषा-विज्ञान को यथेष्ट सहायता पहुँचाता है।

Physics is involved by the fact that the sounds of a living beings voice, like all other sounds produce vibrations which impinge on the ears of the auditor.

Foundation of language p. 4.

१. तर्कशास्त्र का काम प्रौढ़ भाषा, तर्कशास्त्र, भाषा या भाषा-विज्ञान का तर्कशास्त्र से कोई सीधा तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। किन्तु उसकी प्रणाली से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान में अधिकांश मात्रा में व्याख्यात्मक प्रणाली चलती है, और तर्क के बिना व्याख्या वैज्ञानिक नहीं हो सकती।

२. भाषा में वाक्य तत्त्व का सम्बन्ध तर्कशास्त्र से है। क्योंकि कोई भी वाक्य तर्कसंगत हुए बिना अभीष्ट अर्थ नहीं प्रदान कर सकता। वाक्य को तार्किक बनाने के लिए उसमें योग्यता, आकांक्षा, सन्निद्धि, समभिव्यवहार लाने की आवश्यकता पड़ती है। जैसे अग्नि से सींचो में योग्यता के अभाव में योग्यता के अभाव के कारण तार्किकता नहीं है इसलिए इस वाक्य से अर्थ निकलने में बाधा उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार पुस्तक के पश्चात् ढोल, लाठी, ताला आदि कहने से आकांक्षा के अभाव के कारण अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। पदों में अन्विति के अभाव से भी अर्थ की प्राप्ति में बहुत बाधा उपस्थित होती है। जैसे अभी कलम कहें, फिर दो घण्टे पश्चात् लाओ कहें तो वाक्यार्थ की उपस्थिति में बहुत कठिनाई हो जाती है। इसी प्रकार हिन्दी भाषा में पदों का क्रम ठीक न होने से उल्टा अर्थ उपस्थित हो जाता है। साहु ने चोर को पकड़ा। फिर पदों का क्रम बदल कर यदि यह कहा जाय कि चोर ने साहु को पकड़ा। तो अर्थ बिल्कुल बदल जायगा।

भाषा-विज्ञान और भूगोल—भाषा-विज्ञान और भूगोल का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि भाषा-विज्ञान की एक शाखा भाषा वैज्ञानिक भूगोल

(Linguistic geography) के नाम से अभिहित की जाती है। इस शाखा में भाषाओं का मानचित्र बनाया जाता है जो भूगोल की सहायता के बिना नहीं बन सकता। किसी भी विशिष्ट भाषा की स्थानीय विशेषताओं के निर्माण में भौगोलिक उपकरणों का बहुत अधिक योग रहता है। जैसे—भौगोलिक तत्त्वों की भिन्नता से उस प्रदेश के लोगों के वाग्यन्त्र की रचना में भिन्नता आती है, फलतः ध्वनियों में भिन्नता आ जाती है। अंग्रेज **त थ र ध** का उच्चारण सरलता से क्यों नहीं कर पाता बंगाली स **ष** की जगह **श** का उच्चारण क्यों अधिक करता है? मराठी में ण ड आदि ध्वनियों का आधिक्य क्यों है? द्राविड़ भाषा में मूर्धन्य ध्वनियों की अधिकता क्यों है? कोकणी मराठी में अनुनासिक उच्चारण का प्राचुर्य क्यों है? अरबी में स ज ध्वनियों के इतने अधिक भेद क्यों पाये जाते हैं? मैदानों की भाषा अधिक कोमल क्यों होती है इसकी तुलना में पहाड़ी भागों की भाषा कठोर क्यों होती है? आदि बातों का उत्तर वहाँ के भौगोलिक कारणों से ही मिल सकता है। किसी की उच्चारण सम्बन्धी विशेष प्रवृत्ति सुनकर उसे बिना देखे या परिचय के जो हम कह बैठते हैं कि बोलनेवाला अमुक व्यक्ति बिहारी है, अमुक राजस्थानी है, अमुक बंगाली है—इसमें भी भाषा के ऊपर भौगोलिक प्रभाव काम करता हुआ दिखाई पड़ता है।

गर्मी या सर्दी के अधिक या कम होने से उस प्रदेश के रहनेवालों की जीविका, स्वभाव, रहन-सहन, आचरण पर प्रभाव पड़ता है और इन सब का सम्मिलित प्रभाव उस प्रदेश की भाषा पर पड़ता है। यदि किसी प्रदेश की प्राकृतिक दशा मैदानों से निर्मित है तो उस भाषा में एकरूपता अधिक मात्रा में रहेगी। यदि किसी प्रदेश की प्राकृतिक दशा पहाड़ी कोटि की है तो आवागमन की असुविधा के कारण तो उस प्रदेश के निवासियों में परस्पर सम्पर्क कम मात्रा में होता है इसलिए भाषा में विविधता आ जाती है।

यदि किसी देश की भूमि उपजाऊ है तो खाने पीने की सुविधा के कारण वहाँ के लोगों को उन्नति करने का अवसर अधिक मिलेगा। अनुपजाऊ भूमि-वालों की अपेक्षा उनका संस्कार अधिक अच्छा रहेगा, वे गूढ़ विषयों पर सोचने में अधिक समर्थ होंगे; फलतः उनकी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति समृद्धशाली कोटि की होगी; अतः उस भाषा का शब्द-भाण्डार विस्तृत कोटि का होगा। जिस देश में जो वस्तुएँ अधिक मात्रा में उत्पन्न होंगी उन वस्तुओं के सूचक शब्दों के पर्यायवाची शब्द उस देश की भाषा में अधिक से अधिक मात्रा में मिलेंगे। जैसे अरब देश में ऊँट नामक जानवर की

अधिकता है फलतः उसके पर्यायवाची शब्दों की अधिकता उस देश की अरबी भाषा में मिलती है। भारतवर्ष में गाय नामक जानवर की अधिकता है इसलिए इसके पर्यायवाची शब्द अधिक मात्रा में भारत की भाषाओं में मिलते हैं। मत्स्य तथा नाव सम्बन्धी पदावली जितनी समुद्र सन्निद्ध देशों की भाषा में अधिक पाई जाती है वैसी मध्यस्थित प्रदेशों की भाषा में मिलना असम्भव है।

रूप-निर्माण तथा अर्थ-विचार पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता, इस प्रकार किसी भाषा के शब्द-समूह के निर्माण में भूगोल का पर्याप्त योग दिखाई पड़ता है।

अर्थ—विज्ञान के अध्ययन में भी भूगोल सहायता करता है। उष्ट्र का अर्थ भैंसा से ऊँट कैसे हो गया तथा सैन्धव का अर्थ घोड़ा और नमक ही क्यों हुआ? आदि समस्याओं पर विचार करने में भूगोल हमारी सहायता करता है।

प्रागैतिहासिक काल के भूगोल की जानकारी में भाषा-विज्ञान हमारी मदद करता है। प्राचीन काल के पेड़, पौधे, उपज, जानवर जो कि प्राचीन भाषा शोध द्वारा प्राप्त होंगे उनका स्थान निश्चित करने में भूगोल ही मदद कर सकता है।

भाषा में पाये जानेवाले प्राचीन तथा नवीन स्थानीय नामों के अध्ययन से यह ज्ञान किया जा सकता है कि किस प्रकार सदियों के कालान्तर से भाषा सम्बन्धी क्षेत्रों में संकोच, विस्तार, लोप आदि परिवर्तन हुए हैं तथा उस भाषा के बोलनेवालों का स्थानान्तरण, विस्तार, संकोच तथा लोप कहाँ और कैसे हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्थानीय नामों का ज्ञान भूगोल द्वारा ही होता है। भाषा-विज्ञान भी भूगोल की, विशेषतः ऐतिहासिक भूगोल की सहायता करता है। विभिन्न भाषाओं में नदियों, पर्वतों आदि के उपलब्ध नामों के तुलनात्मक विश्लेषण से भूगोल के सम्बन्ध में कुछ अन्वेषण हो सकता है।

संसार की भाषाओं के विभिन्न परिवार विश्व के विभिन्न भूभागों में पैदा हुये। अतः उन्मूल भाषा-परिवारों के स्थानों को जानने के लिए भूगोल के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार स्थान-विशेष में किसी भाषा की उत्पत्ति खोजने में भूगोल हमारी मदद करता है। समान भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव उस क्षेत्र की भाषाओं पर पड़ता है। इस तथ्य के आधार पर भाषा का भौगोलिक वर्गीकरण किया जाता है।

भाषा परिवर्तन में भूगोल सम्बन्धी तथ्यों का योग दिखाई पड़ता है। जैसे किसी भूभाग में जब आवागमन सरल होगा तब भाषा में परिवर्तन अधिक होगा। जब आवागमन कठिन होगा तब भाषा सम्बन्धी परिवर्तन कम होगा। जैसे जंगल में रहनेवाले आदिवासियों के आवागमन में कठिनाई रहती है। अतः उनकी भाषा में परिवर्तन बहुत कम होता है। मैदानों में आवागमन की सरलता है फलतः मैदानी भागों में रहनेवाले लोगों की भाषा में परिवर्तन अधिक और जल्दी-जल्दी होता है।

किसी भी विशिष्ट भाषा की स्थानीय विशेषताओं के निर्माण में भौगोलिक उपकरणों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। अतः स्थान विशेष के भौगोलिक तथ्यों के सम्यक् ज्ञान के बिना उस स्थान की भाषा का सम्यक् अध्ययन नहीं हो सकता।

भाषा-विज्ञान और इतिहास का सम्बन्ध—भाषा-विज्ञान और इतिहास का प्रकृत सम्बन्ध है। भाषा परिवर्तन के कारणों को समझाने में इतिहास हमारी सहायता बहुत दूर तक करता है। ध्वनि, शब्द-समूह, रूप-तत्त्व, वाक्य गठन एवं अर्थ-तत्त्व के परिवर्तन में धार्मिक आन्दोलनों, राजनीतिक क्रान्तियों, सामाजिक सुधारों, सांस्कृतिक तथा दार्शनिक उलट-फेरों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इन सबके ज्ञान के लिए धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा दार्शनिक इतिहास की शरण लेनी पड़ती है। हिन्दी में क़, ख़, ग़, ज़, थ, द, फ़, ऑ आदि कुछ नवीन ध्वनियाँ भी अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी के प्रभाव से आई हैं। वैदिक भाषा में टवर्ग ध्वनियों का प्रवेश द्राविड़ जाति के संपर्क से हुआ। अंग्रेजों के सम्पर्क से बहुत से नगरों के नामों के उच्चारण में ध्वनि-परिवर्तन हो गया था। जैसे बनारस का बेनारस, मथुरा का मुतरा, मुंबापुरी का बाम्बे, कालिकापुरी का कलकटा, इलाहाबाद का अलाहाबाद उच्चारण हो गया था। हिन्दी में उपर्युक्त नवीन ध्वनियों के प्रवेश तथा नगरों के उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तनों के कारणों की खोज करने के लिए ऐतिहासिक ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। हिन्दी में फारसी, अंग्रेजी, पुर्तगाली इत्यादि भाषाओं के शब्दों के प्रवेश का कारण इन भाषाओं को बोलनेवाली जातियों का हमारे देश के साथ व्यापारिक सम्बन्ध तथा राजनीतिक प्रभुत्व है, इसका ज्ञान हमें इतिहास ही देता है। इसी प्रकार बंगाली तथा मराठी में व्रजभाषा के बहुत से शब्द घुस गये हैं। यह उस समय की बात है जब कि वैष्णव धर्म का प्रचार हमारे देश में बहुत जोरों से चल रहा था। इस तथ्य का ज्ञान भी हमें इतिहास ही कराता है।

अंग्रेजी के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी भाषा में कहीं-कहीं रूप परिवर्तन भी दिखाई पड़ता है। "मैंने यह बात उनसे सुनी थी" के स्थान पर "मैंने यह बात उनके द्वारा सुनी थी" हिन्दी में चलने लगा। 'उनसे' रूप शुद्ध है और वह हिन्दी का निजी रूप है। उसके स्थान पर 'उनके द्वारा' रूप अंग्रेजी के फलस्वरूप आया। इसी प्रकार यह टाइप राम से करवाया के स्थान पर यह टाइप राम द्वारा करवाया अंग्रेजी के प्रभाव के फलस्वरूप चलने लगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'राम से' के स्थान पर 'राम द्वारा' रूप अंग्रेजी के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी में आया। उपर्युक्त रूप-परिवर्तनों के कारणों की खोज लगाने में निश्चय ही इतिहास से हमें बड़ी सहायता मिलती है।

आज हिन्दी के वाक्यों पर अंग्रेजी की छाया इतनी अधिक छाई हुई दिखाई पड़ती है कि इससे चिढ़कर 'अच्छी हिन्दी' के लेखक रामचन्द्र वर्मा को यह कहना पड़ा कि हमारे वाक्यों पर अंग्रेजी मानो सिर से पैर तक छाई रहती है। इसकी स्पष्टता के लिए एक दो उदाहरण नीचे दिये जायँगे। हिन्दी में निह्नित वाक्य बनाने की प्रवृत्ति अंग्रेजी की देन है किन्तु हिन्दी में निह्नित वाक्यों का प्रयोग आज अंग्रेजी वाक्य-रचना के प्रभाव के फलस्वरूप धड़ल्ले से हो रहा है। उदाहरणार्थ नीचे के वाक्यों को देखिये—

कवि जीवन के पहले भी मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा[1] प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था।

[2]यह विवादग्रस्त विषय है—आँसू में प्रदर्शित प्रेम का स्वरूप आचार्य शुक्ल कहते हैं।

हिन्दी के वाक्य-रचना के उपर्युक्त परिवर्तनों के कारणों की खोज में निश्चय ही इतिहास से हमें बहुत मदद मिलेगी। कई प्रकार के अर्थ-परिवर्तनों का कारण जानने के लिए भाषा-विज्ञान को राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक इतिहास की शरण लेनी पड़ती है। देवानां प्रियः का अर्थ मूर्ख क्यों हो गया, असुर शब्द देववाची से राक्षसवाची क्यों बन गया, दुहिता का अर्थ लड़की क्यों हुआ, आदि प्रश्नों का उत्तर इतिहास का ही कोई न कोई रूप देता है। आजकल धन्यवाद शब्द का अर्थ Thanks के प्रभाव के फलस्वरूप केवल एक शिष्टाचारवाची मात्र रह गया है। इसका कारण

---

१. सुमित्रानन्दन पंत, आधुनिक कवि की भूमिका सं० २००६ पृ० १

२. कामायनी और प्रसाद की कविता गंगा, रवि-प्रकाशन १९४५ पृ० २५

यहाँ बहुत दिनों तक अंग्रेजी राज्य का प्रभुत्व है। आधुनिक युग में धन्यवाद शब्द के अर्थ परिवर्तन के कारण का ज्ञान ऐतिहासिक तथ्य ही देता है। पाखण्ड अशोक कालीन एक बौद्ध साधुवर्ग का नाम था जिसका प्रयोग अब दुष्टता तथा ढोंग के अर्थ में होता है। इसका कारण अशोक के पश्चात् बौद्ध-धर्म के प्रति उत्पन्न घृणा के भाव में नहीं थे। जिसका ज्ञान इतिहास द्वारा ही ठीक प्रकार से हो सकता है।

ऐतिहासिक कारण किसी भाषा को जीवन-शक्ति प्रदान करने में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अपभ्रंश भाषा ७०० ई० से १२०० ई० तक भारत में क्यों शक्तिशाली रही ? वह राष्ट्र-भाषा के पद पर क्यों आसीन हुई ? उसमें क्यों अधिक साहित्य रचा गया ? आदि प्रश्नों का उत्तर इतिहास द्वारा ही ज्ञात होगा। अर्थात् ७०० ई० से १२०० ई० तक अमीरों का राज्य भारत के अधिकांश हिस्सों में प्रचलित थी। अपभ्रंश उनकी जातीय भाषा थी इसलिए उनकी जातीय भाषा होने के कारण अपभ्रंश को भारत की राष्ट्रभाषा बनने में, शक्तिशाली बनने में, साहित्यिक भाषा बनने में उनके द्वारा बहुत मदद मिली। तात्पर्य यह कि किसी भाषा की जीवनी शक्ति, प्रचार, साहित्यिक पद प्राप्ति के कारणों की जानकारी में इतिहास बहुत मदद करता है। इसलिए भाषा-विज्ञान तथा इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है।

किसी भाषा का किसी दूसरी भाषा पर उसकी निकटवर्ती भाषा की अपेक्षा क्यों अधिक प्रभाव है इसका ज्ञान ऐतिहासिक कारणों द्वारा अधिक होता है। जैसे फ्रेंच भाषा का प्रभाव जर्मन की अपेक्षा अंग्रेजी पर क्यों अधिक है इसका कारण इतिहास ही बता सकता है। नार्मन लोगों ने ११वीं शताब्दी में इंग्लैंड विजय कर वहाँ बहुत दिनों तक फ्रेंच भाषा की प्रधानता स्थापित की। इसलिए अंग्रेजी पर फ्रेंच का प्रभाव अधिक पाया जाता है।

भाषा की उत्पत्ति जानने के लिए मानव की आदिम अवस्था की जानकारी आवश्यक है। मानव की आदिम अवस्था की जानकारी हमें प्राचीन इतिहास से होती है। प्राचीन इतिहास बताता है कि किस समय में मनुष्य की क्या स्थिति थी जीवन के विभिन्न परिवर्तन किस स्वरूप में और कैसे आये। इन तथ्यों के ज्ञान से भाषा के विकास को समझने में बहुत मदद मिलती है।

जिस प्रकार इतिहास भाषा-विज्ञान की मदद करता है उसके बदले में भाषा-विज्ञान भी इतिहास की मदद करता है।

भाषा-विज्ञान द्वारा किसी जाति के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं सभ्यता के विकास का इतिवृत्त उपस्थित करने में बड़ी सहायता मिलती है। पुरातत्त्व तो प्राप्त भौतिक पदार्थों अथवा उनके अवशिष्टांशों के आधार पर ही प्राचीन काल का इतिहास उपस्थित करता है। प्राचीन जातियों के मानसिक विकास का ब्यौरा देने में वह असमर्थ हो जाता है। भाषा-विज्ञान इस अभाव की पूर्ति करता है। जैसे—प्राचीन काल में माँ की बहिन के लिए मातृस्वसा, तथा पिता की बहिन के लिए पितृस्वसा शब्द मिलता है। इन्हीं से हिन्दी की मौसी तथा फूआ शब्द निकले हुए हैं। इन्हीं शब्दों को पुंल्लिंग करके मौसा तथा फूफा शब्द बने हैं। इनके वाचक शब्द प्राचीन काल में नहीं मिलते। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में हमारी कौटुम्बिक प्रथा में मौसा और फूफा को कोई आदर नहीं था या परिवार में कोई स्थान नहीं था। इस प्रकार भाषा-विज्ञान इतिहास के रहस्यमय गर्भ पर प्रकाश डालता है। जिस स्थान तक इतिहास पहुँच नहीं पाता वहाँ तक भाषा-विज्ञान जाता है। भाषा-विज्ञान एक मूल परिवार की प्राचीनतम भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त प्राचीनतम शब्दों के अनुशीलन से प्राचीनतम आर्यों की सभ्यता पर सराहनीय प्रकाश डालता है।

समाजशास्त्र तथा भाषा विज्ञान से सम्बन्ध—भाषा एक सामाजिक देन है। वह किसी एक व्यक्ति की बनाई हुई नहीं है वरन् समाज द्वारा निर्मित है। वह सामाजिक आदान-प्रदान का माध्यम तथा साधन है। भाषा उत्पत्ति तथा उसके विकास का प्रश्न समाजशास्त्र के आधार पर ठीक ढंग से सुलझ सकता है। सांकेतिक ध्वनियों को भाषा-पद प्राप्त करने का सौभाग्य सामाजिक स्वीकृति द्वारा ही मिला। सामाजिक प्रभावों एवं परिस्थितियों से ही शब्दों का अर्थ निश्चित होता है। सामाजिक अवस्थायें ही शब्दों के अर्थों में विकास, संकोच, उत्कर्ष, अपकर्ष लाती हैं। भाषा-विज्ञान से प्रागैतिहासिक कालीन शब्दों के अर्थों के द्वारा प्रागैतिहासिक विशिष्ट युग की सामाजिक अवस्था के अध्ययन में बहुत सहायता मिलती है।

सामाजिक संबंधों के विकास से भाषा में विकास होता है। पालिनेशियन परिवार की भाषाओं में माता-पिता, भाई-बहिन, लड़का-लड़की के लिए शब्द मिलते हैं; किन्तु मौसा-मौसी, फूफा-फूफी, नाना-नानी, मामा तथा मामी के लिए शब्द नहीं मिलते। इसका तात्पर्य यह है कि इन भाषाओं को बोलनेवाली जातियों की अवस्था जंगली कोटि की है। उनमें यौन सम्बन्ध बहुत मर्यादित कोटि का नहीं है। संस्कृत भाषा में माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-

पुत्री, मामा-मामी, नाना-नानी, मौसी-फूआ, आदि के लिए शब्द मिलते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब संस्कृत भाषा भारत में बोली जाती थी उस समय भारत में सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा का बड़ा सम्मान था।

भारोपीय परिवार में माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री आदि अनेक सम्बन्धों के सूचक शब्द मिलते हैं। इससे यह विदित होता है कि आर्य लोग जब अपने मूल स्थान पर रहते थे तब वे पशु-चारण अवस्था की अंतिम स्थिति पर थे। उनमें आरम्भिक कृषि-व्यवस्था भी आ चुकी थी। संस्कृत भाषा में मौसी तथा फूआ के लिए मातृस्वसा तथा पितृस्वसा शब्द मिलते हैं मौसा तथा फूफा के लिए संस्कृत भाषा में शब्द नहीं हैं। इससे हिन्दू जाति की तत्कालीन कौटुम्बिक प्रथा पर यह प्रकाश पड़ता है कि उस युग के परिवार में फूफा तथा मौसा के लिए कोई स्थान नहीं था। इसलिए उस सम्बन्ध के नामकरण की आवश्यकता का अनुभव उस युग में नहीं हुआ। बाद में हिन्दू समाज में जब उनका स्थान सम्मानपूर्ण हो गया तो मौसा और फूफा शब्द बना लिए गये। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था तथा परम्पराओं का भाषा पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है और दूसरी ओर भाषा-विज्ञान के अनुशीलन से भी सामाजिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान तथा समाज-शास्त्र में घनिष्ट सम्बन्ध है।

भाषा-विज्ञान तथा संस्कृति का सम्बन्ध—भाषा-विज्ञान भाषा के आन्तरिक तथा बाह्य दोनों स्वरूपों का विवेचन करता है। संस्कृति का संबन्ध भी भाषा के उच्चारण पक्ष शब्दतत्त्व तथा अर्थ-तत्व तीनों से है। किसी व्यक्ति का उच्चारण उसकी संस्कृति को प्रतिबिम्बित करता है। व्यक्ति का कलात्मक उच्चारण उसकी संस्कृति की उदात्तता का परिचय देता है।[1] इसी प्रकार किसी व्यक्ति का अशुद्ध भ्रष्ट उच्चारण उसकी संस्कृति की हीनता का बोधक होता है। किसी भाषा का शब्द-कोष उसकी संस्कृति का परिचय देने में समर्थ होता है। किसी जाति की सांस्कृतिक सम्पत्ति का अधिकांश भाग उसकी भाषा के मुहावरों, शब्दों तथा लोकोक्तियों में निहित रहता है जिनका ठीक ज्ञान भाषा-विज्ञान द्वारा ही संभव है। भाषा द्वारा ही मनुष्य अपने मानवीय सम्बन्धों को व्यक्त करता है। मानवीय सम्बन्धों की आधार-शिला पर ही

---

१. फ्रांसीसियों का सुन्दर कलात्मक उच्चारण उनकी सौन्दर्यमूलक संस्कृति का परिचायक है हमारे देश में बंगालियों का मधुर उच्चारण उनकी कलाप्रियता का प्रमाण है।

आगे चलकर संस्कृति का भवन तैयार होता है। आदिम जातियों की भाषा में मानवीय सम्बन्ध सूचक शब्दों की संख्या थोड़ी है। फलतः उनकी संस्कृति भी हीनतर कोटि की है। मानव की अनेक विशेषताओं में से भाषा एक ऐसी विशेषता अथवा शक्ति है जो दो आदमियों को मिला देती है। यदि मनुष्य भाषा द्वारा मिलने में समर्थ न हुआ होता तो न तो उसकी समाज-रचना हुई होती और न उसकी संस्कृति ही विकसित हुई होती। भाषा के बिना मानव समाज, मानव संस्कृति की कल्पना तो दूर रही—

हम उच्छिन्नतम कोटि के मानव सम्बन्धों की धारणा भी नहीं कर सकते। जानवरों की भाषा में मनुष्य की भाषा के समान शब्दकोष-निर्माण की शक्ति नहीं है। इसलिए उनमें प्रवृत्तिमूलक जीवन के अतिरिक्त किसी तरह की संस्कृति नहीं बन सकी। भाषा की समृद्धि के बिना किसी भी जाति की कोई पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी की गलतियों से लाभ उठा नहीं सकती। इसलिए वे सुधार के अभाव में संस्कृति का निर्माण करने में असमर्थ हो जाती है। भाषा द्वारा ही मनुष्य अपने विचारों तथा अनुभूतियों की व्यवस्था में समर्थ होता है; और विचारों तथा अनुभूतियों की व्यवस्था से संस्कृति का निर्माण होता है। भाषा द्वारा मनुष्य अपनी परिस्थितियों को शीघ्र बदलने में समर्थ होता है। जिन जीवों अथवा जानवरों के पास भाषा नहीं है वे अपनी परिस्थिति को बदलने में समर्थ नहीं होते। भाषा द्वारा ही मनुष्य अपनी परिस्थिति तथा समाज के साधनों का उपयोग करने में समर्थ हुआ है जिससे वह अपनी महान गतिशील एवं समृद्धिशाली संस्कृति का भवन तैयार कर सका। वस्तुतः भाषा संस्कृति के समाजीकरण में निर्विवाद रूप से सर्वाधिक शक्तिशाली साधन है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मानव संस्कृति की सबसे पुरानी चीज भाषा है और इधर भाषा के माध्यम से संस्कृति व्यक्त होती है। परिपक्व या अपरिपक्व, विकसित या अविकसित, समृद्धिशाली अथवा हीन—किसी भी प्रकार की संस्कृति का उद्गम-विकास, प्रचार तथा संरक्षण भाषा के अभाव में असंभव है। भाषा द्वारा आर्यों की वैदिक संस्कृति आज तक सुरक्षित है। अंग्रेजी समृद्धिशाली भाषा होने के कारण अंग्रेजी सभ्यता तथा संस्कृति को संसार के कोने-कोने में प्रसारित करने में समर्थ हुई।

बोली जानेवाली भाषा के माध्यम से ही हम अपनी संस्कृति सीखते, धारण करते तथा प्रगट करते हैं। बोली जानेवाली भाषा का विवेचन भाषा-विज्ञान में सबसे प्रमुख स्थान रखता है। प्राचीन संस्कृति अपनी सभी

शाखाओं—संगीत, साहित्य, कला, दर्शन, लिपि आदि की रक्षा में लिखित भाषा द्वारा समर्थ हुई, और भाषा-विज्ञान में गौण रूप में ही सही, लिखित भाषा का विवेचन होता ही है।

वस्तुतः भाषा का विकास मानव संस्कृति के विकास के साथ-साथ हुआ है। दोनों ने एक दूसरे के विकास में परस्पर योग प्रदान किया है। जिस जाति की भाषा अविकसित है उसकी संस्कृति भी अविकसित कोटि की है तथा साथ ही यह भी उदाहरण मिलता है कि जिन आदिम जातियों की संस्कृति अविकसित है उनकी भाषा भी आज तक अविकसित है। इसलिए यह कहा जाता है कि भाषा इतिहास एवं संस्कृति-इतिहास की रेखायें समानान्तर रेखा में चलती हैं। उदाहरणार्थ, किसी भाषा में विदेशी भाषा के शब्दों के मिश्रण से उस जाति की संस्कृति में भी मिश्रण होता है। किसी भाषा के कला, साहित्य, सभ्यता तथा धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले सेना सम्बन्धी, खेल सम्बन्धी, न्याय सम्बन्धी, खान-पान सम्बन्धी, तथा सामाजिक शिष्टाचार सम्बन्धी शब्द जब दूसरी भाषा से मिलकर पच जाते हैं तब उस भाषा को बोलनेवाली जाति की संस्कृति में भी मिश्रण दिखाई पड़ने लगता है। हिन्दी भाषा में उपर्युक्त विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले शब्द, अंग्रेजी अरबी, फारसी, तुर्की, फ्रान्सीसी, पुर्तगीज, रूसी आदि भाषाओं से आकर पच गये हैं। फलतः आधुनिक भारतीय संस्कृति पर उपर्युक्त भषा-भाषियों की संस्कृति का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा के शब्दकोश में लैटिन, फ्रान्सीसी, ग्रीक, जर्मन भाषा के शब्दों का पर्याप्त मिश्रण है। इसका कारण यही है कि अंग्रेजी संस्कृति के निर्माण में उपर्युक्त भाषा-भाषियों का पर्याप्त योग है। इसी प्रकार चीनी भाषा में संस्कृत, कोरियन, जापानी, श्यामी भाषा के शब्द मिलते हैं। इसका भी कारण यही है कि उपर्युक्त भाषा-भाषियों की संस्कृति का प्रभाव चीनी संस्कृति पर पड़ा है।

किसी भाषा का शब्दकोष उसकी संस्कृति को बड़ी सफाई से व्यक्त करता है। जैसे अंग्रेजी, अरबी तथा संस्कृत भाषा के अभिवादन वाची शब्द तीनों संस्कृतियों की कतिपय विशेषताओं को अलग-अलग ढंग से व्यक्त करते हैं। जैसे अंग्रेजी में समय की भिन्नता के अनुसार good moning, good noon, good after noon, good night नाम अंग्रेजी संस्कृति परिवर्तनशील विशेषताओं को व्यक्त करते हैं। How do you do पदावली उनकी संस्कृति की कृत्रिमता को प्रगट करती है। मुसलमानों में एक मुसलमान दूसरे मुसलमान से मिलने पर अज सलामालेकुम् कहता है दूसरा मुसल-

मान भी उत्तर में आलेकुमसलाम् कहता है। जिसका अर्थ है तुम्हें शान्ति मिले। इससे यह विदित होता है कि सेमटिक संस्कृति में आपस में भाई चारे का व्यवहार बहुत अधिक है। हिन्दुओं में प्रणाम, नमस्ते, नमस्कार आदि अभिवादनवाची शब्द हिन्दू संस्कृति की सरलता, श्रद्धा-विनय, शाश्वतंतों को व्यक्त करते हैं।

संस्कृत भाषा का स्वतंत्रता शब्द भारतीय संस्कृत में आत्मानुशासन की विशेषता को व्यक्त करता है। अंग्रेजी में इसका पर्यायवाची शब्द Independence अनधीनता का अर्थ व्यक्त करता है जिसमें संस्कृत भाषा के स्वतंत्रता शब्द में निहित आत्मानुशासन की भावना नहीं है। संस्कृत का आचार्य शब्द अपनी व्युत्पत्ति "आचारम् ग्राह्यति इति आचार्यः" द्वारा भारतीय शिक्षा में चरित्र की महत्ता को व्यक्त करता है; किन्तु अंग्रेजी के प्रोफेसर शब्द में ज्ञान का प्राधान्य है जो अंग्रेजी संस्कृति की बुद्धिवादी विशेषता को प्रगट करता है। इसी प्रकार संस्कृत भाषा का छात्र शब्द गुरु-शिष्य के घनिष्ठ सम्बन्ध, परस्पर संरक्षण भाव को व्यक्त करते हैं किन्तु अंग्रेजी के student शब्द में केवल अध्ययन की भावना है, दोनों के घनिष्ठ सम्बन्ध या संरक्षण की भावना नहीं है। संस्कृत भाषा के श्रद्धा जैसा शब्द अंग्रेजी भाषा में नहीं है। अंग्रेजी के faith शब्द में श्रद्धा शब्द का एक ही तत्त्व-विश्वास तत्त्व निहित है। किन्तु श्रद्धा में निहित विश्वास, हृदय-समर्पण, पूज्य बुद्धि-विनय आदि भावनायें भारतीय संस्कृत की हृदयवादी विशेषता को व्यक्त करती हैं। इसी प्रकार समीक्षा शब्द अंग्रेजी के Criticism शब्द से अधिक व्यापक है। रस जैसा उदात्त तथा व्यापक शब्द अंग्रेजी समीक्षा में नहीं है। भारतीय साहित्य शास्त्र के ये दोनों शब्द भारतीय संस्कृति की व्यापकता के सूचक हैं। जनवासा शब्द का तत्सम रूप है यज्ञवासक। यज्ञवासक शब्द बताता है कि भारतीय संस्कृति में विवाह एक प्रकार का यज्ञ समझा जाता था। इस अर्थ का द्योतक शब्द अंग्रेजी में नहीं है। यज्ञवासक शब्द यह प्रगट करता है कि भारतीय संस्कृत में विलासिता का स्थान नहीं था। इसी प्रकार संस्कृत का विद्या और अंग्रेजी का Education शब्द अलग-अलग अपने बोलने-वालों की सांस्कृतिक विशेषताओं को प्रगट करते हैं। विद्या शब्द का अर्थ है किसी वस्तु की वास्तविकता को जानना। Education का अर्थ है to bring out the inner faculty of the child अर्थात् बच्चे की आन्तरिक शक्तियों का विकास करना। विद्या शब्द बताता है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली दार्शनिक थी। वह सूक्ष्म तत्त्वों की पहचान पर

जोर देती थी। इसकी तुलना में पश्चिमी शिक्षा व्यक्ति के विकास पर जोर देती थी।

जिस भाषा का शब्दकोष हीनता कोटि का होगा उसके बोलनेवालों की संस्कृति भी हीनतर कोटि की होगी। जैसे मुंडा भाषा में दस तक संख्यायें हैं। इसके अतिरिक्त बीस के लिए शब्द है। इन्हीं ग्यारह संख्याओं की सहायता से कुछ घटा कर कुछ बढ़ा कर कुछ और संख्यायें बना ली जाती हैं। संख्यावाची शब्दों की न्यूनता इस बात को प्रमाणित करने में पूर्णतः समर्थ है कि मुंडा जाति की संस्कृति बहुत हीनतर कोटि की है।

सांस्कृतिक प्रभाव के कारण भाषा में पर्याप्त कोटि का विकास होता है। सांस्कृतिक संस्थाओं से किसी भाषा के प्राचीन शब्द उसमें एक बार फिर आ जाते हैं। साथ ही इन सांस्कृतिक संस्थाओं से विचार में भी परिवर्तन आ जाता है। इससे अभिव्यक्ति की शैली में भी अन्तर उपस्थित हो जाता है। उन्नीसवीं सदी के अन्त तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भ में आर्य-समाज के आन्दोलन के कारण हिन्दी भाषा में बहुत से संस्कृत के शब्द अपने तत्सम रूप में प्रविष्ट हो गये। अपने युग का सबसे बड़ा सांस्कृतिक व्यक्ति भी भाषा को काफी प्रभावित करता है। जैसे, गान्धीजी के कारण हिन्दी की हिन्दुस्तानी शैली को काफी शक्ति मिली। दो संस्कृतियों के सम्मिलन से भी भाषा में काफी परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। जैसे, भारत में द्रविड़ों तथा आर्यों, आर्यों तथा यवनों, हिन्दुओं तथा मुसलमानों, भारतीयों तथा यूरोपवालों के सम्मिलन से भाषा पर दो प्रकार के प्रत्यक्ष प्रभाव पड़े। भाषाओं में परस्पर शब्दों की लेन देन हुई, नई ध्वनियों का आगमन हुआ। दो संस्कृतियों के मिलन से उनके अनुयायियों में परस्पर विचार-विनिमय के कारण एक दूसरे के साहित्य, कला आदि का भी प्रभाव, एक दूसरे पर पड़ता है। इस प्रभाव से भी भाषा की गठन, अभिव्यक्ति-पद्धति, मुहावरे, शब्दकोष आदि पर प्रभाव पड़ता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान तथा संस्कृति में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

भाषा-विज्ञान और दर्शन का सम्बन्ध—भाषा-विज्ञान और दर्शन का सम्बन्ध इतिहास के समान प्रकृत कोटि का नहीं है, क्योंकि भाषा-विज्ञान की किसी शाखा से उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष कोटि का नहीं है। वस्तुतः भाषा-विज्ञान में सामान्य भाषा-दर्शन का सम्बन्ध दर्शन से घनिष्ठ कोटि का है। वस्तुतः दर्शन सामान्य मानवीय भाषा की निम्नांकित बातों पर विचार करता है—सामान्य मानवीय भाषा सांकेतिक क्यों होती है? उसके संकेत कैसे बनते हैं?

उसके संकेतों के निर्माण की शर्तें कौन-कौन सी हैं ? वह किस प्रक्रिया से अस्तित्व में आती है ? उसकी सारभूत वस्तु क्या है ? उसकी नींव कब और कैसे पड़ती है, उसके निर्माणकारी मूलभूत तत्त्व कौन-कौन से हैं ? भाषा का सत्य क्या है। भाषा की प्रकृति कैसी होती है। भाषा का धर्म क्या है। वह भाषा में कैसे आता है; परिभाषा किसे कहते हैं, वह कैसे बनती है ? शब्द क्या है, कैसे बनता है ? अर्थ क्या है और कितने प्रकार होता है और वे सब प्रकार कैसे बनते हैं। पद क्या है ? और वे कैसे अस्तित्व धारण करते हैं। संज्ञा, सर्वनाम, कारक, विशेषण क्या हैं। उद्देश्य, विधेय क्या हैं उनका सम्बन्ध किस प्रकार का होता है ?

दर्शन के उपर्युक्त भाषा-सम्बन्धी विवेच्य विषयों को देखकर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि दर्शन सामान्य मानवीय भाषा के सूक्ष्म तत्त्वों पर विचार करता है, दार्शनिकों ने विचारों के माध्यम के रूप में सामान्य मानवीय भाषा की गहरी छान-बीन की है। निर्दिष्ट प्रेषणीयता के सूक्ष्म नियमों का निर्धारण दार्शनिक लोग ही करते हैं। दार्शनिक और भाषाशास्त्री दोनों शब्द, पद रूप अर्थ, उद्देश्य, विधेय, वाक्य, कर्म (object) आदि पर विचार करते हैं। भाषा-शास्त्री का विवेचन जहाँ स्थूल होता है वहाँ दार्शनिक का विवेचन सूक्ष्म होता है। दोनों की पारिभाषिक पदावली कई स्थलों पर एक हो जाती है। वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त कई पारिभाषिक पद दार्शनिकों द्वारा आविष्कृत हुए हैं। हमारे सांस्कृतिक एवं सभ्यतागत जीवन के बहुत से पद दार्शनिकों द्वारा आविष्कृत हुए हैं। यदि दार्शनिक किसी ऐसे सूक्ष्म भाव या तथ्य का आविष्कार करता है जो अभूतपूर्व कोटि का है तो उसका वाचक शब्द भी उसी के द्वारा आविष्कृत होता है। वेदों, उपनिषदों तथा भर्तृहरि के वाक्यपदीय में भाषा की व्याख्या बहुत दूर तक दार्शनिक कोटि की है।

राजनीति और भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध—आज राजनीति का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। अतः भाषा-विज्ञान या भाषा पर उसका प्रभाव होना स्वाभाविक है। किसी भाषा को राज-भाषा के पद पर आसीन करने में राजनीति का सबसे अधिक हाथ रहता है। ६०० ई० से १००० ई० तक अपभ्रंश भारत की राजभाषा रही—इसका कारण राजनीतिक है। यदि उपर्युक्त काल के बीच आभीर जाति का राज्य भारत के अधिकांश हिस्से पर न होता तो वह कभी भी भारत की राजभाषा न बन पाती। इसी प्रकार मुगलों के राजत्व काल में भारत की राजभाषा उर्दू रही, अंग्रेजों के राजत्व काल में भारत की राजभाषा अंग्रेजी रही और साम्प्रात भारत की राजभाषा हिन्दी

घोषित की जा चुकी है इसका कारण राजनीतिक है। ज़ार के समय में लिथूनियन और लेटिश भाषा के पद पर आसीन नहीं थी, केवल विभाषा मात्र थी। किन्तु प्रथम पद के पश्चात् लिथूनियन और लेटिश रिपब्लिक बनने या राजनीतिक कारणों से ही लिथूनियन तथा लेटिश भाषायें भाषा पद पर आसीन हो गईं। किंतु ये दोनों देश जब सोवियट यूनियन में मिल गये तो राजनीतिक कारणों ने ही इन्हें भाषा-पद से च्युत कर दिया। इसी प्रकार राजनीतिक कारणों के ही बल से मास्को की भाषा रूस में, टोकियो की भाषा जापान में तथा पेकिंग की भाषा चीन में राजभाषा के पद पर आसीन हो गई है। जब एक विदेशी जाति दूसरी जाति पर अपना प्रभुत्व जमा लेती है तो पराजित जाति की भाषा में परिवर्तन काफी तेजी से होता है। विजेता जाति पराजित जाति के शब्दों का उच्चारण अपने ढर्रे पर करने लगती है, और पराजित जाति हीनता के भाव के कारण विजयी जाति के उच्चारण के ढंग का अनुकरण करने में गौरव का अनुभव करती है। अंग्रेजों के उच्चारण के अन्धानुकरण से बहुत से भारतीय परतंत्रता के जमाने में मथुरा, बनारस, बम्बई, कालिकापुरी, हैदराबाद का उच्चारण मुतरा, बेनारस, बाम्बे, हैडराबाद, कलकटा करने लगे थे। मुस्लिम काल में हिंदू लोग अपना शुद्ध हिंदी नाम रखने में शरमाने लगे थे। फलतः नामों में आधा शब्द हिंदी आधा उर्दू का दिखाई पड़ता था। रामइकबाल सिंह, रामबहादुर सिंह, रामचीज सिंह, रामबख्श सिंह इसी पद्धति के नाम हैं। कभी-कभी पूरा नाम उर्दू का रहता था। जैसे, शमशेर बहादुर-सिंह, गफूर सिंह, आधुनिक युग में विहार के प्रसिद्ध कवि आर० सी० प्रसाद सिंह भी कुछ इसी तरह का नाम है। अंग्रेजों के राजत्व काल में पढ़े लिखे लोग भी रामदेव मिश्र की जगह आर मिश्रा, धर्मप्रकाश गुप्ता की जगह डी० पी० गुप्ता लिखना और कहलवाना अधिक उचित समझने लगे थे।

भारतीय भाषाओं में अरबी, फारसी, तुर्की, अंग्रेजी फ्रेन्च, पुर्तगीज आदि भाषाओं के शब्दों का अस्तित्व हमारी पिछली आठ नौ सौ साल की राजनीतिक गुलामी का परिचायक है। अंग्रेजी भाषा तथा अंग्रेजों के राजनीतिक प्रभाव के कारण कुछ लेखक अंग्रेजी में सोचने लगे थे। वे अंग्रेजी में सोच कर जब हिन्दी में लिखते थे तब उनके वाक्यों की बनावट अंग्रेजी वाक्यों के ढंग की हो जाती थी। फलतः हिन्दी वाक्य-रचना पर अंग्रेजी वाक्य-रचना की काफी छाया दिखायी पड़ती है।

संयुक्त प्रान्त एवं पंजाब की हिन्दी-उर्दू समस्या पिछले तीन सौ वर्षों की राजनीतिक विषमता की उपज है। हिन्दी-उर्दू के प्रश्न को जटिल करके ही

कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों ने भारतीयों में फूट डालने में सफलता प्राप्त की और देश को दो टुकड़ों में बाँट दिया। साम्प्रत पंजाब और आसाम में उठी हुई भाषा-समस्या राजनीतिक कारणों से ही उत्पन्न हुई है।

द्राविड़ परिवार में पिल्ला शब्द मनुष्य के छोटे बच्चे के लिए प्रयुक्त होता है पर आर्यों ने राजनीतिक घृणावश उस शब्द को कुत्तों के बच्चों के लिए प्रयोग करना आरम्भ किया। फ्रेंच भाषा में बुरजुआ शब्द अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होता है। कम्युनिस्टों ने उसके अर्थ में विलासी तथा शोषक प्रवृत्ति का पुट भर हीनता ला दी है। हरिजन का अर्थ भक्त से अछूत क्यों हो गया—इसका कारण राजनीतिक है। कांग्रेस शब्द में जो दिव्यता, उच्चता और पवित्रता की भावना थी वह कांग्रेसियों की स्वार्थपरायणावृत्ति के कारण नष्ट हो गई। संभव है कांग्रेसियों के पतन के साथ वह शब्द और भी गिरे। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनि परिवर्तन, शब्द समूह परिवर्तन, वाक्य परिवर्तन तथा अर्थ परिवर्तन के अनेक प्रकारों में राजनीतिक कारण काम करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

भाषा-विज्ञान तथा मनोविज्ञान—भाषा के आन्तरिक रूप में मनोविज्ञान तथा भाषा-विज्ञान सम्बन्धित है जैस्पर्सन तथा सैंथल आदि भाषाविदों ने भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में मनोविज्ञान की महत्ता स्थापित कर दी है। आधुनिक युग में ध्वनि परिवर्तन, शब्द परिवर्तन, वाक्य परिवर्तन, अर्थ परिवर्तन एवं भाषा उत्पत्ति तथा विकास के समझने में मनोविज्ञान से बहुत सहायता ली जा रही है। भाषा-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के घनिष्ठ सम्बंध का पता इस तथ्य से पर्याप्त मात्रा में चल जाता है कि दोनों के सम्मिलित अध्ययन के रूप में मनोविज्ञान की एक नई शाखा चल गई जिसे (Linguistic psychology) कहते हैं। विचारों तथा भावों के नियम भाषा को भी शासित करते हैं। इसलिए भाषा-विज्ञान मनोविज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकता। भाषा-विज्ञान तथा मनोविज्ञान में एक और सम्बंध सूत्र है—वह यह कि दोनों का भाषा के प्रति वास्तविक दृष्टिकोण रहता है। दोनों में क्या होना चाहिए की अपेक्षा 'क्या होता है' पर अधिक दृष्टि रहती है। भाषा-विज्ञान मनोविज्ञान के समान अशुद्ध प्रयोगों को शुद्ध प्रयोगों के बराबर का महत्व देता हुआ उनमें विकास के सूत्रों की खोज करता है। मनोवैज्ञानिक के समान भाषा वैज्ञानिक भी भाषा के प्रमाण तथा आदर्श से फिसलने तथा विचलित होने के मानसिक कारणों को बताकर उसकी स्वाभाविकता पर बल देता है। भाषा-विज्ञान भाषा सम्बंधी मर्यादाओं के उल्लंघन को मान्यता

देता है। मनोविज्ञान उन उल्लंघनों की व्याख्या कर भाषा-विज्ञान के नियमों को निश्चित तथा व्यवस्थित कर देता है। इस प्रकार भाषा-विज्ञान तथा मनोविज्ञान दोनों की प्रकृति प्रगतिशील कोटि की है।

भाषा हमारे विचारों, भावों, इच्छाओं, अनुभूतियों, आज्ञाओं, आदर्शों, विनयों आदि की वाहिनी है और इन सबका सीधा सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। वस्तुतः चित्तवृत्ति, प्रवृत्ति, इच्छा, भाव, मनोवेग, विचार, अनुभूति आदि एक प्रकार की मानसिक क्रियायें हैं और इन सभी मानसिक क्रियाओं का व्यक्त आधार भाषा है। विचारों तथा भावों के उठने का आधार तथा कसौटी भाषा है। विचार तथा भाव का उद्देश्य अभिव्यक्ति है जो भाषा के बिना असंभव है। हम किसी-न-किसी मनःप्रवृत्ति, भाव, विचार आदि से प्रेरित होकर भाषा का प्रयोग करते हैं। इसीलिए भाषा एक प्रकार की मानसिक क्रिया कही जाती है। और इधर भाषा की क्रिया-प्रक्रिया सभी का सम्बन्ध हमारे मानसिक जगत से है। शब्दों के द्वारा विचारों का आदान-प्रदान, संरक्षण, प्रसार और विकास भी होता है और इधर विचारों के विकास के साथ-साथ भाषा का भी विकास हुआ है। सबसे आदिम काल में पहले-पहल भाषा ने विचार को जन्म दिया अथवा विचार ने भाषा को पैदा किया यह तथ्य बहुत ही विवादास्पद कोटि का है किंतु भाषा तथा विचार के अन्योन्याश्रित सम्बंध में किसी को संदेह नहीं। भाषा के बिना विचार अव्यक्त, अस्पष्ट तथा अग्राह्य है, और बिना विचार के भाषा निष्प्राण, निस्तेज तथा निरर्थक है। विचार-विज्ञान में भाषा के अध्ययन का महत्त्व इसलिए है कि स्पष्ट विचार के लिए स्पष्ट भाषा का साधन आवश्यक है। भाषा के अस्पष्ट, क्लिष्ट तथा अशुद्ध प्रयोग से विचार भी अस्पष्ट, गूढ़ तथा अशुद्ध हो जाते हैं। बचपन में शिशु के पास भाषा थोड़ी रहती है। अतः उसके पास विचार भी थोड़े रहते हैं। अनपढ़ आदमियों के पास शब्द-भण्डार थोड़ा रहता है। इसी कारण उनमें सूक्ष्म विचार नहीं उत्पन्न हो सकता।

भाषा आदत से अर्जित होती है और आदत का सम्बंध मनोविज्ञान से है। भाषा की आंतरिक गुत्थियों को सुलझाने में भाषा-विज्ञान मनोविज्ञान से बहुत सहायता लेता है जैसे, भाषा-उत्पत्ति, सादृश्य सिद्धांत आदि के समझने में। भाषा के दो पक्ष होते हैं—एक भौतिक तथा दूसरा मानसिक। मानसिक पक्ष का सम्बंध मनोविज्ञान से है। भाषा,नियमों तथा सिद्धांतों के वास्तविक अनुशीलन के लिए मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक है। बच्चे की भाषा के विकास के अध्ययन द्वारा भाषा उत्पत्ति, विकास तथा उसके सामान्य सिद्धांतों पर प्रकाश

पड़ता है। भाषा-परिवर्तन तथा विकास के मूल कारणों का सम्बंध मनोविज्ञान से है—

सार्थक ध्वनियों के उच्चारण की प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक है। इसी को समझाते हुए पाणिनी कहते हैं :—

आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो संयुक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहत्य स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पंचधा स्मृतः।

❀ ❀ ❀

हमारी आत्मा जब बुद्धि के साथ मिलकर कोई बात समझता है, तब बोलने की चाह उत्पन्न होती है, तदनन्तर बोलने की चाह से मन जुड़ता है। तत्पश्चात् मन शरीर के भीतर की आग को भड़काता है। और वह आग वायु को झकझोरती है। वह वायु हृदय में पहुँचकर धीरे-धीरे गूँजता है। और तब वह वहाँ से ऊपर चढ़कर सिर से टकरा कर मुँह में पहुँचता है। मुँह में पहुँच कर बहुत सी ध्वनियाँ वायु के संस्पर्श से उत्पन्न होती हैं। ध्वनि-परिवर्तन सर्वाधिक मात्रा में मनोवैज्ञानिक कारणों से घटित होते हैं। ध्वनि-परिवर्तन के सभी आंतरिक कारण—मुख-सुख, प्रयत्न लाघव, कोमलीकरण या सरलीकरण की प्रवृत्ति, अज्ञान, अनुकरण की अपूर्णता, आलस्य या असावधानी, बोलने में शीघ्रता, भावुकता, व्यंग्य, विनोद अपनी बोली की ढलन पर विदेशी शब्दों को बोलने की प्रवृत्ति बन कर बोलने की प्रवृत्ति, भावुकता, मिथ्या पांडित्य प्रदर्शन, अंधविश्वास आदि का सम्बंध मानसिक जगत या मनोविज्ञान से है।

शब्दों के प्रयोग की बनावट, विकास, ह्रास के अनेक कारण मानसिक होते हैं। वाक्य-विज्ञान के अध्ययन में भी मनोविज्ञान से पर्याप्त सहायता ली जाती है। बोलनेवालों की मानसिक स्थिति में परिवर्तन होने से वाक्य के स्वरूप तथा क्रम में परिवर्तन हो जाता है; जैसे युद्धकालीन व्याख्यानों में वाक्य बहुत सीधे होते हैं; दुख-गाथा कहते समय वाक्य बहुत ही अतिशयोक्तिपूर्ण भी हो जाते हैं। बल देते समय वाक्य की पुनरावृत्ति हो जाती है और क्रोध के समय वाक्य के क्रम में परिवर्तन हो जाता है। सौंदर्यानंद की अभिव्यक्ति के समय वाक्य अपेक्षाकृत लम्बे तथा अलंकृत हो जाते हैं। इस प्रकार वाक्य-विज्ञान से मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अर्थ-विज्ञान भाषा और विचार के सम्बंध पर प्रकाश डालता है। अर्थ-विज्ञान के अधिकांश कारण, जैसे—अशोभन के लिए शोभन भाषा के प्रयोग में, नम्रता-प्रदर्शन में, सादृश्य में, किसी राष्ट्र, जाति या वर्ग के प्रति सामान्य मनोभाव में, व्यंग्य, भावावेश, अलंकार, प्रयोग, विशेषीकरण, भेदीकरण, औपचारिक प्रयोग आदि में मानसिक कारण दिखाई पड़ते हैं।

दूसरी ओर मनोविज्ञान भी भाषा-विज्ञान से कम सहायता नहीं लेता; प्राचीन मनोविज्ञान के समझने में भाषा-विज्ञान प्राऐतिहासिक कालीन शब्दों के अनुशीलन द्वारा बहुत सहायता पहुँचाता है। पागलों के मनोवैज्ञानिक उपचार में उनके द्वारा कही गई बातों के विश्लेषण में भाषा-विज्ञान से पर्याप्त सहायता ली जाती है। उनकी बातों द्वारा ही उनका मानसिक ग्रन्थियों तथा गुत्थियों का पता लगता रहता है। भाषा के सहारे ही मनोविज्ञान आगे बढ़ता है। भाषा की सहायता के अभाव में मानसशास्त्र अपने वर्ण्य भाव, विचार, कल्पना, निरीक्षण, समन्वीकरण आदि का विश्लेषण नहीं कर सकता।

भाषा विज्ञान तथा शिक्षा का सम्बन्ध :— भारतवर्ष में प्राचीनकाल में भाषा-विज्ञान के प्रमुख अंग ध्वनि-तत्त्व की इतनी अधिक प्रधानता थी कि उच्चारण सिखानेवाली विद्या का ही नाम शिक्षा था। भारत की प्राचीन शिक्षा में स्वरों के शुद्ध उच्चारण का इतना अधिक महत्व था कि उदात्त स्वर के स्थान पर यदि कोई छात्र अनुदात्त स्वर का प्रयोग करता तो उसका शिक्षक तुरत उसे थप्पड़ लगाता था। सकल शास्त्र विशारद किन्तु व्याकरण-विद्याहीन भ्रष्ट उच्चारण करनेवाले पुत्र को उसके वैयाकरण पिता द्वारा दी हुई सीख भी शिक्षा का सम्बन्ध भाषा-विज्ञान के प्रमुख अंग व्याकरण से घनिष्ठ रूप से निरूपित करती है। जार्ज सैम्पसन के मत में ध्वनि-शिक्षा से अनभिज्ञ भाषा-शिक्षक वैसे ही निरर्थक है, जैसे शरीर-विज्ञान से अनभिज्ञ चिकित्सक। वन राइपर के मत में भी ध्वनि-शिक्षा-विहीन प्राध्यापक भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में निरक्षर कोटि का है। ध्वनि-विज्ञान जाननेवाला अध्यापक विदेशी भाषा की शिक्षा जितनी सफलता, सुगमता तथा शीघ्रता से दे सकता है, उतना उससे अपरिचित अध्यापक नहीं। किसी भी भाषा के उच्चारण की शुद्धता के लिए ध्वन्यात्मक विश्लेषण आवश्यक है तथा ध्वनियों के विश्लेषण के लिए ध्वनि-प्रशिक्षण अनिवार्य। एक उच्चारण-पद्धति के स्थान पर दूसरी उच्चारण-पद्धति को अपनाने में सबसे अधिक सहायता ध्वनि-विज्ञान का ज्ञान देता है। ध्वनि-तत्त्व के ज्ञान

के अभाव में अपनी भाषा के ध्वन्यात्मक स्वरूप को पूर्ण रूप से समझ लेना कठिन है। विदेशी शब्दों का उच्चारण हिन्दी-भाषा में उसकी निजी प्रवृत्ति के अनुसार होना चाहिए, जैसे आहिस्तः तथा हमेशः का उच्चारण हिन्दी में आहिस्ता तथा हमेशा ठीक है। यहाँ प्रश्न यह है कि हिन्दी की प्रवृत्ति का ज्ञान कैसे होगा। उत्तर है, भाषा-विज्ञान की जानकारी से। उच्चारण संबंधी दोष इंग्लैण्ड में 'स्पीच-थेरापी' से दूर किये जा रहे हैं। त्रुटिपूर्ण अभ्यास से उत्पन्न उच्चारण-संबंधी दोष वक्ता में तभी आता है, जब वह स्वरों या व्यंजनों के वास्तविक स्वरूप पर विशेष ध्यान नहीं देता। ध्वनि-विज्ञान की सहायता से इस प्रकार के दोष दूर किये जा सकते हैं।

संगीत-प्रशिक्षण में भी ध्वनि-विज्ञान का महत्त्वपूर्ण योग है। संगीत-क्षेत्र में स्वरों का आरोह-अवरोह, ध्वनियों की प्रकृति, ध्वनि-माया आदि भली-भाँति समझने के लिए ध्वनि-विज्ञान की शिक्षा आवश्यक है। **सा रे ग म** आदि शास्त्रीय स्वरों की पहचान ध्वनि-विज्ञान के ज्ञान के अभाव में ठीक तरह की नहीं हो सकती। कविता का आदर्श पाठ-ध्वनि-विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान के अभाव में सम्भव नहीं। संगीत तथा कविता के आदर्श पाठ का शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार शिक्षा का भाषा-विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अंग्रेजी भाषा की उच्चारण सम्बन्धी विषमता को दूर करने के लिए आजकल ध्वनि-विज्ञान का बहुत उपयोग किया जा रहा है। शार्टहैण्ड, टेलीग्राफिक कोड तथा अंधों के लिए लिपि बनाने में ध्वनि-विज्ञान पर्याप्त सहायता पहुँचा रहा है। सदोष लिपियों के संशोधन तथा वैज्ञानिक लिपियों के निर्माण में ध्वनि-विज्ञान बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। सैकड़ों अफ्रीकी और अमरीकी भाषाओं का ध्वन्यात्मक विश्लेषण करके उनकी उत्तम लिपियाँ बनाई गई हैं। वर्तमान समय में अंग्रेजी भाषा की लिपि की अवैज्ञानिकता को दूर करने के लिये ध्वनि-विज्ञान का बहुत उपयोग किया जा रहा है। लिपि का शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः इस प्रकार भाषा-विज्ञान का शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है।

ध्वनि प्रकिया विचार में व्युत्पत्ति विचार आता है। इधर भाषा की शिक्षा में व्युत्पत्ति पढ़ाई जाती है। ध्वनि परिवर्तन की दिशाओं से परिचित हुए बिना कोई व्यक्ति किसी शब्द की व्युत्पत्ति नहीं निकाल सकता और शब्दों की व्युत्पत्ति से परिचित हुए बिना कोई उनकी आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो सकता। भाषा शिक्षा में व्युत्पत्तिविचार से भाषा-विज्ञान से शिक्षा का सम्बन्ध घनिष्ठ कोटि का स्थापित करता है।

रूप-विचार में शब्दों के परस्पर सम्बन्ध-तत्व तथा व्याकरणिक रूपों तथा तत्त्वों का विचार किया जाता है। रूप-विचार यह बताता है कि किसी भाषा के नये शब्द कैसे गढ़े जाते हैं ? पारिभाषिक पदावली बनाने की विधि क्या है ? शब्दकोश तैयार करने की पद्धति क्या है ? विदेशी भाषा के शब्द स्वदेशी भाषा में कैसे पचाये जाते हैं ? उनका रूप विभिन्न विभक्तियों, लिङ्गों तथा वचनों में किस ढंग से बनता है ? उनका उच्चारण किस प्रणाली से होता है ? शब्द-रचना, पारिभाषिक पदावली के निर्माण, शब्द-कोश की रचना, स्वदेशी भाषा में विदेशी भाषा के शब्दों की प्रयोग-पद्धति का शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान है इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन भाषा-विज्ञान तथा शिक्षा के सम्बन्ध को घनिष्ठ बनाता है। अर्थ-विज्ञान के अनुशीलन से विचारों में अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता, शुद्धता आती है। अध्ययनजन्य समझ शुद्धतर एवं तीव्रतर कोटि की होती है तथा लेखन-कार्य अधिक उच्चतर एवं प्रभावित कोटि का हो जाता है। विचार, समझ तथा लेखनशैली का सम्बन्ध शिक्षा से है। इस प्रकार अर्थ-विज्ञान द्वारा भाषा-विज्ञान का शिक्षा से घनिष्ठ सम्बंध स्थापित होता है। भाषा पढ़ाते समय मुहावरों को ठीक-ठीक वही समझा सकता है जो उनकी उत्पत्ति, प्रयोग तथा प्रचार को कारण सहित समझा सके। और यह कार्य भाषा-तत्त्व-विद् ठीक-ठीक प्रकार से जान सकता है।

जिस बच्चे की भाषा-शक्ति जितनी अच्छी होगी वह उतनी ही अधिक मात्रा में उस विषय के माध्यम से दी गई शिक्षा को अधिकाधिक ग्रहण कर सकेगा। व्याकरण-शिक्षण में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान बहुत योग देता है।

अंग्रेजी वर्णविन्यास, हिन्दी वर्णविन्यास तथा हिन्दी-लिङ्ग-निर्णय में कुछ सुधार शिक्षा की दृष्टि से सोचा जा रहा है, पर कैसा सुधार हो, किस नियम के अनुसार सुधार हो, यह भाषा-विज्ञान ही वैज्ञानिक ढंग से बता सकता है। हमारे पाठ्यक्रम में राष्ट्रभाषा, मातृभाषा तथा सांस्कृतिक भाषा एवं अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का क्या स्थान हो ? प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा का क्या माध्यम हो ? केन्द्र तथा प्रान्तों में राजकाज की भाषा क्या हो ? आदि भाषा सम्बन्धी समस्याओं का उत्तर भाषा-वैज्ञानिक जितनी वैज्ञानिकता से दे सकता है उतना और किसी विषय का ज्ञाता नहीं।

शिशु-कक्षा में आरंभिक भाषा-शिक्षण की वैज्ञानिक पद्धति वाक्य-प्रणाली

ही है। इसके आविष्कार का श्रेय भाषा-विज्ञान को ही है। जब भाषा-विज्ञान के अनुशीलन से यह ज्ञात हुआ कि वाक्य ही भाषा का चरम अवयव है और वही पहले उत्पन्न हुआ। चाहे वह एक ही शब्द का क्यों न हो? शिशु में भाषा सीखने का आरंभ वाक्य से ही होता है, भले ही वह एक शब्द का क्यों न हो। इस ज्ञान से लाभ उठाने के पश्चात् शिक्षा-शास्त्री वाक्य-प्रणाली के आविष्कार में समर्थ हुए। उन्होंने सोचा कि जब बच्चा वाक्य से ही भाषा सीखना आरम्भ करता है तब आरंभ में शिशु को भाषा सिखाने का मनोवैज्ञानिक तरीका यही है कि उसे वाक्य-प्रणाली से ही भाषा की आरंभिक शिक्षा दी जाय। शिक्षा तथा भाषा-विज्ञान में आज इतना घनिष्ठ सम्बन्ध माना जा रहा है कि दोनों के सम्मिलित अध्ययन के रूप में भाषा-शिक्षा की एक नई शाखा Linguistic pedagogy चल गई है।

व्यक्तवाचांसमुच्चारणे भाषा। **(पाणिनि)**
व्यक्तवाचामित्युच्यते सर्व एव हि। व्यक्त वाचस्तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते।
साधीयो ये व्यक्तवाच इति। के च साधीयः।
येषां वाच्यकारादयो वर्णाः व्यज्यन्ते।
व्यक्ता वाचि वर्णा येषां त इमे व्यक्तवाच इति। **(महाभाष्य)**

भाषा की महत्ता

डा० रामलाल सिंह

हम अपने सामान्य जीवन में भाषा का प्रयोग अत्यन्त सरलता तथा स्वाभाविकता से करने के कारण सामान्यतः उसके महत्त्व पर उसी प्रकार ध्यान नहीं देते जैसे हम साँस लेते समय वायु को अत्यन्त सरलता तथा स्वाभाविकता से शरीर के भीतर खींचने के कारण साधारणतः उसकी महत्ता पर दृष्टिपात नहीं करते; किन्तु इससे न तो भाषा का महत्त्व घटता है न वायु का। प्रस्तुत विषय के अनुसार यहाँ भाषा के महत्त्व पर विचार करना है।

वैदिक ऋषियों ने अत्यन्त प्राचीन काल में ही भाषा का महत्त्व सहस्रों प्रकार से सहस्रमुखी कोटि का बताया था[1]। उनका यह मत आज भी उसी प्रकार मान्य है। यदि गंभीरता से विचार किया जाय तो यह विदित होगा कि वाक्-शक्ति के धारण से ही मनुष्य जानवरों की श्रेणी से अलग हुआ, इसी भाग के बल से वह समस्त जीवधारियों का शिरोमणि बना, इसी के द्वारा क्रमशः वह सामाजिक जीवन के निर्माण में समर्थ हुआ, इसी वाग्देवी का कृपापात्र बन वह मेधावी तथा प्रतिभाशाली बना, इसी की उपासना कर वह वाक्-तत्वज्ञ, कवि, आत्मतत्त्वज्ञ, ऋषि तथा ब्रह्मवित् बना, इसी के कारण वह आज तक की विकसित संस्कृति, सभ्यता तथा शिष्टता के आविष्कार में समर्थ हुआ, इसी वाग्बल के द्वारा वह अपनी समस्त शक्तियों, अनुभूतियों तथा ऐश्वर्यों के संचयन में सफल हुआ, इसी की प्रभुता से वह अपने समस्त यवहारों, कार्यों, व्यवसायों तथा पेशों के सम्पादन में दक्ष बना, इसी के वरदान से वह आज तक के समस्त शास्त्रों, विज्ञानों, कलाओं तथा वाङ्मयों के आविष्कार तथा विकास में सफल हुआ तथा इसी के कारण वह अपनी तथा विश्व की सभी प्रकार की प्रगतियों के सम्पादन में समर्थ हुआ। छान्दोग्योपनिषद् के सातवें अध्याय में नारद को उपदेश देते हुए सनतकुमार ऋषि ने भाषा के महत्त्व पर जो अपना विचार प्रगट किया है वह प्रस्तुत विषय की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उनका मत है कि यदि सृष्टि में

---

१. सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावत् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्।
ऋग्वेद १०—११४—८

वाक्तत्व न होता तो धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित, सहृदय-असहृदय, चित्तज्ञ-अचित्तज्ञ की पहचान, निराकरण, विवेचन तथा व्यवस्था न हो पाती। जो वाणी की ब्रह्म रूप से उपासना करता है उसी का भाषा पर पूर्ण अधिकार होता है और वही इस जीवन में अपने प्रयत्न के अनुसार शक्ति और सिद्धि प्राप्त करता है। इसीलिये आगे छान्दोग्योपनिषद् ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में बतलाया है कि वाक्तत्व ही पुरुष में सार भाग है[1]।

आचार्य भर्तृहरि के मत में शब्द-शक्ति ही समस्त प्राणियों में चैतन्य-रूप से वर्तमान है। इसकी सत्ता बाहर भीतर दोनों स्थानों में विराजमान है[2]। बाह्य जगत में यदि वह लोक व्यवहार का साधन है, तो अन्तर्जगत में सुखदुखादि के ज्ञान-स्वरूप प्रतिष्ठित है। समस्त प्राणि मात्र में ऐसा कोई नहीं है जिसमें यह शब्द शक्ति रूपी चैतन्य वर्तमान न हो। चित-क्रिया का उद्भव, स्थिति तथा विकास वाक्शक्ति के बिना असंभव है। भाषा की शक्ति जाग्रत अवस्था में ही नहीं अपितु स्वप्नावस्था में भी मनुष्य को कार्य में प्रेरित करती है। स्वप्नावस्था में जो कुछ विचार या कार्य होते हैं वे वाक्शक्ति के अभाव में असंभव सिद्ध होंगे।

वाणी से ही मनुष्य के सारे प्रयोजन हल होते हैं, इसी के द्वारा वह पदार्थात्मक जगत के विविध पदार्थों के प्रत्यभिज्ञान तथा उपयोग में समर्थ होता है, इसी शक्ति के द्वारा वह समस्त प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, विद्या-कला आदि के ग्रहण, वितरण तथा विवेचन में सफल होता है, इसी के माध्यम से वह समस्त प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति करता है, इसी का आश्रय ग्रहण कर वह अपने सभी पुरुषार्थों—अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष का उपार्जन करता है, वाणी के ही सूत्र से वह अपने समस्त सम्बन्धों के स्थापन तथा संरक्षण में समर्थ होता है, इसीलिए वाक्सूक्त में वाक् ने अपना स्वरूप विवेचन करते समय अपने को समस्त तत्वों का धारक कहा है :—

---

१. यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति। सयो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति। छान्दो ०—७—१—२ पुरुषस्य वाग्रसो… छान्दो।

२. सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते। तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु। वाक्यपदीय १—१२६

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ।

ऋ० १०-१२५-१

यह भाषा के ही सद्प्रयोग का चमत्कार है कि मधुर कलात्मक वाणी से पराये अपने, मक्खीचूस उदार तथा कुमार्गी सुपथगामी हो जाते हैं। मीठी बात से किसी को जितनी अधिक मात्रा में वश में किया जा सकता है उतना किसी और साधन से नहीं। महान कवि तुलसी के मत में भी किसी को वश में करने का एक ही मंत्र है कठोर वचन छोड़ देना।

वशीकरन इक मंत्र है तज दे वचन कठोर।

कठोर वचन से उच्चाटन होता है, लोग बिना मारे मर जाते हैं। मनुष्य को आकर्षक तथा विकर्षक बनाने में भाषा का बहुत बड़ा स्थान है। कोई स्त्री देखने में रूपवती हो तो आप उसकी ओर आकर्षित हो सकते हैं पर संयोग से यदि वह कर्कशा निकली तो आपकी वेदना, पीड़ा तथा निराशा की सीमा न रहेगी। इसके विपरीत यदि कोई स्त्री रूपवती न होते हुए भी मधुरभाषिणी हो तो आपके हृदय को जीत सकती है। मनुष्य का आकर्षक विकर्षक स्वरूप ही नहीं वरन् उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व जितना भाषा द्वारा निर्मित होता है कदाचित् उतना किसी दूसरे तत्व द्वारा निर्मित नहीं होता। क्योंकि भाषा से ही वह दूसरों के विचारों तथा प्रभावों के ग्रहण में समर्थ होता है। अधिकाधिक शब्द-ज्ञान का अर्थ है अधिकाधिक अनुभूति। यह प्रायः देखा गया है कि जो विद्यार्थी भाषा में अच्छा होता है वह दूसरे विषयों में भी अच्छा होता है। भाषा पर अच्छा अधिकार रखनेवाला व्यक्ति व्यापार, नौकरी आदि सभी पेशों में सफल हो सकता है। आजकल इन्टरव्यू प्रथा के आधिक्य का मूल कारण यही है कि आवेदक के ज्ञान, सभ्यता, संस्कृति का बहुत कुछ परिचय उसकी बातचीत से हो जाता है। जिस प्रकार मिट्टी के घड़े को बजाने या ठनठनाने से पता चलता है कि वह टूटा तो नहीं है उसी प्रकार किसी की बातचीत सुनने से पता चलता है कि उसका मस्तिष्क परिपक्व है या नहीं, उसकी संस्कृति उच्च स्तर की है या निम्न स्तर की। मनुष्य की वाणी से ही उसकी आत्मशक्ति, दृढ़ता, निर्बलता, विश्वास, धैर्य, क्षमा आदि का ज्ञान होता है। जिस प्रकार ओजस्विनी वाणी मनुष्य के उत्साह, दृढ़ता, निर्भीकता को व्यक्त करती है तद्वत् दीन वचन मनुष्य के दैन्य, निर्बलता, कायरता, भीरुता आदि को प्रगट करते हैं। भाषा से भले-बुरे की पहचान होती है—

भले बुरे सब एक सों जब लौं बोलत नाहिं ।
जान परत हैं काक पिक ऋतु बसन्त के माहिं ॥

यदि किसी को भाषा का ठीक प्रयोग आता है तो समझना चाहिए कि उसकी जिह्वा में अमृत का बास है—

जिभ्भा में अमृत बसै जो कोइ जानै बोल ।
बिस बासिक का ऊतरै जिभ्भा काहि हिलोल ॥

स्वरों तथा व्यंजनों के विशिष्ट क्रम, चयन, संयोग, आरोह, अवरोह से बिच्छू, सर्प आदि का विष उतर जाता है। इस वैज्ञानिक सत्य को समझकर ही ऋषिगण मंत्रों तथा स्तोत्रों को उच्च स्वर से उच्चारित करने का विधान बना गये हैं। तात्पर्य यह कि लिखित भाषा का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना मुखोद्गीर्ण भाषा का। इसका मूल कारण यह है कि लिखित भाषा के साथ वाणी का स्वर संयुक्त नहीं रहता। स्वर में एक विशिष्ट शक्ति होती है वह उन वायु-तरंगों को आन्दोलित करती है जो हमारे शरीर को ही नहीं अन्तस्तल को भी स्पर्श करती हैं। गांधीजी की सम्पूर्ण बातें आज लिखित रूप में वर्तमान हैं पर उनका प्रभाव पाठकों पर उतना नहीं पड़ता जितना उनके मुख से सुनी सस्वर वाणी का प्रभाव उस समय श्रोताओं पर पड़ता था। वाद्य-यंत्र के स्वर से प्रकर्ष गति रखनेवाली वर्णात्मक व्यक्त वाणी नहीं निकलती फिर भी हृदय पर उसका गहरा प्रभाव पड़ता है। वीणा की नाद पर रीझ कर मृग अपनी जान तक दे देता है। बैण्ड बाजे की ध्वनि सुनकर सैनिक युद्ध के लिये नाचने लगते हैं। स्वर के साथ जब सार्थक वाणी का संयोग होता है तो उसके मूल तत्व भाव या विचार विशेष रूप से उद्दीप्त होते हैं। सार्थक वाणी वायु-तरंगों को आन्दोलित करती हुई अपने स्वाभाविक मार्ग—कान से होकर श्रोता के अन्तस्तल में पहुँचती है। उसकी छाप लिखित भाषा से बहुत अधिक गहरी होती है। ध्वनि मात्र कान में पड़ने से सोता हुआ मनुष्य उठकर चैतन्य हो जाता है, फिर सार्थक वाणी सुनकर उसके भाव क्यों न जगेंगे ? लिखित भाषा अस्वाभाविक रीति से ज्ञान-क्षेत्र में प्रवेश करती है, उसको ग्रहण करने के पूर्व भावों को उत्तेजित करना पड़ता है। लिखित भाषा सस्वर भाषा के समान अपने ही आघात से श्रोता के भावना-भवन को नहीं खोल सकती। इसीलिए हम देखते हैं कि किसी की चिट्ठियों या पत्रों का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना उससे मिलकर बातें करने का। पत्रों के शब्द उतने चोट नहीं कर पाते जितने भाषण के शब्द; वायु द्वारा जिस प्रकार किसी पुष्प का सौरभ एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचता है, उसी प्रकार

वाणी द्वारा एक की भावना दूसरे के अन्तस्तल में सुगमता से पहुँच जाती है। मनुष्य मूलतः भावनामय होने के कारण वाणी द्वारा संचालित भावों की चोट से आन्दोलित हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो बातों की साधारण हवा से न तो कोई झूमने लगता और न कोई उद्विग्न होता।

जीवन की बड़ी-बड़ी उलझनें जो लिखा-पढ़ी तथा युद्ध से भी नहीं सुलझतीं वे चतुर वाग्-विशारदों की बातचीत से हल हो जाती हैं। यह भाषा का प्रभाव है कि हास्य-विनोद के दो चार वाक्य सुनकर लोग हँसने लगते हैं, उनके दिल की कली खिल जाती है, आदर-स्वागत का एक शब्द हृदय को द्रवित कर देता है, भाषा की मिठास या कटुता से लोग एक दूसरे के प्रिय तथा अप्रिय बन जाते हैं, मधुर सुन्दर शब्दावली के प्रयोग से प्रेमी प्रेम-पाश में आबद्ध हो जाते हैं, जीवन की मर्मभेदी पीड़ायें भाषा का माध्यम पाकर बह जाती हैं, जीवन को मुरझा देनेवाली थकान प्रिय के एक बोल से मिट जाती है, क्रोध पर तिरस्कार की एक बात दिल को जला देती है, कभी-कभी जीवन को मिटा देती है, व्यंग्य और ताने की एक बात भयंकर युद्ध तथा हत्यायें करा देती है, हँसी ठट्ठे की बात दो घरानों को मिटा देती है, अपमान की एक बात दो मित्रों के मन में गाँठ डाल देती है, दो सहोदर भाइयों को अलग करा देती है।'

शतपथ ब्राह्मण ने भाषा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए यह बताया है कि वाक् और मन अबिना भाव से रहनेवाले युगल हैं। वाक्तत्व के अभाव में न तो मन रह सकता है और न मनस्तत्व के अभाव में वाक्-तत्व[1]। इसीलिए जैमिनी उपनिषद का कहना है कि वाक्तत्व मनस्तत्व की नहर है[2] अर्थात् सभी मनोगत भाव वाक्तत्व की सहायता से व्यक्त किये जाते हैं।

वस्तुतः शब्द शक्ति की सत्ता से मनन शक्ति की सत्ता है, वाक्शक्ति द्वारा ही सारा संसार मनन करता है[3]।

शतपथ ने दूसरे स्थान पर बतलाया है कि वाक्तत्त्व ही बुद्धि तत्व है।

---

१. वागवै मनसो ह्रसीयसी शत० १—४—४—७ वाक् चमनश्च देवानां मिथुनम्। ऐ. ब्रा. ५।२३।

२. तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक्। जै. उ० १, ५८, ३।

३. वाचा हीदं सर्वं मनुते। वगावै मतिः। शत. ८, १, २, ७

भाषा की सहायता बिना कोई व्यक्ति सोच-विचार नहीं कर सकता। शब्द के अभाव में जो कुछ सोचा या विचारा जायगा वह बहुत अधूरा या अस्पष्ट होगा। जैसे शब्द के अभाव में गूँगों का चिन्तन एवं मनन बहुत अधूरा रहता है। उन अनपढ़ देहाती आदमियों का चिन्तन-मनन भी बहुत अस्पष्ट, अधूरा तथा स्थूल कोटि का होता है, जिनका शब्द-भंडार बहुत ही हीन कोटि का होता है। शब्द-भंडार का अर्थ है—अनुभव-भंडार। शब्द अनुभव-भंडार खोलने की कुंजी है। कोई वस्तु हमने देखी, उसका स्पर्श किया, उससे तुरंत एक प्रकार का अनुभव हुआ। तदनन्तर उसके नाम जानने की इच्छा होती है, केवल उस वस्तु का रूप देखकर समाधान नहीं होता अर्थात् हम अपने प्रत्येक अनुभव को शब्दसाँचे में ढालने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक शब्द एक विशिष्ट अनुभव तथा विचार का संकेत बनता है। किसी के पास जितने अधिक शब्द होंगे उतने ही अधिक विचार उसके पास होंगे, और जितने अधिक विचार जिसके पास होंगे उतना ही अधिक उसकी बुद्धि, उसका मन विकसित होगा। इसीलिए मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि जितना अधिक शब्द-भंडार होगा उतनी ही अधिक विकसित बुद्धि होगी[१]। भाषा द्वारा बुद्धि के प्रदीप्त एवं विकसित होने की क्रिया पर ध्यान रखकर भर्तृहरि ने यह ठीक ही कहा है कि ज्ञान में प्रकाशशीलता अर्थात् बोधन-शक्ति तभी तक है जब तक उसमें वाक्शक्ति विद्यमान है। यदि ज्ञान में से नित्य रूप से रहनेवाली वाकशक्ति निकल जाय तो ज्ञान किसी भी वस्तु का बोध नहीं करा सकता। इस अवस्था में ज्ञान की ऐसी ही स्थिति होगी जैसी चैतन्य-हीन आत्मा या तेजहीन अग्नि की[२]। शब्द-ज्योति की महत्ता का बखान आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में महत्वपूर्ण ढंग से निम्न श्लोक के अन्तर्गत किया है :—

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

(काव्यादर्श १—४)

---

1. Greater the Vocabulary better the intelligence.
L. R. Shukla

२. **वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदव बोधस्य शाश्वती। न प्रकाश: प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी। वाक्य १—१२४**

आचार्य पतंजलि के मत में वाक्तत्व सिद्धि का साधन है।[1] उन्होंने महाभाष्य में प्रश्न उठाया है कि शब्द-तत्व के ज्ञान में ही लक्ष्य की सिद्धि है अथवा उसके प्रयोग में। इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया है कि न केवल शब्द-तत्व के ज्ञान में ही इष्ट सिद्धि है और न केवल प्रयोग में अपितु दोनों के यथार्थ समन्वय।[2]

---

१. एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति। महा० ६—१—८४

२. आचारे नियमः शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयः। महा० आ० १

भाषा के प्रयोजन

भाषा के प्रयोजन दो प्रकार के होते हैं—वैयक्तिक तथा सामाजिक। क्रम के अनुसार सर्वप्रथम वैयक्तिक प्रयोजन पर विचार किया जायगा।

भाषा द्वारा व्यक्ति अपने मन की बात औरों से कहने में समर्थ होता है। इसलिए वह अपने मन की क्षुब्धता, आकुलता, रोष, शोक तथा पीड़ा को भाषा द्वारा कहकर अपने दुख के भार को या तो बिल्कुल बहा देता है या कम कर लेता है। भय की स्थिति में व्यक्ति भाषा द्वारा चिल्लाकर समर्थ सहायक को पुकारकर आत्म-रक्षा कर लेता है, मन के रोष को भाषा द्वारा प्रगट कर अपने शत्रु को भयभीत कर देता है, अपनी कठिनाई, पीड़ा, विवशता को भाषा द्वारा व्यक्त कर दूसरों की करुणा, सहानुभूति, प्रेम, सुझाव आदि को प्राप्त कर लेता है। अपने प्रेम-भाव तथा प्रेम-प्रस्ताव को व्यक्त कर दूसरे को अपने प्रेम-सूत्र में बाँध लेता है। शाबाशी, जोश तथा उत्साह की वाणी व्यक्त कर अपने वीर साथी को साहसिक युद्ध अथवा कार्य में अनुरक्त कर देता है। अपनी धारणा तथा विचार को ललित ढंग से कहकर श्रोताओं को प्रभावित कर उनसे अपनी बात मनवा लेता है। रोग-काल में अपने रोग के इतिहास, दुख, पीड़ा आदि को बताकर डाक्टर या वैद्य को उसका ठीक ज्ञान करा देता है। जानवरों के पास पशु-डाक्टर को बताने के लिए भाषा नहीं इसलिए उनके न मालूम कितने बच्चे रोगी होकर असहाय स्थिति में मरते रहते हैं। बड़े जानवर भी माता अथवा हैजा की बीमारी आने पर हजारों की संख्या में कुछ ही दिनों में मर जाते हैं। भाषा-शक्ति रखने के कारण ऐसे भयानक रोगों के प्रारम्भ होते ही मनुष्य उन्हें रोकने में समर्थ हो जाता है।

भाषा द्वारा व्यक्ति अपने मन की बात औरों से कहने की शक्ति में विकास कर, धीरे-धीरे उसका कलात्मक तथा रमणीय रूप आविष्कृत कर कहानी, कविता, उपन्यास आदि ललित कलाओं की सृष्टि में समर्थ हुआ। बेचारे पशु-पक्षी तथा अन्य जीव अपने मन की बात औरों से कहने की भाषा-शक्ति के रमणीय रूप के आविष्कार में असमर्थ रहे। इसलिए वे साहित्यकला, चित्रकला, स्थापत्यकला आदि का निर्माण नहीं कर सके। जिन जंगली जातियों के पास अपने मन की बात औरों से कहने की

फलतः उन बातों, तथ्यों तथा अनुभूतियों को सुरक्षित करने का प्रयत्न करता है। यदि मनुष्य को भाषा न मिली होती तो वह दूसरों की बात समझने में समर्थ न हुआ होता। तब वह पशु-पक्षियों के समान दूसरों की मूल्यवान् अनुभूतियों, अभिव्यक्तियों की उपयोगिता ही न समझता और तब ऐसी स्थिति में वह प्राचीन वाङ्मयों, शास्त्रों, काव्यों की रक्षा में सफल न हुआ होता। अर्थात् मनुष्य भाषा द्वारा दूसरों की बात तथा आवश्यकता समझने के कारण जगबीती तथा आपबीती की रखवाली में समर्थ होता है। और इस प्रकार अतीत के महान विचारों, आदर्शों की मूल्यवान सम्पत्ति अपनी भावी सन्तति की प्रेरणा तथा पथ-प्रदर्शन के लिये रख छोड़ता है। भाषा द्वारा दूसरों की बात समझने के कारण मनुष्य अपनी तथा दूसरों की आवश्यकता एवं परिस्थिति समझकर तदनुकूल व्यवहार करता है। भाषा द्वारा दूसरों की बात समझने की शक्ति से ही मनुष्य में अभिशंसन वृत्ति, साहाय्य भावना, करुणा, प्रेम, सहानुभूति, सहिष्णुता आदि उदात्त भावों का विकास हुआ। विकसित भाषा-शक्ति के अभाव में जानवरों के पास दूसरों की बात समझने की बहुत कम शक्ति है। इसलिए उनके पास शिक्षा पाने के लिए अवसर या क्षेत्र बहुत कम रहता है। इसीलिए वे जगबीती की रक्षा में समर्थ नहीं हो पाते। फलतः विकसित व्यक्तित्व नहीं बना पाते। भाषा द्वारा मनुष्य आजकल की दूसरों की कूटनीति, धूर्तनीति, कुभाव, कुविचार को समझ उनसे बचने की योजना तथा प्रयत्न कर अपनी रक्षा में समर्थ हो जाता है।

भाषा द्वारा ही व्यक्ति अपने आस-पास की चीजों के नामकरण में समर्थ होता है। जब तक मनुष्य मानवीय भाषा के अर्जन में असमर्थ था तब तक वह भी जानवरों के समान वस्तुओं के प्रत्यभिज्ञान, भेदीकरण एवं विश्लेषण में असमर्थ था। क्योंकि वस्तुओं के नामकरण से ही उसमें भेदीकरण, विश्लेषण एवं प्रत्यभिज्ञान की क्षमता आती है। बच्चे में जब तक भाषा की शक्ति नहीं आती तब तक वह वस्तुओं का नामकरण नहीं कर पाता। इसीलिए वह उन वस्तुओं का गुण जानने में असमर्थ रहता है। इसीलिए वह उस वय में बकरी और सूअर को एक समझता है। नाम की जानकारी से गुण की जानकारी होती है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो किसी वस्तु का गुण जानता हो और उसके नाम से अपरिचित हो। बच्चा वस्तुओं के नाम जानने के अभाव में उनके हानिकारक कुप्रभावों से भी अपरिचित रहता है और वस्तुओं के अवगुणों से अपरिचित होने के कारण

इस वय में वह सर्प से खेलने लगता है, कभी मुँह में ब्लेड डालता है, कभी आग में कूदने का प्रयत्न करता है।

व्यक्ति भाषा द्वारा ही अपने पारिवारिक सम्बन्धों को आविष्कृत करने में समर्थ हुआ और भाषा द्वारा ही अब तक उनकी अभिव्यक्ति, रक्षा तथा निर्वाह करता चला आ रहा है। जानवर या पशु-पक्षी मानवीय भाषा के अभाव में केवल प्रवृत्तिमूलक जीवन बिताते हैं। वर्णात्मक वाणी के अभाव में पारिवारिक सम्बन्ध की रक्षा जैसे माता, पिता, भाई, बहन आदि के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति, रक्षा एवं निर्वाह नहीं कर पाते। जानवरों या पक्षियों में जिनके पास कुछ विकसित कोटि की भाषा है वे माता, पिता के पारिवारिक सम्बन्ध तक कुछ रक्षा कर पाते हैं। मैंने एक कुत्ते को दुर्घटना से मरी अपनी माता के वियोग में महीनों तक भिन्न-भिन्न स्वरों, आवाजों में रोते एवं आँसू बहाते देखा है। पारिवारिक सम्बन्ध की स्थापनायें Conceptual meaning धारणा सम्बन्धी अर्थ-ज्ञान पर निर्भर करते हैं, जिनका उद्भव वर्णात्मक भाषा के अभाव में असंभव है। गाय, बन्दर, कुत्ते आदि अन्य जानवरों की अपेक्षा कुछ अधिक चेतना-सम्पन्न प्राणी हैं किन्तु वर्णात्मक भाषा के अभाव में वे मनुष्य के समान अपने पारिवारिक सम्बन्ध का विस्तार नहीं कर पाते। जो कुछ उनमें पारिवारिक सम्बन्ध दिखाई पड़ता है वह अधिकांश मात्रा में प्रवृत्ति (Instincts) पर ही आधारित रहता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के प्रत्येक क्षण के प्रत्येक कार्य को भाषा द्वारा ही सम्पादित करता है। लौकिक जीवन एवं दैनिक व्यवहार को चलाने के लिए व्यक्ति के जीवन में कोई ऐसा पेशा या व्यवसाय नहीं जहाँ भाषा का काम न पड़े। भाषा वह तत्त्व है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों, भावों, इच्छाओं, विचारों का निर्माण करते हुए अपने वैयक्तिक **स्व** के निर्माण में समर्थ होता है। क्योंकि भाषा के बिना विचारों तथा भावों का निर्माण असंभव है और विचारों तथा भावों के बिना वैयक्तिक स्व का निर्माण असंभव। पशुओं तथा पक्षियों के पास भाषा-तत्त्व अविकसित कोटि का है इसलिए वे अपने वैयक्तिक स्व के निर्माण में बहुत दूर तक नहीं बढ़ पाते। विकसित भाषा के अभाव में या तो वे मनुष्यों के दास बन जाते हैं अथवा आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि कुछ स्थूल प्रवृत्तियों तक उनका जीवन सीमित हो जाता है। जिन असभ्य या जंगली जातियों के पास भाषा-शक्ति की जितनी कमी है वे उतनी ही दूर तक अपने वैयक्तिक **स्व** के निर्माण में प्रगति नहीं कर पाते। जीवन के सूक्ष्म तत्त्वों को पहचान नहीं पाते। भाषा-

शक्ति की सम्पन्नता तथा विस्तार का अर्थ है विचार में सम्पन्नता, सूक्ष्मता तथा विस्तार। आधुनिक सभ्य समाज में रहनेवाले जिन प्राणियों के पास शिक्षा के अभाव में भाषा-शक्ति की कमी है वे भी अपने व्यक्तित्व का निर्माण तथा विकास बहुमुखी एवं सन्तुलित कोटि का नहीं कर पाते।

भाषा द्वारा ही व्यक्ति सामान्य एवं विशिष्ट सभी प्रकार की शिक्षा अर्जित करने में समर्थ होता है। और शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के सभी तत्त्वों के निर्माण एवं सन्तुलित विकास में समर्थ होता है। यदि मनुष्य मानवीय वर्णात्मक भाषा के अर्जन में समर्थ न हुआ होता तो वह शिक्षा के प्रबन्ध में असमर्थ होने के कारण किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हो जाता; और पृथ्वीतल पर मनुष्य द्वारा जितनी प्रकार की उन्नतियाँ हुई हैं उनमें से एक भी भाषा या शिक्षा के अभाव में न हुई होतीं तथा मनुष्यता के गुणों, विशेषताओं, आदर्शों, मूल्यों एवं धारणाओं का निरूपण भी न हुआ होता और वह जङ्गली जानवरों के समान अपना प्रवृत्तिमूलक जीवन कहीं जङ्गल में बिताता होता।

भाषा-शक्ति के अभाव में गूँगे का अविकसित जीवन इस बात को प्रमाणित करता है कि व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक विकास भाषा के अभाव में असंभव है। भाषा के अभाव में व्यक्ति शरीर की सुरक्षा, संवर्धन, विकास-अलंकरण के नियमों को जान नहीं सकता। जानवरों के समान केवल प्रकृति के ऊपर आश्रित रहेगा। भाषा के द्वारा ही मनुष्य शरीर को सुन्दर तथा पुष्ट बनानेवाले व्यायामों के आविष्कार में समर्थ हुआ भाषा के द्वारा ही वह शारीरिक रोगों के ज्ञान तथा निदान में सफल हुआ, शरीर को ठीक रखने के लिए सन्तुलित भोजन का आविष्कार कर सका और भाषा के द्वारा ही वह भोजन-संग्रह तथा अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थ-प्राप्ति के नाना मार्गों को ढूँढ़ने में सफल हुआ। भाषा द्वारा वह अर्थ की ही नहीं काम की भी प्राप्ति एवं तृप्ति में समर्थ हुआ। सृष्टि के आरंभ में जब मनुष्य एक से दो हुआ; आदिपुरुष ने प्रथम बार जब आदिनारी का साक्षात्कार किया उस समय यदि उसके पास भाषा स्फुटित हुई होती तो वह किस प्रकार अपनी प्रेम-भावनाओं, प्रेमावेगों को व्यक्त करता—अपनी प्रेमिका की आवश्यकता, इच्छा, अलंकरण आदि को भी उसने भाषा द्वारा ही तो समझा।

काम सम्बन्धी अन्य नाना इच्छाओं का विकास भाषा के सम्यक् विकास के पश्चात् हुआ। मनुष्य की समस्त सामाजिक इच्छाओं का उद्भव तथा विकास

भाषायुक्त होने के पश्चात् ही हुआ। क्योंकि भाषा द्वारा ही वह सामाजिक बना। अपनी सामाजिकता का विकास भी वह भाषा द्वारा ही करने में समर्थ हुआ। एक से अनेक होने पर समाज तथा संस्कृति की आवश्यकतानुसार नाना प्रकार की इच्छाओं का जन्म, क्रमशः भाषा द्वारा हुआ। व्यक्ति अपनी नाना इच्छाओं की तृप्ति भाषा द्वारा ही करने में समर्थ हुआ। क्योंकि वह भाषा द्वारा ही इच्छाओं की तृप्ति के साधन ढूँढ़ने में सफल हुआ। भाषा द्वारा कुछ विकसित समाज बनने पर साहाय्य भावना की उत्पत्ति हुई। साहाय्य भावना से दया, करुणा, सहानुभूति, प्रेम, क्षमा, सहिष्णुता आदि भावनाओं का उदय तथा अभिव्यक्ति भाषा द्वारा हुई। प्रेम, क्षमा, दया, करुणा, सहानुभूति, सहिष्णुता आदि भावनाओं के आधार पर ही आगे चलकर मानव के सामान्य धर्म का उदय हुआ जिसकी अभिव्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भाषा के बल पर ही हुई। भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक धर्मों के पैगम्बरों ने अपने-अपने भिन्न-भिन्न धर्मों का आविष्कार, प्रचार तथा विकास भाषा द्वारा ही सम्पन्न किया। आज भी मनुष्य अपने वैयक्तिक जीवन में साम्प्रदायिक धर्म का ज्ञान तथा पालन भाषा द्वारा ही करने में समर्थ होता है।

भाषा के अभाव में व्यक्ति मन के तत्त्वों, पक्षों, स्वरूपों, भेदों से परिचित नहीं हो सकता तब भला उनका विकास कैसे करेगा। भाषा के अभाव में व्यक्ति की शिक्षा नहीं हो सकती। अतः उसकी सोच-समझ तथा बुद्धि विकसित नहीं हो सकती। तब वह बुद्धि तथा मन की इस अविकसित स्थिति में उचित-अनुचित, नीति-अनीति की पहचान कैसे करेगा ? जब नैतिक जीवन की पहचान ही उसे नहीं होगी तब उसका विकास कैसे करेगा ? भाषा के अभाव में व्यक्ति अपने वैयक्तिक आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए संध्या, नमाज, पूजा, मंत्रोच्चारण, हरिनाम-स्मरण, अर्चन, वन्दन, कीर्तन, ध्यान, आत्मनिवेदन आदि कर ही नहीं सकता तब उसका विकास कैसे करेगा ? अर्थात् भाषा के अभाव में व्यक्ति के लिए मोक्ष-प्राप्ति भी असंभव है।

व्यक्ति के जीवन में सौगन्ध खाने के लिए भाषा काम आती है। किसी बात को सत्य प्रमाणित करने के लिए कचहरियों में व्यक्तियों से शपथ दिलाई जाती है। स्वगत-कथन में भी व्यक्ति भाषा द्वारा ही सफल होता है। व्यक्ति भावावेग, भावक्षुब्धता, भावाकुलता अथवा पागलपन की स्थिति में स्वगत कथन का प्रयोग कर अपनी भावाकुलता, भावावेग, भावक्षोभ को कम करने

में समर्थ होता है। यदि भाषा द्वारा व्यक्ति को स्वगत-कथन का आश्रय उक्त परिस्थितियों में न मिले तो व्यक्ति या तो पागल हो जायगा अथवा पागलपन की स्थिति में शीघ्र ही मर जायगा।

व्यक्ति के जीवन में मनोविनोद का बहुत महत्व है। इससे थकावट मिटती है और अतिरिक्त शक्ति मिलती है। व्यक्ति का मनबहलाव करने के लिए बोली हमारे काम आती है, व्यंग्य, विनोद, हँसी, मजाक, चुटकुले, कहानी, कहावतें जो हमारा दिल बहलाकर अतिरिक्त शक्ति प्रदान करती हैं वे भाषा द्वारा ही व्यक्त की जाती हैं।

बुद्धि को मोड़ देने, चरित्र की दिशा बदलने में भाषा का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। इसके प्रमाण में बिहारी का दोहा उद्धृत किया जा सकता है। मिरजा राजा जयसिंह के ऊपर बिहारी के दोहे—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥

का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे अन्तःपुर का निवास छोड़ बाहर निकल आये। आखिर यह कलात्मक भाषा का ही तो प्रभाव है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जो बात मातृ-भाषा की महत्ता के विषय में कही है वह भाषा मात्र के विषय में सत्य सिद्ध होती है कि भाषा में ही सब उन्नतियों की जड़ निहित है। व्यक्ति के जीवन में भाषा का इतना महत्व है कि मृत्यु का समय निकट आया हुआ तब माना जाता है जब उसकी बोली बन्द हो जाती है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि बोली या भाषा व्यक्ति के जीवन में जीने का लक्षण है।

सामाजिक प्रयोजन :—मनुष्य के सभी प्रकार के पारस्परिक सम्पर्कों, व्यवहारों एवं सहयोगों को भाषा ही सम्भव बनाती है। भाषा की उत्पत्तिवाले अध्याय में हम देख चुके हैं कि परस्पर व्यवहार करने की इच्छा ही भाषा उत्पत्ति का मूल कारण है अर्थात् भाषा द्वारा ही मनुष्य सामाजिक बना। इसके विरुद्ध गूँगा भाषा-शक्ति के अभाव में सामाजिक नहीं बन पाता। बच्चा इसलिए नहीं बोलना आरम्भ करता कि वह सोच सके, वरन् इसलिए बोलता है कि वह अपने विचार दूसरों पर प्रगट कर सके। उसकी सामाजिक आवश्यकतायें तथा सामाजिक प्रवृत्तियाँ भाषा-अभ्यास तथा भाषा-विकास के लिए बाध्य करती हैं। अर्थात् भाषा मनुष्य का एक सामाजिक गुण है। यह मनुष्य में केवल उसके मनुष्य होने के कारण नहीं वरन् समाज के अङ्ग होने के कारण है। भाषा का कोई अंश व्यक्ति की मनःकल्पना का फल नहीं, वरन्

समाज के अनुमोदन तथा व्यवहार का फल है। भाषा की सारी उन्नति व्यक्तियों के द्वारा समाज में होती है और इसके बदले समाज की सारी उन्नति भाषा के माध्यम से सम्पादित होती है। किसी वर्णात्मक शब्द का शब्दत्व इसी में है कि वह किसी न किसी समाज में किसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। किसी भी ध्वनि या ध्वनि-समूह को समाज द्वारा ही अर्थ प्राप्त होता है अर्थात् शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध का हेतु वह समाज ही होता है।

समाज में शिक्षा की प्रक्रिया सर्वाधिक मात्रा में लिखित एवं मुखोद्गीरित शब्दों द्वारा ही चलती है। भाषा की एकता द्वारा मनुष्य के सामाजिक भावों, प्रेम, सौहार्द्र, सहिष्णुता, सहानुभूति की वृद्धि होती है। जिस नगर या प्रान्त में कई भाषायें बोली जाती हैं वहाँ घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, कलह, लड़ाई-झगड़े का प्रकोप देखा जाता है। डा० जमेनहाफ की जन्मभूमि बेलीस्टाक नगर में बहु भाषा-भाषी रहते थे। इसलिए वे आपस में लड़ा करते थे। इसका प्रमाण डा० जमेनहाफ के शब्दों में देखिए :—In the streets of the unhappy town of my birth savage men with axes and iron bars fell like wild beasts upon peaceful citizen, whose only crime was that they spoke another language. डा० जमेनहाफ ने अपने नगर में भाषा-भेद से उत्पन्न पारस्परिक भेद, कलह, संघर्ष को मिटाने के लिए ऐस्पेरन्तो नामक कृत्रिम भाषा का आविष्कार किया। क्योंकि उसका विश्वास था कि भाषा-एकता लाए बिना मानव-एकता का निर्माण नहीं हो सकता।

सभ्यतागत वस्तुएँ जैसे भोजन, पेय, वेश-भूषा, रहन-सहन, गृह आदि का आविष्कार, निर्माण, उनकी विशेषताओं का पृथक्करण भाषा द्वारा संपादित होता है। यदि मनुष्य को भाषा न मिली होती तो वह अधिक से अधिक तीर-धनुष तथा फूस के झोपड़ों के सिवाय और कुछ बनाने में समर्थ न हुआ होता। यदि मनुष्य आपस में बातचीत करने की क्षमता न रखता होता तो मिस्र के पिरामिड, आगरा के ताजमहल तथा चीन की दीवाल आदि आश्चर्यकारी चीजों की रचना में समर्थ न हुआ होता। संस्कृति के मूल माध्यमों साहित्य, दर्शन, कला आदि का निर्माण भाषा द्वारा ही हुआ है। आधुनिकतम संस्कृति के माध्यम जैसे रेडियो, थियेटर, नाटक, सिनेमा, अखबार, पत्र-पत्रिका, रामलीला आदि भी भाषा के माध्यम से चलते हैं। हमारे सम्पूर्ण सामाजिक पर्व, त्यौहार, उत्सव, जलसे आदि भाषा द्वारा मनाये जाते हैं। जात्योपकार, देशोद्धार, विश्वकल्याण सम्बन्धी कार्य

भाषा द्वारा संपादित होते हैं। मनुष्य के सामाजिक कार्यों को रूप प्रदान करने में, सम्पादिक करने में विश्लेषण करने में, भाषा का सर्वाधिक हाथ है। मानव-जाति की सम्पूर्ण सभ्यता तथा संस्कृति भाषा द्वारा उत्पन्न हुई, भाषा द्वारा ही विकसित एवं परिपक्व हुई। मानवीय भाषा व्यापार को भी बहुत प्रभावित करती है। कटुभाषी व्यापार में कभी सफल नहीं हो सकता। व्यावसायिक भाषा की कला से अनभिज्ञ व्यक्ति व्यवसाय में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। हाट की भाषा परिवर्तनशील रहती है। व्यक्ति व्यक्ति के अनुसार विक्रेता अपनी भाषा बदलता रहता है। जैसे बनारस में दूकानदार जब मुसलमान ग्राहक से उर्दू मिश्रित हिन्दी बोलता है, अंग्रेजी पढ़े-लिखे ग्राहक से अंग्रेजी मिश्रित हिन्दी, ग्रामीण ग्राहक से भोजपुरी, बंगाली ग्राहक से कुछ बंगाली मिश्रित हिन्दी बोलता है तब वह सबसे अधिक सफल होता है। जिनको विदेशों या विदेशी जातियों के बीच रहना पड़ा है वे लोग यदि उस विदेशी भाषा से अपरिचित हुए तो वे जान सकते हैं कि भाषा के बिना सामाजिक जीवन कितना कठिन हो जाता है। सामाजिक जीवन का कोई ऐसा अंश, कोई पेशा या कोई व्यवसाय नहीं जहाँ भाषा के बिना काम चल सकता हो। यदि मनुष्य को मानवीय वर्णात्मक भाषा न मिली होती तो वह जानवरों के समान जंगलों में कहीं गतिहीन जीवन बिताता होता।

भाषा के आधार

भाषा के आधार पर विचार करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ भाषा से तात्पर्य वक्ता के मनोवैज्ञानिक प्रयत्न के फल-स्वरूप उसके उच्चारण सम्बन्धी अवयवों से निसृत तथा श्रोता की श्रोत्रेन्द्रियों द्वारा तदेव अर्थ में गृहीत वर्णात्मक व्यक्त ध्वनि-समष्टि है जो रूप-साधन, विश्लेषण एवं अध्ययन के योग्य हो। भाषा-सम्बन्धी इस धारणा से यह स्पष्ट है कि भाषा का आधार एक ओर हमारी व्यक्त ध्वनियों पर आश्रित है तो दूसरी ओर उन ध्वनियों से निसृत विचार पर। भाषा का निर्माण केवल उच्चारण सम्बन्धी अवयवों तथा श्रोत्रेन्द्रियों की भौतिक क्रिया तथा प्रक्रिया से ही नहीं होता वरन् उसकी निर्मिति के लिए मानसिक प्रक्रिया की भी आवश्यकता है। जैसे, जब हम यह बोलते हैं कि 'गुलाब का फूल सुन्दर है' तब यह समझ लेना चाहिए कि हमारे उपर्युक्त पाँचों शब्द केवल हमारी वागेन्द्रियों तथा श्रोत्रेन्द्रियों की ही उपज नहीं हैं, वरन् इनके उच्चारण के पूर्व मानसिक क्रिया भी घटित होती है। जब अभ्यासवश विचारों के एक-एक टुकड़े को व्यवस्थित एवं सुनियोजित करनेवाली एक लम्बी प्रक्रिया सहज रूप में अत्यन्त द्रुतगति से घटित हो जाती है तब ये विचार अपनी अभिव्यक्ति पाने के लिए ध्वनि प्रतीकों का सहारा लेते हैं। यह मानसिक प्रक्रिया केवल वक्ता के ही मन में घटित नहीं होती वरन् श्रोता के मन में भी अत्यन्त द्रुतगति से घटित होती है तब वह उन ध्वनियों से अभिव्यक्त विचारों के ग्रहण में समर्थ होता है।

शब्दों का प्रत्यक्षीकरण हमें इन्द्रियों द्वारा होता है। इसलिए शब्दों की मानसिक प्रतिमा का उठना आवश्यक है। जिस शब्द का अर्थ हमको गृहीत होता है उसके उच्चारण के पूर्व तथा उसके सुनने के उपरान्त उसका स्मरण आवश्यक है। इस स्मरण का अर्थ यही है कि उस शब्द के अनुभव के पिछले संस्कार हमारे मन में उद्‌बुद्ध हो जायँ। ये ही संस्कार प्रतिमा रूप में उद्‌बुद्ध होकर अर्थों का स्मरण दिलाते हैं। शब्दों का अनुभव हम तीन प्रकार से करते हैं। उच्चारण करने से, सुनने से तथा लिखित शब्दों को देखने से। किन्तु भाषा-विज्ञान में हम शब्द के औच्चारणिक तथा श्रावणिक अनुभव पर ही विचार करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वक्ता की सार्थक व्यक्त ध्वनियाँ ही मुख्य रूप से भाषा का भौतिक या बाह्य पक्ष निर्मित करती हैं। इनका आश्रय लेकर वक्ता अपने विचारों तथा भावों को व्यक्त करता है तथा श्रोता अपनी श्रोत्रेन्द्रियों द्वारा वक्ता के अभिप्राय को समझता है। भाषा के भौतिक आधार से अभिप्राय प्रथमतः उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों—मुख, नाक, दन्त, मूर्धा, वर्त्स, ओष्ठ, नासिका, गला, गलजिह्वा आदि से है, द्वितीयतः ध्वनियों के सुनने में प्रयुक्त कान से है, तीसरे वायु के उन कम्पनों से है जो वक्ता के उच्चारणोपयोगी अवयवों के व्यापार से उत्पन्न होते हैं और आकाश की लहरों में विचरण करते हुए श्रोता के श्रवणेन्द्रिय तक पहुँचते हैं; बोलते समय प्राणवायु फेफड़े से स्वरयंत्र में पहुँचती है। तब स्वरतंत्रियों में कम्पन आरम्भ हो जाता है। इसके पश्चात् यह कम्पन श्वास-नलिकाओं में पहुँचता है। तदनन्तर कालल से मुख-विवर या नासिका-विवर में होते हुए तालु जिह्वा, दन्त मूर्धा, वर्त्स, ओष्ठ आदि का स्पर्श करते हुए कभी रगड़ खाते हुए बाहर निकलता है। फिर नभवायु में यही कम्पन लहर-रूप में चलकर श्रोता के पास पहुँचता है। तदनन्तर उसकी श्रवणेन्द्रिय में प्रविष्ट होकर वहाँ कम्पन उत्पन्न कर देता है। इसी को हम शब्द का सुनना कहते हैं। उदाहरणार्थ कमल शब्द को लीजिए। वक्ता के मन में बोलते समय इसका एक निश्चित अर्थ होता है। वक्ता के उच्चारण को सुनकर श्रोता उस निश्चित अर्थ को ग्रहण करता है। यह निश्चित अर्थ कमल शब्द की आत्मा है। जिससे भाषा का सूक्ष्म पक्ष निर्मित होता है। इस सूक्ष्म पक्ष को व्यक्त करने के लिए वक्ता को स्थूल पक्ष का अर्थात् क्+अ+म्+अ+ल्+अ ध्वनियों का सहारा लेना पड़ता है। और इन ध्वनियों के श्रुतिगोचर होने पर श्रोता उस निश्चित अर्थ को समझता है। अतः ध्वनि, ध्वनि-प्रक्रिया, ध्वनि सम्बन्धी अवयव से भाषा का भौतिक आधार निर्मित होता है। वस्तुतः भौतिक आधार अभिव्यक्ति का साधन है और मानसिक आधार साध्य। इन्हीं को क्रमशः भाषा का बाह्य तथा आन्तरिक पक्ष कहते हैं।

भाषा के स्पष्ट बोलने तथा सुनने में मानसिक व्यापार का उत्पन्न होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। ग्रामोफोन को बोलनेवाला या फोनोग्राफ को सुननेवाला हम इसीलिए नहीं कहते, क्योंकि दोनों में मानसिक व्यापार का अभाव रहता है। वक्ता और श्रोता दोनों बोलने तथा सुनने में मानसिक शक्तियों को काम में लाते हैं। इस प्रकार भाषा के मानसिक आधार के दो पक्ष हैं। प्रथमतः भिन्न-भिन्न वर्णात्मक शब्दों के बोलने तथा सुनने में साधन

रूप वक्ता और श्रोता के मानसिक व्यापार द्वितीयतः वक्ता के सार्थक शब्दों द्वारा श्रोता के मन में प्रगट किये जानेवाले अर्थ या विचार। भाषा-उच्चारण के पूर्व वक्ता के मन में घटित होनेवाली मानसिक क्रिया इतनी जटिल होती है कि उसका ठीक-ठीक ज्ञान या पता कोई नहीं लगा सकता कि अमुक वाक्य वक्ता के चेतन या अचेतन अथवा अवचेतन मन से निकल रहा है या अर्द्धचेतन मन से। इस प्रकार वक्ता द्वारा व्यक्त किये गये तथा श्रोता द्वारा ग्रहण किये गये विचार तथा वक्ता एवं श्रोता के मानसिक व्यापार से भाषा का आन्तरिक या मानसिक पक्ष निर्मित होता है। इसी को भाषा का सूक्ष्म पक्ष कहते हैं। इसका सम्बन्ध मानव-मन से है। भाषा के इस मानसिक आधार पर दृष्टि डालने से भाषा-विज्ञान का मनोविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ तथा भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अर्थ-विज्ञान का उदय हुआ। इसी प्रकार भाषा के भौतिक आधार को ठीक-ठीक ढंग से समझने के लिए भाषा-विज्ञान ने शरीर-विज्ञान तथा भौतिकशास्त्र की सहायता ली।

भाषा के मानसिक आधार का सम्बन्ध भाषा की आत्मा से है तथा भौतिक आधार का सम्बन्ध भाषा के शरीर से; अतः भाषा-अस्तित्व के लिए दोनों ही समान रूप से महत्वपूर्ण हैं क्योंकि दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं और दोनों के सम्यक् मिलन की स्थिति में ही भाषा का सच्चा रूप प्रगट होता है।

(१) भाषा शब्द के विभिन्न प्रयोग तथा अर्थ—मनुष्य को परस्पर जाति, व्यवसाय, संस्कृति आदि में बाँधनेवाली उसकी विभिन्न रुचियों के आधार पर भाषा के विभिन्न प्रयोग पाये जाते हैं। जैसे, मल्लाहों, चमरों, कहारों, दलालों, पण्डों, डाकुओं, चोरों, पुरोहितों, वकीलों, रेलवे कर्मचारियों आदि की भाषा। जन-साधारण और साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त विशिष्ट जनसमुदाय की बोली के लिए भाषा शब्द का जो प्रयोग होता है उसे भाषा का विशिष्ट प्रयोग कहते हैं। इस तरह की विशिष्ट भाषा का व्यवहार विशेष जनसमुदाय अपने आपसी काम-काज में विशेष रूप से करता है। इस प्रकार की विशिष्ट भाषा किसी न किसी जीवित लोक-भाषा के आश्रय पर पर ही टिकी रहती है।[1] एक ही गाँव या शहर के भिन्न-भिन्न पेशे, रोजगार, जाति-बिरादरीवालों की भाषा में कुछ विशिष्ट शब्द-भण्डार, शब्द-प्रयोग की विशिष्टता, उच्चारण-लहजों में कुछ नवीनता, स्वर-बल आदि में कुछ

---

१. **सामान्य भाषा-विज्ञान डा० बाबूराम सक्सेना पृ० १२२**

विचित्रता के कारण जीवित लोक-भाषा से कुछ अन्तर उपस्थित हो जाता है। इसी कारण एक ही नगर में रहनेवाले पंडितों, पटवारियों, मुसलमानों, दलालों, पंडों, रेलवे-कर्मचारियों की भाषा में अन्तर दिखाई पड़ने लगता है। एक ही गाँव में रहने वाले ब्राह्मणों, ढीमरों, चमारों, मुसहरों, लोहारों की भाषा में अन्तर मौजूद रहता है। भिन्न-भिन्न पेशे वालों की भाषा में अन्तर पेशे सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली से अधिक हो जाता है। अतः भिन्न-भिन्न पेशेवरों की भाषा के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग दिखाई पड़ता है। जैसे, पुरोहिती के कार्य में संस्कृत भाषा का अधिक प्रयोग होने के कारण पुरोहितों की भाषा में अन्य सामान्य जनों की तुलना में संस्कृत पदावली का प्रयोग अधिक दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ, उपनयन संस्कार की शुभ मुहूर्त श्वः अरुणोदय काल में है। पंच-पल्लव, धूप दीप, नैवेद्य, कलश, रोरी, नारा, पंचगव्य, पलाशदण्ड, दक्षिणा आदि के प्रबन्ध से सजग रहना। (**पुरोहित की भाषा**)

वकील की भाषा में उर्दू के शब्द बहुत अधिक प्रयुक्त होते हैं। इससे कचहरी की भाषा सामान्य लोगों की भाषा से कुछ अलग हो जाती है। मेरे मुहर्रिर से कल अर्जीदावा लिखवा कर उस पर दो रुपये का स्टाम्प लगवा-कर अपने चश्मदीद गवाहान को जो मौके मुआइने पर हाजिर मिले थे, फरीक अव्वल ने जो ३२३, ३२५, ३२८ के जुर्म लगाये हैं, उनकी सफाई के वास्ते पुख्ता बयान तहरीरी और कुछ जबानी तैयार रखना।

पंडों, दलालों चोरों, डाकुओं की भाषा कुछ गुप्त कोटि की होती है। जैसे बनारस के पंडों की भाषा—

माझी ठिला है। हत्थू को डौल है। अर्थात् यजमान फँसा है पाँच रुपये की आशा है।

बनारस के दलालों की भाषा—मंगल रहे। अर्थात् ग्राहक से रुपए में दो आने मेरी दलाली रहेगी।

डाकुओं की भाषा—खूब पूजा करो। अर्थात् खूब पीटो।

रेलवेवालों की भाषा:—थर्टीन अप हावड़ा मेल अभी-अभी पास हुआ है। टू डाउन का लाइन क्लीअर हो गया है। गोला तैयार है। पैटमैन से कह दो सिंगल दे दे। ब्रेक के चारो अदद जुदा कर दे।

सवारी ढोनेवाले ढीमरों की भाषा—मंझा ढील, बीच में ढीला कर दो।

(२) सामान्य बातचीत में भाषा शब्द का प्रयोग साहित्यिक भाषा के लिए होता है जो लिखित कोटि की होती है, जिसका एक विशिष्ट व्याकरण होता है। जो अपने देश में प्रायः शिक्षा की माध्यम रहती है। जैसे हिन्दी। प्रत्येक साहित्यिक भाषा के दो रूप होते हैं एक प्राकृतिक और दूसरा कृत्रिम? एक साधारण और दूसरा परिमार्जित या व्याकरण से संस्कृत। अर्थात् एक सर्वसाधारण की भाषा दूसरी साहित्य की भाषा। समय-समय पर प्रत्येक बोल-चाल की भाषा राजनीतिक अथवा धार्मिक या सांस्कृतिक कारणों से साहित्यिक होती रहती है और पूर्व साहित्यिक भाषा मृत हो जाती है और नई बोल-चाल की भाषा उत्पन्न हो जाती है। जब वैदिक प्राकृत जो पहले जनता की भाषा थी, साहित्यिक भाषा बन गई तब वह वैदिक संस्कृत की संज्ञा से अभिहित होने लगी। फिर वैदिक प्राकृतिक की परम्परा में प्राकृत संस्कृत पैदा हुई। प्राकृत संस्कृत भी जब साहित्यिकों की भाषा बनकर व्याकरण से परिमार्जित कर दी गई तब संस्कृत की संज्ञा से अभिहित हुई।

बोलचाल की भाषा व्याकरण से परिमार्जित होकर, साजसज्जा, अलं-करण से मुक्त कर दी जाती है। वह शिक्षित समुदाय और विद्वजन के विचार-विनिमय का माध्यम बन जाती है। साहित्यिक पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं, शिक्षालयों, महाविद्यालयों में उसका प्रयोग चलता है। इस प्रकार यह भाषा लोक-व्यवहार या जन-जीवन की भाषा से भिन्न हो जाती है। जैसे मेरठी से आज की साहित्यिक हिन्दी भिन्न हो गई है। साहित्यिक भाषा के भी दो रूप होते हैं एक विशुद्ध साहित्यिक, दूसरा साहित्यिक। विशुद्ध साहित्यिक भाषा में केवल पठन-पाठन, कुछ साहित्यिक कार्य चलता है। जैसे, संस्कृत, फारसी, अरबी, लैटिन और ग्रीक इसी प्रकार की भाषायें हैं। संस्कृत आज की सबसे प्रचलित भाषा है वह उत्तर तथा दक्षिण भारत में समान रूप से लोकप्रिय है। इसलिए कुछ संस्कृत प्रेमी सत्ताधारियों द्वारा ऐसे प्रस्ताव हुए कि संस्कृत ही राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करे। पर जो भाषा जन जीवन से दूर है वह राष्ट्रभाषा कैसे बन सकती है?

लोकभाषा की अपेक्षा साहित्यिक भाषा अधिक परिमार्जित, सुसंस्कृत होती है फिर भी वह विशुद्ध साहित्यिक भाषा की तरह जन-जीवन से दूर नहीं होती। जैसे, इस दृष्टि से हिन्दी और उर्दू साहित्यिक भाषायें हैं।

(३) बहुत व्यापक अर्थ में भाषा शब्द का प्रयोग एक जाति या एक देश की भाषा के लिए होता है। जैसे, पारसियों या फारस देश की भाषा फारसी। इटली की भाषा इटाली।

(४) देश के बहुत बड़े भाग की भाषा के लिए भी भाषा शब्द का ही प्रयोग होता है। जैसे दक्षिणियों की भाषा बहुत ही बल प्रधान होती है।

(५) बहुत ही उच्छिन्न अर्थ में प्रान्त की भाषा अर्थात् विभाषा के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग चलता है जिसमें कभी-कभी कई बोलियाँ मिली रहती हैं जैसे, राजस्थानी, बिहारी या पंजाबी भाषा।

(६) जिले, तहसील, शहर या गाँव की बोली के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग देखा जाता है—

कानपुर जिले की भाषा कन्नौजी है।

सागर तहसील की भाषा बुन्देली है।

बनारस शहर की भाषा भोजपुरी है।

हमारे गाँव की भाषा अवधी है।

(७) व्यक्ति की भाषा के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग होता है। व्यक्ति की भाषा की चर्चा तभी होती है जब उसके उच्चारणावयवों में किसी प्रकार की विकृति के कारण कुछ असाधारणता रहती है; अथवा वह शब्दों को बहुत तोड़ मरोड़कर बोलता है, या बहुत-सी बोलियों का मिश्रण करके बोलता है; अथवा उसकी भाषा में कुछ विचित्र प्रकार का बल पाया जाता है अथवा किसी सखुनतकिए का प्रयोग वह बार-बार करता है। ऐसे व्यक्ति को परोक्ष में सुनते ही हम झट जान जाते हैं कि अमुक बोल रहा है।

(८) राजभाषा के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग होता है। प्रायः राष्ट्रभाषा और राजभाषा समानार्थक समझे जाते हैं; क्योंकि साधारणतः राष्ट्रभाषा को ही राजभाषा का पद प्राप्त करने का सहज अधिकार है किन्तु कोई विदेशी शासक या राजा जब किसी देश पर अधिकार करता है तो अपनी सुविधा के लिए अपने देश की विदेशी भाषा को राजभाषा के रूप में थोप देता है। मुग़ल-काल में फारसी और अंग्रेजी राज में अंग्रेजी भारत की राज्य-भाषा के रूप में स्वीकृत थी। अंग्रेजी का प्रचार, शासन, पठन-पाठन, और व्यवहार में इतना बढ़ा कि वह राष्ट्रभाषा सी बनने लगी थी। स्वतंत्र भारत में भी इसे ही अनेक लोगों ने राजभाषा बनाने की चेष्टा की। किन्तु हिन्दी की सर्वजनसुलभता, बोधगम्यता के कारण उसे झुकना पड़ा और अन्ततोगत्वा हिन्दी ही राजभाषा के रूप में घोषित हुई। पाकिस्तान में मुसलमानों के प्रभुत्व तथा धार्मिक भाव के कारण उर्दू जबरदस्ती राजभाषा के रूप में घोषित की गई है किन्तु इसके विरुद्ध पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान में प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई है।

(६) राष्ट्रभाषा के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग होता है। जैसे हिन्दी ही हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा बनने योग्य है। जिस भाषा में उस देश के सर्वाधिक लोग अपना विचार-विनिमय, व्यवहार, काम-काज, चिट्ठी-पत्री, शिक्षा सम्बन्धी कार्य, अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार करते हों। जो देश को एक अन्विति के सूत्र में बाँधने में समर्थ हो। जिसका साहित्य बहुत ही सम्पन्न एवं विविध कोटि का हो। जिसके वाङ्मय में उस देश की संस्कृति एवं आदर्श मुखरित होते हों, जो उस देश की प्रान्तीय भाषाओं के विकास में बाधक न होकर अपनी उन्नति के साथ-साथ उनकी उन्नति में साधक सिद्ध हो, जिसके शब्दों के अर्थ सुनिश्चित एवं स्पष्ट हों; जिसका शब्द-भण्डार अत्यन्त विस्तृत हो, जिससे वह उस देश की जनता के सब प्रकार के विचारों, भावों, तथ्यों, आवश्यकताओं को व्यक्त करने में समर्थ हो सके, जो दूसरी विदेशी भाषाओं, प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों, मुहावरों को पचाने की क्षमता रखती हो, जिसका व्याकरण अत्यन्त सरल हो, जिससे साधारण जनता इसे अन्य भाषाओं की तुलना में अति शीघ्र सीख सके जिसकी लिपि अत्यन्त सरल हो, जो बोलने एवं सुनने में मधुर हो जिसकी आकर भाषा, साहित्य, वाङ्मय एवं शब्द भण्डार की दृष्टि से बहुत ही धनी एवं व्यापक हो जिससे आवश्यकता पड़ने पर उसकी पारिभाषिक पदावली के निर्माण में योग दे सके, जो उसके व्याकरण एवं विकास की दिशा निश्चित कर सके, जो उसके साहित्यिक आदर्शों, आधारों की पृष्ठभूमि तैयार कर सके। वही राष्ट्रभाषा के पद पर अभिषिक्त हो सकती है। राष्ट्रभाषा को उपर्युक्त कसौटियों पर कसने से अभी हिन्दी भाषा में बहुत कमियाँ दृष्टिगोचर होती है किन्तु हिन्दुस्तान में प्रचलित अन्य भाषाओं की तुलना में हिन्दी में ही राष्ट्रभाषा के सर्वाधिक गुण तथा विशेषतायें पाई जाती हैं। किसी भी देश की राष्ट्रभाषा पहले किसी प्रान्त विशेष की या विभाषा किसी प्रान्त के विशिष्ट हिस्से की बोली रहती है। राजनीतिक धार्मिक या सांस्कृतिक कारणों से वह आगे बढ़ती है। अर्थात् राष्ट्रभाषा दूसरों के बनाये बनती और बड़प्पन पाती है जब कोई राजा या शासक वर्ग उसे राष्ट्रभाषा की गद्दी पर बिठा दे, या जनता उसे राष्ट्रभाषा का तिलक दे दे अथवा लिखने-पढ़नेवाले उसे सिर माथे चढ़ा लें अथवा नया धर्म चलानेवाले उसे अपनी धार्मिक भाषा बना लें।

(६क) हिन्दी पहले दिल्ली, मेरठ, सहारनपुर के आस-पास की एक जनपदीय बोली थी। भारत में राज्य स्थापित करने के अभिलाषी आक्रमण-कारी मुसलमान जब दिल्ली के आस-पास अपना सैनिक खेमा डालकर

रहने लगे तब इसका प्रवेश उनकी सेना में हुआ। मुसलमानों की सेना तथा राज्य जैसे-जैसे उत्तर-दक्षिण में फैला वैसे-वैसे यह देश के उत्तर-दक्षिण में फैलती गई, कबीर, नामदेव, तुकाराम आदि निर्गुणपन्थियों की बानी में इसके प्रविष्ट होने से चतुर्दिक इसका प्रचार बढ़ा, धीरे-धीरे यह साहित्य एवं शिक्षा की भाषा बनती गई, उन्नीसवीं सदी से इसमें साहित्य की रचना पर्याप्त मात्रा में होने लगी। आर्यसमाज एवं कांग्रेस जैसी देशव्यापी महान संस्थाओं ने इसे अपनाकर देश के कोने-कोने में फैलाया। धीरे-धीरे उत्तर भारत में उच्च शिक्षा का माध्यम बनने, पत्र-पत्रिकाओं के प्रसार से यह देश-व्यापी बनती गई। और स्वतंत्रता प्राप्ति के समय तक यह भाषा देश के सर्वाधिक लोगों द्वारा विचार-विनिमय, काम-काज, चिट्ठी-पत्री, व्यावसायिक-कार्य में व्यवहृत होने लगी। इसीलिए अनेक कमियों के होते हुए, अनेक विरोधों के बावजूद भी इसे राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हुआ। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि किसी भाषा को राष्ट्रभाषा का गौरव या पद राजनीतिक, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक कारणों से मिलता है।

(१०) भाषा शब्द का प्रयोग इधर देश के प्रधान मंत्री पंडित जवाहर-लाल नेहरू के प्रयोग के कारण राष्ट्रीय भाषा के अर्थ में होने लगा है। उन्होंने देश की अन्य प्रान्तीय भाषाओं को राष्ट्रीय भाषा की संज्ञा दी है। जिससे उनका पद या स्तर हिन्दी के राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने से घटता हुआ न प्रतीत हो।

(११) अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के लिए भाषा शब्द का प्रयोग होता है। जब राजनीतिक, साहित्यिक अथवा अन्य किसी कारण से कोई राष्ट्रभाषा इतनी धनी तथा विस्तृत हो जाती है कि सारे संसार में प्रयुक्त होने लगती है और विदेशों से सामान्य चिट्ठी-पत्री तथा राजनीतिक लिखा-पढ़ी उसी के माध्यम से होने लगती है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय भाषा कहते हैं। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी।

(१२) सांस्कृतिक भाषा (Cultural language) के लिए भाषा शब्द का प्रयोग देखा जाता है। भारत की सांस्कृतिक भाषा संस्कृत, इटली की लैटिन, फारस की अवस्ता है। जिस भाषा में उस देश के अधिकांश लोगों का धार्मिक, सांस्कृतिक कार्य, व्रत, उत्सव, संस्कार आदि सम्पादित किया जाता है जिसमें उस देश की पुरानी संस्कृति सर्वाधिक मात्रा में अंकित रहती है वह उस देश की सांस्कृतिक भाषा मानी जाती है।

(१३) मातृभाषा के लिए भाषा शब्द का प्रयोग बहुत प्रचलित है।

व्युत्पत्तिमूलक दृष्टि से बालक की माँ जिस भाषा में बात करती है अथवा बालक ने जो भाषा अपनी माँ से सर्वप्रथम सीखी है वही उसके लिए मातृभाषा है। किन्तु आजकल मातृभाषा शब्द का प्रयोग रीजनल लैंग्वेज या प्रादेशिक भाषाओं के लिए किया जाता है। दक्षिणापथ के लोग उत्तरापथ के सभी निवासियों की मातृभाषा हिन्दी मानते हैं जो उनका बड़ा भारी भ्रम है। जैसे कोई बनारस जिले के किसी गाँव अथवा वाराणसी नगर का रहनेवाला है तो उसकी मातृभाषा भोजपुरी होगी हिन्दी नहीं इसी प्रकार मेरठ निवासी बच्चे की मातृभाषा मेरठी होगी जिसके परिष्कृत रूप से साहित्यिक हिन्दी निर्मित हुई है।

(१४) मूलभाषा (Mother language) के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग होता है। विश्व के भिन्न-भिन्न भूभागों में आदिम मानवों के भिन्न-भिन्न ठट्ट या परिवारों में जो सबसे पहली मानवीय भाषा उत्पन्न हुई उसे मूल भाषा कहते हैं। वहाँ के लोग जब खाने-पीने की कमी से या आबादी बढ़ जाने से या ऊबकर इधर-उधर पहुँचे तो उन-उन स्थानों की जलवायु, उपज, प्राकृतिक दशा तथा वहाँ के लोगों की बोलियों ने उनकी बोली में हेर-फेर कर दिया। उदाहरण के लिए यदि मूल भारोपीय भाषा को लें तो इसका प्रादुर्भाव एक साथ रहनेवाले कुछ भारोपीयों में हुआ। भाषा द्वारा प्रागैतिहासिक खोज के आधार पर कुछ भाषाशास्त्री मूल भारोपीय भाषा की उत्पत्ति का स्थान आस्ट्रिया-हंगरी, कुछ जर्मनी, कुछ वोल्गा का तट, कुछ मध्य एशिया मानते हैं। मूल स्थान पर कुछ दिन रहने के पश्चात् जब वहाँ की जनसंख्या अधिक हो गई और भोजन आदि की कमी पड़ने लगी तो कुछ लोग संभवतः वहीं रह गये, और कुछ लोग कई शाखाओं में बँटकर अलग-अलग दिशाओं में चल पड़े। चलने के समय उन भिन्न-भिन्न शाखाओं की भाषा अवश्य ही एक रही होगी। थोड़ी दूर चलने के पश्चात् उन शाखाओं ने अपना-अपना अलग-अलग अड्डा बनाया होगा। उन नवीन अड्डों तथा स्थानों पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों की भिन्नता के कारण तथा वहाँ के निवासियों की भाषा सम्पर्क के कारण उनकी भाषा में परिवर्तन आया होगा। दो एक सदी के उपरान्त अलग-अलग बसनेवाली उन-उन शाखाओं की भाषाओं में आपस में काफी भिन्नता आई होगी। फलतः उस एक भारोपीय मूल भाषा से संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवस्ता, हित्ताइट, तुटवारिश आदि अनेक भाषायें उत्पन्न हुई होंगी।

(१५) भाषा का प्रयोग कृत्रिम भाषा के लिए भी होता है। जैसे,

इस्पैरेन्टो भाषा ऐसपिरेन्तो लैटिन शब्द है जिसका अर्थ है आशापूर्ण, इस भाषा के जन्मदाता डा० जमेनहाफ महोदय हैं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन इस भाषा के निर्माण के लिए लगा दिया। यह भाषा अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर विचार-विनिमय के लिए संसार की सरलतम भाषा मानी जाती है। इस भाषा के उद्भव को ठीक समझने के लिए इसके जन्मदाता के विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें बताना अप्रासंगिक नहीं होगा। डा० जमेनहाफ महोदय १५ दिसम्बर १८५६ को बेलीस्टाक नगर में पैदा हुए थे जहाँ लिथूनिया, पोलैण्ड, बेलीरूस की सीमायें आपस में मिलती हैं जहाँ के निवासी भिन्न-भिन्न भाषाओं को बोलने के कारण प्रायः आपस में लड़ा करते थे कभी शान्ति एवं एकता स्थापित नहीं कर पाते थे। भावुक जमेनहाफ को अपने नागरिकों का भाषा-भेद से उत्पन्न द्वन्द्व तथा संघर्ष बहुत दुःखदायी प्रतीत हुआ। अतः बचपन से ही उनकी धारणा बन गई कि भाषा-भेद मनुष्यों के पारस्परिक भेद तथा कलह का बहुत बड़ा कारण है। अतः भाषा की एकता लाये बिना मानव एकता का निर्माण नहीं हो सकता। इसलिए शैशवावस्था तथा किशोरावस्था में भी उनकी यह धारणा बराबर क्रियाशील रही। वह भाषाविद बनने की विशेष शक्ति (gift) इन्हें पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली थी। इसलिए चिकित्साशास्त्र में विशिष्ट शिक्षा प्राप्त करते हुए भी इन्होंने अल्पकाल में ही अनेक भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया। जर्मन, रूसी, पोलिश पर इनका पूर्ण अधिकार था, लैटिन, हिब्रू, फ्रेन्च को ये अच्छी तरह पढ़-लिख लेते थे। अंग्रेजी, इटली आदि अनेक भाषाओं का इन्हें सामान्य ज्ञान था। इसीलिए ये लिंगवो इन्टरनेशिया अर्थात् इस्पैरेन्टो के आविष्कार में सफल हुए इन्होंने १८८७ में मुख्यतः रोमान्स तथा जर्मनिक भाषाओं की धातुओं तथा शब्दों को लेकर इस भाषा का निर्माण किया। धातु पर शब्द आधारित हैं। धातुएँ अधिक से अधिक लैटिन से ली गई हैं। शेष में से अधिकांश ट्यूटानिक भाषाओं से है। लगभग १० प्रतिशत धातुएँ अन्य भाषाओं से है। इस भाषा में प्रत्यय तथा उपसर्गों को धातुओं तथा संज्ञाओं में जोड़कर शब्दों का निर्माण किया जाता है।

उदाहरणार्थ—

कैट (cat) बिल्ली
इन (in) (स्त्रीलिंग का चिह्न)
इड (id) बच्चों का चिह्न

एट (et) छोटे का चिह्न

ओ (o) संज्ञा का चिह्न

इनके योग से एक बिल्ली (स्त्री) कैट इन ओ (kat-in-o)

एक बिल्ली का बच्चा :—कैट इड ओ (kat-id-o)

एक छोटी बिल्ली का बच्चा :—कैट इन एट इड ओ—

(kat-in-et-id-o)

सभी शब्दों को पद बनाने के लिए केवल प्रत्यय जोड़ना पड़ता है। इस प्रकार तुर्की की भाँति इसमें भी सम्बन्ध-तत्त्व स्पष्ट रहते हैं। इसके व्याकरण में सादृश्य (analogy) का बहुत बड़ा हाथ है। वाक्य-रचना की दृष्टि से यह अश्लिष्ट योगात्मक भाषा है। इस प्रकार इस भाषा में व्याकरण के केवल कुल १६ नियम पाये जाते हैं जो आधे घण्टे में सीखे जा सकते हैं। इस भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अपवाद नहीं मिलते। इस्पैरेन्टो की लिपि रोमन लिपि पर आधारित है। डा० जमेनहाफ ने इसको बनाने के पूर्व बहुत-सी भाषाओं के व्याकरणों का विश्लेषण किया। उस विश्लेषण के आधार पर इस भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने व्याकरण सम्बन्धी कुल १६ नियम बनाये।

डा० जमेनहाफ ने बड़े परिश्रम से इस भाषा का शब्द-कोष भी तैयार किया। पर अंग्रेजी की भाँति इसमें पढ़ने की कठिनाई नहीं है क्योंकि जो बोला जाता है वही लिखा जाता है और जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है।

इस्पैरेन्टो भाषा पर इनकी पहली पुस्तक सन् १८८७ में प्रकाशित हुई, तदनन्तर उन्होंने इस भाषा की बहुत सी पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित करवाईं। सन् १८८७ तक इस भाषा में ९०४ धातुएँ तथा उनसे निर्मित अन्य शब्दों की संख्या १०००० तक पहुँची थी। इसके पश्चात् जमेनहाफ ने अपनी कविताओं, निबन्धों, व्याख्यानों तथा अनेक अनूदित ग्रन्थों द्वारा इस भाषा को बहुत ही सम्पन्न बनाने का प्रयत्न किया। इसने शेक्सपीयर, डिकेन्स, मोलिअर, गोथे, शिलर आदि अनेक लेखकों की कृतियों का इस्पैरेन्टो में अनुवाद किया। उसने बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेण्ट का भी अनुवाद इस भाषा में किया जो उसकी मृत्यु के पश्चात् छपा। इसके जीवनकाल में ही पोलैण्ड, जर्मनी, बलगेरिया, रूस, स्कैण्डिनेविया, इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि देशों के लोग इसको सीखने में दिलचस्पी लेने लगे थे। टालस्टाय ने इस भाषा की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि दो घण्टे में कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति इसे सीख सकता है।

उसने सबको इस भाषा को सीखने का आदेश दिया। इस समय इस्पैरेन्टो में धातुओं की संख्या ७८०० तथा शब्दों की संख्या ८०००० पहुँच गई है। आज भी इस्पैरेन्टो के बोलनेवालों की संख्या कई लाख के करीब है। यद्यपि दो विश्वयुद्धों ने इस्पैरेन्टों के बहुत से पुस्तकालयों को नष्ट कर दिया फिर भी ५०००० से अधिक प्रकाशित पुस्तकें इस समय भी इस भाषा में पाई जाती हैं। यूरोप महाद्वीप के २२ देशों में यह भाषा स्कूलों में पढ़ाई जाती है। इस भाषा को सिखाने के लिए बहुत सी रात्रि-पाठशालाएँ यूरोप के अनेक देशों में आज भी चल रही हैं। यूरोप के ३० विश्वविद्यालयों में इस्पैरेन्टो के पढ़ाने का विशेष प्रबन्ध है। इस भाषा में नियमित रूप से यूरोप के २२ रेडियो स्टेशनों से समाचार प्रसारित किये जाते हैं। यूरोप में बहुत-सी पत्र-पत्रिकायें भी इस भाषा में निकलती हैं। इसका साहित्य आज भी बढ़ रहा है। यद्यपि इस भाषा का एक स्वतंत्र व्यक्तित्व है किन्तु स्वाभाविक कोटि का न होने से वह इस भाषा को जीवित भाषा नहीं बना सकता। कुछ राजनीतिज्ञों को यह भाषा भले ही सन्तोष दे दे पर स्वाभाविक भाषा का पद इसे नहीं मिल सकता। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में कुछ लोग इस्पैरेन्टो में परिवर्तन के पक्षपाती हो गये। और ऐसे लोग एक नवीन परिवर्तित तथा सरलतर भाषा के निर्माण की बात सोचने लगे। इन लोगों में प्रधान काटुरट Couturat महोदय थे। इस ध्येय से उन्होंने इस्पैरेन्टो को अधिक लचीली, वैज्ञानिक, सरल और स्वाभाविक बनाकर सन् १६०७ में इडो (Ido) नाम की भाषा का निर्माण किया। इडो शब्द इस्पैरेन्टो भाषा का है जिसका अर्थ है बच्चा। इस्पैरेन्टो में जो कुछ कठिनाइयाँ थीं वह इडो से निकाल दी गई हैं। अतः यह भाषा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनने की अधिक क्षमता रखती है पर इन दोनों में से कोई भी भाषा अन्तर्राष्ट्रीय बन सकेगी—यह संदेहास्पद है।

इस प्रकार के कुछ और भी प्रयास यूरोप में हुए। इटली निवासी पेआनो ने इंतरलिंगुआ, जेस्पर्सन ने नोविआल, जर्मन निवासी श्लेयर ने बोलाप्यूक तथा हौग्वेन ने इन्तेरग्लौसा नामक कृत्रिम भाषा को चलाने का प्रयत्न किया। पर ऐसी बोलियाँ बनकर रह गईं, चल नहीं सकीं।

हिन्दुस्तानी भी एक प्रकार की कृत्रिम भाषा है। साहित्यिक हिन्दी तथा साहित्यिक उर्दू एवं अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों के मिश्रण से इस भाषा के निर्माण का प्रयत्न भारत के स्वतंत्र होने के कुछ वर्ष बाद तक होता रहा। गांधीजी ने भी इसको बहुत प्रोत्साहन दिया। प्रयाग में हिन्दुस्तानी

एकेडमी की स्थापना भी इसी प्रकार के उद्देश्य से की गई। हिन्दुस्तानी नामक त्रैमासिक पत्रिका भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निकाली गई। अंग्रेजी सरकार के संरक्षण में इस कृत्रिम भाषा को चलाने के लिए अनेक उपाय किए गये। इसके प्रचारकों तथा समर्थकों ने यह सोचा था कि इसके प्रचार से भारतवर्ष में भाषा सम्बन्धी विरोध अर्थात् हिन्दी-उर्दू का विरोध समाप्त हो जायगा। इसके समर्थकों ने यह सोचा था कि पाकिस्तान के अस्तित्व में आ जाने से देश की भाषा सम्बन्धी सामयिक आवश्यकता अब दूर हो गई। अतः अब हिन्दुस्तानी का नाम कोई नहीं लेता।

गुप्त भाषा

कृत्रिम भाषा का एक रूप गुप्त भाषा की संज्ञा धारण कर लेता है। कृत्रिम तथा गुप्त भाषा में मूल अन्तर यह है कि गुप्त भाषा गुप्त व्यवहार के लिए बनाई जाती है, इसलिए वह प्रचलित भाषा से अधिकाधिक दूर रखी जाती है ताकि जल्दी कोई समझ न सके। पर कृत्रिम भाषा प्रचलित भाषा के निकट रखी जाती है जिससे अधिकांश लोग जल्दी से जल्दी समझकर उसका प्रयोग कर सकें। गुप्त भाषा का मूल उद्देश्य यह है कि उसके माध्यम से जिससे बातचीत की जाती है केवल वही उसे समझे, किन्तु कृत्रिम भाषा का उद्देश्य यह है कि वह अधिक से अधिक लोकप्रिय सिद्ध हो सके। चोरों, डाकुओं, ठगों आदि की भाषा में इसका प्रयोग बहुत मिलता है। इसमें शब्द तो साधारण प्रयोग के ही रहते हैं पर तोड़-मरोड़कर या विपरीत अथवा विशिष्ट अर्थ में रखे जाते हैं जैसे, डाकुओं की भाषा में पूजा करो का तात्पर्य रहता है, खूब पीटो तथा परसाद दो का अर्थ रहता है ज़हर दो। भारत की स्वतंत्रता के पूर्व गरम-दल के क्रान्तिकारियों में इस प्रकार की गुप्त भाषा प्रचलित थी। इसमें भाषा का पूर्ण रूप तो नहीं बन सका था, पर काम चलाऊ रूप तैयार हो गया था। जैसे, अनुपस्थित का अर्थ होता था-आइए।

दस बारह वर्ष के बच्चों में गुप्त भाषा निर्मित करने तथा बोलने की प्रवृत्ति बहुत अधिक रहती है। कुछ लड़के दो-दो घण्टे अपनी गुप्त भाषा में बात कर लेते हैं और अन्य सुननेवाले कुछ नहीं समझते। मेरी बड़ी लड़की जिसकी उम्र १२ वर्ष की है कई तरह की गुप्त भाषायें बोलने की क्षमता रखती है। वह शब्दों में कभी **रम्** लगाकर बोलती है। जैसे, तुम कहाँ जा

रहे हो को तुरमू करमहाँ जरमा ररमहे हरमो। कभी रफ् लगाकर बोलती है। तुम कहाँ जाती हो को तुरफोम् करफहाँ जरफाती होरफो।

कुछ बच्चे टक लगाकर बोलते हैं। जैसे, तुम खाना खाती हो को तुटकुम खटखाना खटकाती होट को। कुछ च लगाकर बोलते हैं। जैसे, मैं पुस्तक पढ़ती हूँ :—च मैं चप् चस् चत् चक् चप चढ़ चती चहूँ। कुछ बच्चे प्रत्येक अक्षर के बाद में कई शब्दों को जोड़कर बोलते हैं जैसे,

रा कस्तूरी पंजा बीरे मकस्तूरी मासा = राम
जा कस्तूरी पंजा बीरे ताकस्तूरी मासा है = जाता है।
कुछ बच्चे अक्षर के आरंभ तथा कभी बाद में फुल लगाकर बोलते हैं जैसे,
फुलरा फुलजा राफुल फुलम = राजाराम।

कहीं-कहीं गुप्त भाषाओं की अलग लिपि भी मिलती है, कुछ लोग कई लिपियों के संकेतों को मिलाकर एक अलग गुप्त लिपि बना लेते हैं।

इति भाषायाम् से स्पष्ट है कि प्राकृत या देशी भाषाओं के लिए भाषा शब्द का प्रयोग किया जाता था। तुलसी की उक्ति—'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच' से स्पष्ट है कि भाषा शब्द का प्रयोग तुलसी ने भी जनभाषा या जीवित भाषा के लिए किया।

भाषा-वैज्ञानिक भाषा शब्द का प्रयोग भाषा के लिखित, उच्चरित आदि सभी प्रकारों, भेदों तथा रूपों के लिए करता है।

कभी-कभी अद्वितीय साहित्य-निर्माता कवियों तथा लेखकों की भाषा के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे कबीर की भाषा, कबीर हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। उनकी भाषा को अवधी या व्रज या भोजपुरी अथवा खड़ीबोली जैसा कोई नाम नहीं दिया जा सकता। उसमें सब है और वह सबसे अलग भी है, इसलिए उसे हम कबीर की भाषा कहते हैं।

सांकेतिक भाषा के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसे भाषा का औपचारिक प्रयोग कहते हैं, जैसे—गूँगे की भाषा।

ममोमा की भाषा के लिए भी भाषा शब्द चलता है, जैसे—झण्डी की भाषा।

पशु-पक्षियों की बोली के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे, कुत्ते की भाषा, मधु-मक्खियों की भाषा आदि।

कवि लोग फूलों के संकेत या सूचकात्मक संदेश के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग करते हैं, जैसे, फूलों की भाषा।

कवि लोग कभी-कभी भावों के प्रसंग में भी भाषा शब्द का प्रयोग करते हैं, जैसे—दुख की भाषा, सुख की भाषा।

यंत्रों की भाषा के लिए भी भाषा शब्द का प्रयोग होता है, जैसे—रेडियो की भाषा, तार की भाषा।

भाषा के विविध रूप

भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र के अट्ठारहवें अध्याय में भाषा के चार रूप बताये हैं—

अत्यार्यजातिजात्यन्तरीभाषाचतुर्धेतिभरतः ।

(१) अति भाषा अर्थात् देवताओं की भाषा ।

(२) आर्य भाषा अर्थात् वह भाषा जो पढ़े लिखे लोगों की बोली होती है, जो राजकाज चिट्ठी-पत्री-शिक्षा आदि के काम में आती है । अर्थात् राजभाषा ।

(३) जातिभाषा जो एक जाति या एक पेशे वालों की बोली होती है ।

जाति भाषा के दो भेद हैं । म्लेच्छशब्दोपचारी तथा भारतीय ।

(क) म्लेच्छशब्दोपचारी :—किसी एक प्रदेश या एक जाति की वह भाषा है जिसमें विदेशी शब्द बहुत रहते हैं ।

(ख) भारतीय—किसी विशिष्ट प्रदेश या विशिष्ट जाति की भाषा जिसमें बाहर की बोलियों का मेल नहीं रहता ।

(४) जात्यन्तरी भाषा—अन्तरप्रादेशिक अर्थात् राष्ट्रभाषा । इस ब्यौरे में भरत ने नायक, ब्राह्मण, संन्यासी, मुनि, राजवेश्या, रानी को संस्कृत में बोलने का आदेश दिया है, और शेष लोगों को प्राकृत में । वहीं पर उन्होंने प्राकृत के तीन साँचे बतलाये हैं । समाना, विभ्रष्टा तथा देशी । समाना प्राकृत तत्सम शब्दों से भरी रहती है, विभ्रष्टा में तद्भव का बाहुल्य रहता है तथा देशी में देशज शब्दों की अधिकता रहती है । समाना प्राकृत में पुष्प, सलिल, मान, रेणु, सुरंग आदि तत्सम शब्दों की बहुलता तथा विभ्रष्टा में गिम्हो, (ग्रीष्म) कण्हो (कृष्ण) जैसे तद्भव शब्दों की अधिकता रहती है । देशी में ठेठ देशी शब्द रहते हैं । जैसे, टिक्कड़ भाँज ले । भरत मुनि के सिद्धान्त को आधुनिक दृष्टि से देखने से पता चलता है कि उनके मतानुसार भाषा के तीन रूप होते हैं—पहली है राजभाषा जो राजकाज के काम में आती है । दूसरी है राष्ट्रभाषा जो अन्तरप्रादेशिक रूप में विचार-विनिमय का माध्यम बनती है । तीसरी है लोक भाषा या साधारण जनता की भाषा जिसके चार रूप होते हैं—

पहले में तत्सम शब्दों की अधिकता, दूसरे में तद्भव शब्दों की बहुलता, तीसरे में देशी शब्दों का आधिक्य, चौथे में विदेशी शब्दों की भरमार रहती है। इस प्रकार शब्दों के आधार पर किसी भी जन या लोक भाषा के चार रूप निर्धारित किए जा सकते हैं। तत्सम शब्दों से भरी भाषा समाना, तद्भव शब्दों से भरी भाषा विभ्रष्टा, देशज शब्दों से भरी भाषा देशी तथा विदेशी शब्दों से भरी भाषा म्लेच्छशब्दोपचारी या विदेशीशब्दोपचारी। इसे हम काठा खींचकर यों समझा सकते हैं।

शब्दों के आधार पर भाषा के विविध रूप

समाना विभ्रष्टा देशी विदेशी शब्दोपचारी

ध्वनि तत्त्व, भाषा को बाह्य अस्तित्व प्रदान करने में सबसे प्रधान तत्त्व माना गया है। ध्वनि-तत्व के आधार पर भाषा के निम्नांकित रूप हैं :—जैसे,

(१) संगीतात्मक स्वराघात-प्रधान भाषा। जैसे, स्वेडिश, फ्रेंच, ग्रीक, वैदिक संस्कृत।
(२) बलात्मक स्वराघात-प्रधान भाषा। जैसे, अंग्रेज़ी, मलनेशियन परिवार।
(३) व्यंजन प्रधान भाषा। जैसे, उत्तरी काकेशस।
(४) स्वरप्रधान भाषा। जैसे, हवाईटापू की भाषा में व्यंजन बहुत कम हैं, स्वरों का बाहुल्य है।
(५) स्वरअनुरूपता-प्रधान भाषा। जैसे, यूराल-अल्टाई
(६) अपश्रुति-प्रधान भाषा। जैसे, भारोपीय।
(७) सुर-प्रधान भाषा। जैसे, चीनी।
(८) मधुर ध्वनि-प्रधान भाषा। जैसे, बान्टू परिवार की भाषा।
(९) क्लिकध्वनि-प्रधान भाषा। जैसे, बुशमैन परिवार की भाषा।
(१०) जटिल ध्वनि-प्रधान भाषा। जैसे, जापानी।

उच्छिन्न अर्थ में भाषा का प्रयोग मनुष्य-मनुष्य के बीच परबोधार्थ अभिव्यक्ति सम्बन्धी व्यक्तध्वनि के अतिरिक्त अन्य साधनों के लिए भी होता है। इसलिए अभिव्यक्ति सम्बन्धी इन साधनों के आधार पर भी भाषा के रूप बनते हैं :—जैसे, लिखित भाषा, शिलालेखों की भाषा, ममोमा की भाषा, क्लिकध्वनियों की भाषा, यंत्रों की भाषा।

वाक्य-रचना अथवा भाषा-आकृति के आधार पर भाषा के विविध रूप—

इसकी स्पष्टता के लिए इसका काठा नीचे उदाहरण सहित बना दि गया है।

आकृति के आधार पर भाषा के विविध रूप
अयोगात्मक
प्रत्येक शब्द स्वतंत्र सत्ता रखता है।
जैसे, चीनी, सूडानी
योगात्मक
शब्दों की स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती
सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व के साथ जुड़े रहते हैं
प्रश्लिष्ट
अश्लिष्ट
श्लिष्ट
पूर्ण प्रश्लिष्ट
आंशिक प्रश्लिष्ट
पूरा वाक्य एक शब्द बन जाता है। जैसे, दक्षिणी अमेरिका की चेरो भाषा।
संज्ञा-विशेषण, क्रिया. अव्यय सभी का योग संभव नहीं रहता, आंशिक योग रहता है जैसे, बास्ककुल की भाषा
पूर्वयोगात्मक
मध्ययोगात्मक
अन्त योगात्मक
वाक्य में शब्द अलग-अलग रहते हैं। वाक्य में शब्दों की रूप रचना में सम्बन्धतत्त्व केवल आरंभ मेंलगता है। जैसे, बांटूकुल की भाषा।
वाक्यों में शब्दों की रूप रचना में सम्बन्ध तत्त्व बीच में जोड़ा जाता है। जैसे, मुण्डा भाषा
सम्बन्धतत्त्व अन्त में जोड़ा जाता है। जैसे, द्राविड़ परिवार।
अन्तर्मुखी श्लिष्ट
बहिर्मुखी श्लिष्ट
सम्बन्धतत्त्व घुलमिल जाता है। जैसे, सेमेटिक, हेमेटिक।
सम्बन्धतत्त्व की झलक बाहर दिखाई पड़ती है। जैसे, संस्कृत
संयोगात्मक
वियोगात्मक
संयोगात्मक
वियोगात्मक
शब्दों में अलग से सहायक संबंधतत्त्व लगाने की आवश्यकता नहीं। जैसे, अरबी का पुराना रूप।
सहायक सम्बन्ध तत्त्व लगाये जाते हैं। जैसे, हिब्रू।
शब्द में ही सम्बन्धतत्त्व लगा रहता है। जैसे, संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन।
सम्बन्धतत्त्व अलग से शब्द के बाहर लगा रहता है जैसे, अंग्रेजी, हिन्दी, बंगला आदि।

क्षेत्रीय परिमाण की दृष्टि से भाषा के विविध रूप :—(१) अन्तर्राष्ट्रीय भाषा, (२) राष्ट्र भाषा, (३) विभाषा या उपभाषा, (४) बोली। अन्तर्राष्ट्रीय भाषा विश्वभर में देश-देश के बीच विचार-विनिमय के माध्यम-रूप में चलती है। जैसे, अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। राष्ट्र भाषा किसी एक देश में अन्तर-प्रादेशिक विचार-विनिमय के माध्यम-रूप में चलती है। देश के बहुसंख्यक लोग उसे बोलते, समझते, पढ़ते हैं। जैसे, भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। विभाषा एक विशिष्ट प्रान्त की अथवा उसके सर्वाधिक भाग की भाषा होती है; जैसे, बुन्देली एक विभाषा है। कभी-कभी बोली एक जिले या तहसील की भाषा होती है, कभी-कभी इसका घेरा कई जिलों तक फैला रहता है। जैसे, भोजपुरी। भाषा, विभाषा तथा बोली का अन्तर अगले अध्याय में विस्तार से स्पष्ट किया गया है। सामाजिक दृष्टि से भाषा के दो मुख्य रूप होते हैं :—शिष्टा तथा ग्राम्या। इनकी स्पष्टता के लिए हर एक के विभिन्न रूपों का काठा उदाहरण सहित नीचे दिया जाता है :—
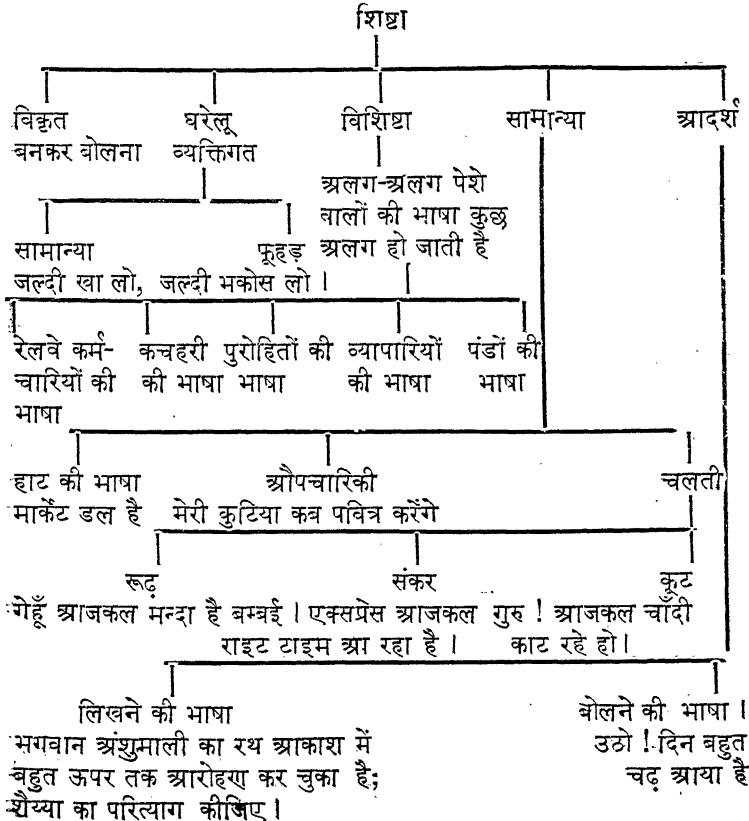
ग्राम्या के विभिन्न स्वरूपों के लिए उसका काठा नीचे दिया जाता है
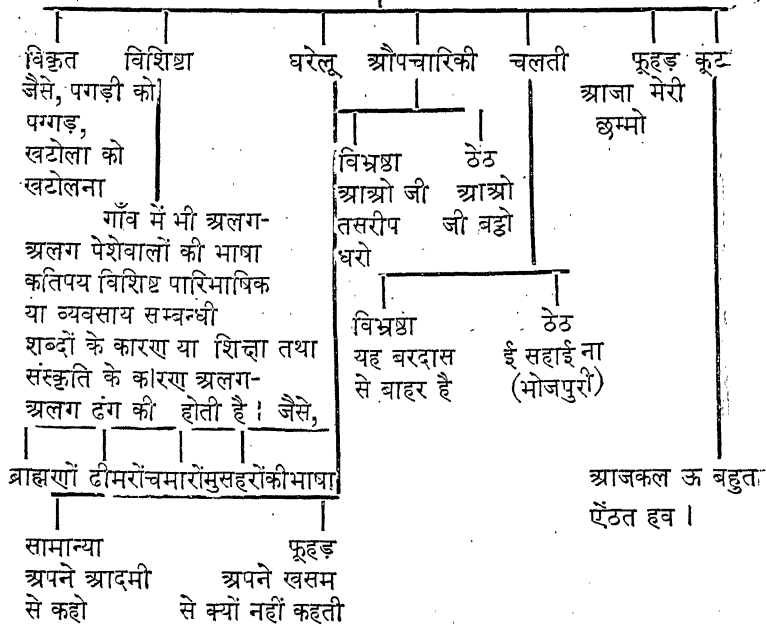
जनता की भाषा स्व तथा पर-प्रादेशिक भेद से दो तरह की होती है—

स्व प्रादेशिक रूप :—

(१) **संकर स्वदेश-मुखी**—वह भाषा जिसमें अपने देश के लोग अनेक भाषा के शब्दों को मिला देते हैं—जैसे, इस होटल के बाजू में जो एक बाई जी रहती हैं उससे पगार लेने का है।

टू डाउन का लाइन क्लीअर हो गया है।

ट्राम से भिड़कर एक रिक्शा खलास हो गया।

विकृत स्वदेश-मुखी—अपने घेरे में ही लोग जब अपनी भाषा को बिगाड़ कर बोलते हैं—तब इस प्रकार की भाषा का जन्म होता है।

तुम हमका भुलवावते हौ।

तुम क्या खाने माँगता है।

(३) **दुरुच्चरित स्वदेश-मुखी :**—कठिन बोली को साधारण जनता के लोग सरल करने की दृष्टि से खूब तोड़-मरोड़ करके बोलते हैं।

१—अँधेरी कचहरी में जराट साहब आज नहीं आये थे।

२—सोप्रेंडेएट साहब टेसन के लेटफारम पर बइठे हैं।

इसी तरह जब अपनी बोली दूसरे प्रान्त में या दूसरी भाषा बोलनेवालों से विकृत करके बोली जाती है तब उसके भी तीन भेद दिखाई पड़ते हैं—

(१) संकर परमुखी :—

इंडिया का लोग बहोत फिलासफर माफिक होता है।

(२) विकृत परदेश-मुखी :—

टुम जाने शकता।

हम मोटर का मेम साहब माँगता है।

(३) दुरुच्चरित परदेसमुखी :—

संसकीरत भाशा बहोत डिफिकल्ट है।

स्थान-भेद से एक विभाषा या बोली में जो विभिन्न भेद या रूप दिखाई पड़ते हैं उन रूपों का आधार स्थान या भौगोलिक मानना उचित है। जैसे बुन्देली भाषा के विभिन्न भेद—पँवाँरी, लोधान्ती, राठौरी, खटोला, बनाफरी, कुंड्री, तिरहारी आदि भौगोलिक आधार पर हैं। स्थान-भेद या जिला-भेद के आधार पर भोजपुरी के विभिन्न रूपों को एक वाक्य में देखिए :—

कहवाँ जात हउवऽ—तहसील चन्दौली में।

कहवाँ जात हया—बनारस तहसील में राजातालाब के आस-पास।

कहाँ जात हउआ। बनारस शहर में।

कहवाँ जात बाटऽ। गाजीपुर जिले में।

कहवाँ जात हई। बलिया।

रउरे कहवाँ जातानी—शाहाबाद।

कहवाँ जात बानी। आजमगढ़

बोधगम्यता की दृष्टि से भाषा के दो रूप दिखाई पड़ते हैं—जैसे कृत्रिम और गुप्त। कृत्रिम भाषा का आविष्कार भाषा को विश्व धरातल पर अधिकाधिक लोगों के बीच विचार-विनिमय की सरलता की दृष्टि से किया जाता है। जैसे, इस्पैरेन्टो भाषा। चुने हुए एक या दो ही आदमियों को बोधगम्य बनाने के लिए गुप्त भाषा का निर्माण किया जाता है। जैसे—चोरों, डाकुओं, ठगों या क्रान्तिकारियों की भाषा। इनका विस्तृत विवेचन इसके पहले हो चुका है, अतः पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं।

भाषा, विभाषा तथा बोली का अन्तर

भाषा, विभाषा तथा बोली का अन्तर विकासवाद की दृष्टि से, क्षेत्रीय परिमाण की दृष्टि से, बोधगम्यता की दृष्टि से, साहित्यिक दृष्टि से तथा राजनीतिक दृष्टि से स्पष्ट किया जा सकता है। विकासवाद की दृष्टि से जहाँ एक ओर बोली विकसित होकर भाषा के पद पर पहुँची है वहाँ दूसरी ओर भाषा से बोलियाँ भी बनती हैं। प्रसिद्ध भाषा शास्त्री उहनबैक के मतानुसार वेद की भाषा पहले एक बोली थी। मैक्समूलर महोदय भी इसी मत के अनुयायी हैं। वैदिक बोली विकसित होकर संस्कृत भाषा बनी। बहुत से देशों की राष्ट्रीय तथा साहित्यिक भाषायें पहले जनपदीय बोलियाँ थीं। किन्तु राजधानी के पास बोली जाने के कारण अथवा अपने बोलने वालों की राजनीतिक अथवा सैनिक प्रभुता के कारण अथवा सारे देश का सांस्कृतिक ढाँचा तैयार करने के कारण उन्हें भाषा के क्षेत्र में नेतृत्व मिला और धीरे-धीरे विकसित होकर वे राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन हो गईं। आधुनिक रूस की स्टैण्डर्ड भाषा मास्को की बोली के आधार पर बनी है, इसी प्रकार स्टैण्डर्ड जापानी टोकियो की बोली के आधार पर निर्मित हुई है, आज के भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी पहले एक बोली थी, उसके नाम (खड़ी बोली) से इस मत की पुष्टि होती है। वह पहले सैनिक क्षेत्र में प्रविष्ट होकर हिन्दुस्तान के अन्य क्षेत्रों में फैली, फिर सांस्कृतिक तथा साहित्यिक कारणों से विकसित हुई, आगे चलकर राजनीतिक कारणों से उसे भारत की भाषाओं में नेतृत्व करने का अवसर मिला और वही विकसित तथा पुष्ट होकर आज राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर आसीन होने जा रही है। इसी प्रकार आर्य परिवार में आने वाली भारत की अनेक बोलियाँ शिष्ट संस्कृत की अपभ्रंश मात्र हैं। इसीलिए कुछ विद्वानों के मत में प्रत्येक भाषा बोलियों का एक जटिलस कार्य है।

क्षेत्रीय परिमाण की दृष्टि से अन्तर

भाषा का क्षेत्र प्रायः सम्पूर्ण देश या देश का अधिकांश हिस्सा रहता है। धार्मिक आन्दोलन, सांस्कृतिक महत्ता, नयी राजनीतिक उलटफेर, ऐतिहासिक पट-परिवर्तन से भाषा को नेतृत्व का तिलक मिलता है और उस देश या भूभाग के लोग अपने काम-काज, चिट्ठी-पत्री, शिक्षा-दीक्षा, राज-काज, लिखा-पढ़ी के लिए किसी एक बोली या विभाषा को राष्ट्रभाषा या

प्रामाणिक भाषा बना लेते हैं। एक भाषा के घेरे में बहुत सी विभाषायें आती हैं। जैसे, हिन्दी के घेरे में ब्रज, अवधी, राजस्थानी, बुन्देली, बघेली आती हैं। दो विरोधी विभाषा-समूहों की परस्पर विरुद्ध पड़ने वाली विशेषतायें जिस-जिस भाषा-परिवार में प्राप्त होंगी वे दोनों भाषायें भाषा नाम से अभिहित होती हैं। जैसे, ब्रज, अवधी, राजस्थानी, बुन्देली में पायी जाने वाली समान विशेषतायें सबसे अधिक मात्रा में हिन्दी में उपलब्ध हैं, इसी प्रकार तामिल, तेलगू, कनाडी, मलयालम् की विशेषताओं को पूंजीभूत रूपमें एक स्थानपर संचित करने वाली भाषा को हम द्रविड़ भाषा कहते हैं।

क्षेत्रीय दृष्टि से भाषा देश की भाषा होती है, विभाषा प्रान्त की या प्रान्त के अधिक हिस्से की भाषा रहती है। बोली प्रायः जिले या कभी-कभी कई जिलों में भी प्रयुक्त होती है, बोली का घेरा सबसे छोटा, विभाषा का उससे बड़ा तथा भाषा का सबसे बड़ा होता है। एक बोली या विभाषा के बोलने वाले जब दूसरे प्रान्त में जीविका की खोज के कारण या व्यापार करने के लिए या राज्य-विस्तार की दृष्टि से बस जाते हैं तो उनकी बोली; उस भूभाग के लोगों की बोली, संस्कृति, सम्पर्क, भौगोलिक भिन्नता पाकर कुछ दिनों में अलग व्यक्तित्व धारण कर लेती है और तब उसका नाम भिन्न कोटि का रख दिया जाता है। जैसे, बुन्देली का व्यक्तित्व पहले ब्रजभाषा से अभिन्न कोटि का था। बुन्देलों के साथ मध्यप्रदेश में यह भाषा आई और कालान्तर में भिन्न-भिन्न जातियों के सम्पर्क, उनकी बोली के प्रभाव, भौगोलिक अंतर आदि से उसने अपना व्यक्तित्व भिन्न कोटि का बना लिया और वह विभाषा की विशेषताओं से सम्पन्न हो गई। ऐसा कहना ठीक नहीं कि हिन्दी भाषा है; राजस्थानी, भोजपुरी, बैसवाड़ी उसकी बोलियाँ हैं। यह कहना उपयुक्त है कि हिन्दी भाषा के घेरे में राजस्थानी, ब्रज, अवधी आदि विभाषायें हैं अर्थात् एक भाषा के घेरे में बहुत सी विभाषायें आती हैं और एक विभाषा में अनेक बोलियाँ होती हैं। जैसे, बुन्देली की अनेक बोलियाँ हैं। जैसे, पवाँरी लोधान्ती, राठौरी, खटोला, बनाफरी, कुंड्री, तिरहारी, निभट्टा आदि।

विभाषा का क्षेत्र प्रायः बोली से बड़ा होता है। वह प्रान्त या उपप्रान्त में बोलचाल या पुस्तक लिखने के काम में आती है। अंग्रेजी में इसे dialect कहते हैं। हिन्दी में कुछ विद्वान् इसे विभाषा, कुछ उपभाषा या प्रान्तीय भाषा कहते हैं। विभाषा का अपने घेरे में राज्य होता है। भाषा की तरह किसी के नेता बनाने से वह नेतृत्व नहीं धारण करती वरन् अपने

बल पर नेतृत्व धारण करती है। विभाषा के भौगोलिक तथा सामाजिक आधार पर दो भेद होते हैं। विभाषा के भौगोलिक भेद में इसकी भिन्न-भिन्न बोलियाँ आ जाती हैं तथा सामाजिक भेद में डाक्टर, वकील, पंडित, दार्शनिक, चोर, डाकू, गुण्डा, पंडा, राजनीतिज्ञ की भाषायें आती हैं जिनका रूप पेशों की भिन्नता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की पारिभाषिक पदावली, स्वर, लहजे आदि से सम्पृक्त होने के कारण बदल जाता है।

बोली उस बोलचाल के ढंग को कहते हैं जो हम अपने घर में अपने बच्चों, आत्मीयों, साथियों, नौकरों, मित्रों, अभिन्नों से बिना बनावट, मिलावट सजावट के बोलते हैं। इसे अंग्रेजी में पेट्वा कहते हैं। आठ कोस पर बोली बदलने का तात्पर्य है बोली का लहजा, बोली के लटके, बोली के ढंग में परिवर्तन हो जाता है फिर भी इसका सांचा या ढांचा एक सा रहता है। बोलियों में अपने अन्दर प्रगट रूप से भाषा-तत्व सम्बन्धी कोई विभेद नहीं होता जो विभाषाओं या भाषाओं में सरलता से श्रुतिगोचर होता है। कहीं-कहीं कुछ स्वर, कुछ बल, कुछ मुहावरे तथा कुछ शब्द बदल जाते हैं। कुछ शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन का ढंग बदल जाता है। जैसे मेवाड़ी में साढ़े सात को हाड़े हात कहते हैं पर राजस्थानी की दूसरी बोलियों-जैसे, जैसलमेरी तथा जैपुरिया में साढ़े सात ही कहते हैं।

विभाषा के समान बोलियों में भी भौगोलिक तथा सामाजिक भेद पाया जाता है पर वह बहुत ही तुच्छ कोटि का होता है। जैसे—भोजपुरी बोली के भिन्न भिन्न जिलों में उसका भिन्न-भिन्न रूप निम्नांकित प्रकार का है—

कहवाँ जात हउवऽ—बनारस।

कहवाँ जातानी—शाहाबाद।

कहवाँ जातबानी—आकमगढ़।

कहवाँ जातहई—बलिया।

कहवाँ जातबाटऽ—गाजीपुर।

इसी प्रकार एक बोली में भी सामाजिक भेद पाया जाता है। अपढ़ों की बोली, शिक्षितों की बोली, हाट की बोली, औपचारिकी बोली, चोरों तथा डाकुओं की बोली, घरेलू बोली, ग्राम्या बोली, विभ्रष्टा बोली। यहाँ तक कि स्त्रियों तथा पुरुषों की बोली में भी कहीं-कहीं भेद हो जाता है।

अपढ़ों की भोजपुरी—आप से कब मिलीं।

शिक्षितों की—आप के मिलै क समय कब हव।

औपचारिकी—आप क दर्शन कब करीं।

ग्राम्या—आप से कब भेंट होई।

घरेलू—आपके यहाँ कब आई।

हाट की भाषा-मंगल हव (गाहक से रुपया में दो आने दलाली चल रही है)

विभ्रष्टा—अपने खसम से जाय के काहे ना कहतू।

प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक इ० सेपिर (Sapir) ने उत्तरी केलीफोर्निया की यन (yana) नामक भाषा का सूक्ष्म अध्ययन करके यह बतलाया है कि वहाँ पुरुषों तथा स्त्रियों की बोली में अन्तर पाया जाता है। प्रत्येक शब्द पुरुषों द्वारा पूर्ण रूप से उच्चारित किया जाता है किन्तु स्त्रियाँ शब्दों को संक्षिप्त करके बोलती है। मुसलमानों द्वारा बोली जानेवाली खड़ी बोली में रेख्ता-रेख्ती भेद पुरुषों तथा स्त्रियों की बोली के आधार पर ही हुआ है। मुसलमान स्त्रियों की बोली में पुरुषों की तुलना में अरबी शब्दों का आधिक्य रहता है। वर्गों की सामाजिक श्रेष्ठता या हीनता के कारण भी बोली में अन्तर उपस्थित हो जाता है। जावा के मूल निवासियों में रिवाज है कि उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग वालों से न्गोको बोली बोलते हैं और निम्न वर्ग वाले उनसे क्रोमो में बोलते हैं। हमारे देश में भी गावों में ब्राह्मण आदि ऊँची जातियों के मनुष्यों के साथ क्रिया का रूप आदर प्रदर्शक कोटि का होता है किन्तु हरिजन आदि जातियों के साथ आज्ञाबोधक ढंग का हो जाता है।

बोधगम्यता की दृष्टि से भाषा, विभाषा तथा बोली में अन्तर निम्न प्रकार का हैं। यदि दो भाषायें भिन्न-भिन्न परिवार की हुईं तब तो एक का बोलनेवाला दूसरी को बिना सीखे कुछ भी नहीं समझ सकता। यदि दो भाषायें एक ही परिवार की रहीं और उनमें निकट का सम्बन्ध रहा तब तो वे एक दूसरे को कुछ बोधगम्य हो सकती हैं। और यदि एक परिवार की दो भिन्न भाषाओं में बहुत दूर का अन्तर रहा तब तो वे एक भाषा-भाषी को दूसरी भाषा समझ में नहीं आ सकती, जैसे—संस्कृत भाषा-भाषी लैटिन को नहीं समझ सकता, यद्यपि दोनों एक ही कुल की हैं। क्योंकि दोनों का सम्बन्ध बहुत दूर का है। इसलिए उनमें अन्तर भी बहुत अधिक हो गया है। संस्कृत को जाननेवाला अवस्ता को कुछ दूर तक समझ सकता है क्योंकि दानों में निकट का सम्बन्ध है। इसलिए उनमें कुछ साम्य पाया जाता है। दो विभिन्न विभाषाओं के बोलने वालों को एक दूसरे की बातचीत समझने में कुछ कठिनाई होती है किन्तु एक विभाषा की दो भिन्न बोलियों के बोलने वालों को एक दूसरे की बोली समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती।

जैसे, ब्रज को बोलने वाला अवधी को बहुत दूर तक समझ जाता है फिर भी उसे कुछ कठिनाई होती है। किन्तु एक विभाषा की दो भिन्न बोलियों के बोलने वालों को परस्पर की बातचीत समझने में कुछ कठिनाई नहीं आती। जैसे, बुन्देलखण्डी की खल्वाटी बोलने वाला पँवारी बोलनेवाले की बातचीत को आसानी से समझ लेता है।

साहित्यिक दृष्टि से भाषा-विभाषा तथा बोली का अन्तर निम्न प्रकार का है—

प्रायः विभाषा में साहित्य की रचना कम देखी जाती है, और जब कभी विभाषाओं या बोलियों में भी अच्छे साहित्य की रचना होती है तो इससे उनका स्तर बढ़ जाता है, उनका क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। साहित्यिक प्रभाव से उसमें सांस्कृतिक प्रभाव भी अधिक आ जाता है। इससे बोली विभाषा का पद ले लेती है, विभाषा भाषा का पद ले लेती है। ब्रज पहले एक बोली थी। अपने साहित्यिक प्रभाव से वह विभाषा बन गई। अभी कुछ दिनों पूर्व ब्रज-भाषा को अपने साहित्यिक प्रभाव के कारण वह सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था कि लोग चिट्ठी-पत्री, कथा-पूजा में भी ब्रज-भाषा का प्रयोग करने लगे थे। बुन्देली में कुछ लोक-गीतों के सिवाय साहित्य की रचना कभी नहीं हुई इसलिए उसका न तो विस्तार हो सका और न उसका स्तर ही बढ़ सका। इस कारण वह अभी तक एक विभाषा ही बनी रही। विभाषा या बोली में भी जब कभी लोक-गीत लिखा जाता है तो उस पर उस समय की भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। जैसे, भोजपुरी में लोक-गीतों की रचना करनेवाले रामकेर की कविता में खड़ी बोली का बहुत प्रभाव है यद्यपि वे अनपढ़ लोक कवि हैं। इसी प्रकार साहित्यिक भाषा के काव्यों में भी स्थानीय बोली का पुट बहुत अधिक रहता है। जैसे, केशव और बिहारी की ब्रज-भाषा में बुन्देली का बहुत प्रभाव है। आजकल के खड़ी बोली के आंचलिक उपन्यासों में विभाषा अथवा बोलियों का प्रयोग अधिकता से पाया जाता है।

कभी-कभी साहित्यिक भाषा का अपभ्रष्ट रूप विभाषा का रूप धारण कर लेता है। संस्कृत भाषा का साहित्यिक रूप प्रतिष्ठित हो जाने पर उसके विभ्रष्ट रूप से विभिन्न प्राकृतें बनीं जो अपने समय में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में विभाषा के पद पर आसीन थीं। आज की साहित्यिक खड़ी बोली का विभ्रष्ट रूप दिल्ली-मेरठ के आस-पास dialect के रूप में पाया जाता है।

राजनीति की दृष्टि से वही राष्ट्र भाषा है जो केन्द्रीय-शासन से राष्ट्र भाषा के रूप में स्वीकृत हो जाती है; विभाषा को ऐसी स्वीकृति नहीं मिलती। इसलिए वह विभाषा या उपभाषा के रूप में रह जाती है। हिन्दी पहले एक बोली थी। वह आज भाषा कही जाती है, क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से वह राष्ट्र-भाषा स्वीकृत हो गई है। व्रज, अवधी, बंगला को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका। इसलिए वे विभाषा मात्र बनी रह गईं।

ज़ार के समय में लिथूनियन और लेटिश, भाषा के पद पर आसीन नहीं थीं किन्तु प्रथम युद्ध के पश्चात् लिथूनियन और लेटिश रिपब्लिक के बनने पर लिथूनियन और लेटिश भाषा के पद पर आसीन हो गईं। कियत् काल पश्चात् जब ये दोनों देश सोवियत यूनियन में मिला लिये गये तब फिर ये भाषायें भाषा-पद से च्युत हो गईं।

जहाँ जातीयता एवं प्रान्तीयता की भावना अधिक जकड़ी एवं घनीभूत कोटि की रहती है वहाँ बहुत सी भाषायें एवं बोलियाँ पाई जाती हैं। किन्तु जहाँ प्रान्तीयता एवं जातीयता की भावना कम रहती हैं वहाँ विभाषाओं की संख्या कम रहती है एवं बोलियों का अन्तर भी कम हो जाता है। जैसे, अमेरिका में विभाषाओं (Dialects) की संख्या कम है और जो है उनमें अन्तर कम है। क्योंकि अमेरिका में संकुचित प्रान्तीयता की भावना मध्यकालीन यूरोप के देशों की तरह नहीं पनप सकी।

शिक्षा, सेना की नौकरी, व्यवसाय, धार्मिक पृष्ठभूमि की समानता, राष्ट्रीय चेतना की जागर्ति एवं वृद्धि तथा आवागमन के अच्छे साधन भाषा में एकता लाते हैं एवं विभाषाओं में भिन्नता लाने के तत्व को मार डालते हैं। इसी प्रकार प्रवासियों की भाषा में भी मरने की प्रकृति अधिक रहती है। वह एक या दो पीढ़ी तक ही चलती है। क्योंकि वातावरण, शासन एवं संस्कृति के भिन्न तत्त्व दूसरी पीढ़ी को दूसरी भाषा सीखने के लिए बाध्य कर देते हैं।

भाषा का जीवन

भाषा मनुष्य द्वारा अर्जित वस्तु है, इसलिए भाषा और मनुष्य में नैसर्गिक सम्बन्ध है। इसी कारण मनुष्य की प्रकृति के गुण भाषा में भी समाहित हो गये हैं। जिस प्रकार मनुष्य की प्रकृति में संजीवनी शक्ति, उसकी गत्यात्मकता, परिवर्तनशीलता, विकासशीलता, स्वच्छन्दता, प्रवहमानता, व्यापकता, पाचनशक्ति तथा समृद्ध परम्परा से आती है तद्वत् भाषा में भी जीवन-शक्ति उसके विभिन्न तत्त्वों—ध्वनि, शब्द, वाक्य तथा अर्थ-तत्त्व की गत्यात्मकता, परिवर्तनशीलता, स्वच्छन्दता धारण करने से अर्थात् उनके नये-नये रूपों को अपनाने से, अनावश्यक अव्यवहित रूपों को त्यागने से, विभिन्न भाषाओं की नई ध्वनियों, शक्तिशाली शब्दों, तथा उपयुक्त एवं नई कोटि की वाक्य-रचना के ढंग तथा नये अर्थ-तत्त्वों को ग्रहण कर विकासशीलता का परिचय देने से, सदैव प्रवहमानता की गति अपनाने से, अधिक से अधिक देशों में प्रयुक्त होने से तथा समृद्ध परम्परा से युक्त होने से आती है।

जनता की वाणी में भाषा का जीवन सबसे अधिक मात्रा में रहता है। क्योंकि उसमें गत्यात्मकता, परिवर्तनशीलता, विकासशीलता, स्वच्छन्दता, प्रवहमानता तथा व्यापकता के गुण व्याकरण-अनुशासित साहित्यिक भाषा की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में रहते हैं। हिन्दी के अन्य लेखकों की अपेक्षा कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, मीरा, प्रेमचन्द की भाषा में सबसे अधिक जीवन है। क्योंकि उन्होंने जनता की भाषा को अपनाया था।

सबसे अधिक जीवन उस भाषा में पाया जाता है जिसमें सबसे अधिक गत्यात्मकता वर्तमान रहती है। किसी भाषा की गत्यात्मकता उसकी निम्न विशेषताओं पर अवलम्बित रहती हैं। वही भाषा गत्यात्मक हो सकती है जिसमें विकासमूलक परिवर्तनशीलता का गुण हो। हमारे देश की प्राकृत भाषायें सदा गत्यात्मक रहीं; इसलिए वे सदा परिवर्तित होकर विकास की ओर अग्रसर होती गईं। उनकी ध्वनियों, शब्दों, वाक्य-तत्त्वों तथा अर्थ-तत्त्वों में परिवर्तन होता गया तथा विविधता आती गई। व्याकरण के फन्दे में बाँधकर, साहित्यिक एवं शिष्ट समाज की भाषा बनाकर जब कभी उन्हें गतिहीन तथा सीमित करने का प्रयत्न किया गया तब उनमें एकरूपता, स्थिरता तथा ससीमता आती गई, और तब वे जनता की बोली नहीं रहीं। भाषा की स्थिरता, एकरूपता एवं अपरिवर्तनशीलता उसके मृत होने का

लक्षण है। प्राकृत संस्कृत एक समय जनता की बोली थी; उस समय उसमें गत्यात्मकता, विकासशीलता, स्वच्छन्दता, प्रवहमानता एवं व्यापकता के गुण अगणित मात्रा में थे। किन्तु जब वह पाणिनि के व्याकरण से अनुशासित कर दी गई तब वह जनता से दूर हटकर शिष्ट एवं साहित्यिक समाज के संकुचित दायरे में स्थिर हो गई तथा स्थिरता, अपरिवर्तनशीलता एवं एकरूपता के आने से मृत हो गई। इसी प्रकार प्राकृत, पालि, अपभ्रंश तथा अवहट्ट भाषायें जब जनता की भाषा थीं तब उनमें अपार कोटि की गत्यात्मकता, विकासशीलता एवं परिवर्तनशीलता की शक्ति थी तब उनकी जीवनी-शक्ति भी अनन्त कोटि की थी। किन्तु ज्यों-ज्यों व्याकरण के नियमों द्वारा वे जकड़ दी गई त्यों-त्यों उनका रूप स्थिर या मृत होता गया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वही भाषा सबसे अधिक जीवन वाली मानी जायगी जिसमें सबसे अधिक गत्यात्मकता रहेगी। अब प्रश्न यह है कि गत्यात्मकता की विशेषता क्या है? भाषा की गत्यात्मकता की सबसे बड़ी विशेषता विशेषीकरण की है। जिस प्रकार प्राणियों की विभिन्न जातियों के विकास की गति में प्रमुख विशेषता प्रत्येक प्राणी की अपने वर्ग की सीमा के अन्तर्गत विशेषीकरण की ओर अग्रसर होना है। इस विशेषीकरण की प्रक्रिया में जितनी भी अव्यवहृत तथा अनावश्यक वस्तुयें हैं वे सब छूट कर नष्ट हो जाती हैं। जैसे, सरीसृप वर्ग के प्राणियों में पहले छोटे-छोटे पैर होते थे। धीरे-धीरे इनके पैर नष्ट हो गये। जैसे, साँप के पैर नहीं होते। इसी प्रकार भाषा में जैसे-जैसे विकास होता है वैसे-वैसे उसके अव्यवहृत तथा अनावश्यक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, और इस प्रकार यह सरलता की ओर बढ़ती है। जैसे, भारतवर्ष की भाषा-इतिहास के प्राकृत-काल में व्याकरणात्मक सारल्य बढ़ता गया, भाषा के अनावश्यक एवं अव्यवहृत तत्त्व नष्ट होते गये। जैसे, व्याकरण की दृष्टि से संस्कृत से शौरसेनी प्राकृत सरलतर है, शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश सरलतर है, अपभ्रंश से अवहट्ट सरलतर है। अवहट्ट से पुरानी हिन्दी तदनन्तर हिन्दी की प्रान्तीय उपभाषाओं एवं बोलियों में अधिक सरलता आ गई है। इस सरलता को लाने के लिये धीरे-धीरे व्याकरण की जटिलता कम की गई। उसके अनावश्यक एवं अव्यावहारिक तत्त्वों का लोप किया गया। जैसे, प्राकृत भाषाओं में संस्कृत के दस गणों में से केवल दो गण शेष रहे। आत्मने पद तथा परस्मैपद की जगह क्रियाओं के रूप केवल परस्मैपद की तरह चलने लगे। विभिन्न कालों के रूप कम हो कर एक या दो प्रकार के रह गये। कारकों के प्रयोग की संख्या घट गई। आठ के स्थान पर प्राकृत-

काल में चार या पाँच शेष रहे। संज्ञाओं के रूप केवल चार प्रकार के—अकारान्त, आकारान्त, उकारान्त, इकारान्त रह गये। इनमें भी अधिकांश मात्रा में अकारान्त की तरह चलने लगे। द्विवचन तथा नंपुसक लिङ्ग लुप्त हो गये। अपभ्रंश में क्रिया-पदों में तिनन्त की जगह कृदन्त का प्रयोग बढ़ गया। इस प्रकार प्राकृत भाषाओं ने संस्कृत व्याकरण के विस्तार को संक्षिप्त करके भाषा के साँचे को सरल बना दिया।

आधुनिक भाषा वैज्ञानिक, मानव-जीवन सतत विकासशील होने के कारण भाषा के जीवन को भी सतत विकासशील मानते हैं। भाषा की विकासकालीन प्रक्रिया में समीपवर्ती दूसरी भाषाओं से नयी-नयी ध्वनियाँ, नये नये शब्द, नये-नये रूप, नये-नये मुहावरे, शब्दों के नये-नये अर्थ प्रविष्ट होकर पचते रहते हैं। नये-नये शब्द निर्मित करने का क्रम उसके बोलने वालों द्वारा बराबर जारी रहता है। भाषा गढ़ने का कृत्रिम प्रयत्न बहुत कम होता है। उदाहरणार्थ, हिन्दी आज अपनी विकासकालीन प्रक्रिया की स्थिति में चल रही है। फलतः इसमें समीपवर्ती भाषाओं की ध्वनियाँ, शब्द, रूप, मुहावरे तथा अर्थ इसमें पचते जा रहे हैं। हिन्दी को प्रत्येक विषय की अभिव्यक्ति के योग्य बनाने के लिए हर विषय की परिभाषिक शब्दावली का निर्माण हो रहा है। फलतः हिन्दी में नये-नये शब्द प्रतिदिन बनते जा रहे हैं। आज हिन्दी-साहित्य की रचना केवल हिंदी-भाषा-भाषी लेखकों द्वारा ही नहीं हो रही है वरन् उसमें अहिंदी भाषा-भाषी लेखकों का भी पर्याप्त योग है। अहिंदी भाषा-भाषी लेखकों द्वारा हिंदी में साहित्य-रचना होने से अहिंदी प्रान्तों की भाषाओं की नई ध्वनियाँ, नये शब्द, नये मुहावरे, नये अर्थ हिन्दी में प्रविष्ट होते जा रहे हैं। हिन्दी की यह विकास-मूलक स्थिति स्वतन्त्रता के पूर्व से ही जारी है। फलतः इसने विदेशी भाषा के शब्दों को भी काफी मात्रा में पचाया है। अंग्रेजी भाषा की बहुत सी ध्वनियों, बहुत से शब्दों एवं अर्थों का ही नहीं वरन् वाक्य-रचना का भी काफी प्रभाव हिंदी पर पड़ा है।

भाषा के जीवन को गति देने में सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक, आर्थिक, भौगोलिक आदि कई परिस्थितियाँ हाथ बँटाती है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में संस्कृति का अर्थ है समाज के विभिन्न कार्यों तथा चिन्तन से सम्बन्ध रखने वाली धारणायें। प्रत्येक जाति की संस्कृति के विकास के साथ-साथ उसकी भाषा का विकास होता रहता है। जिस जाति के पास संस्कृति की कमी होती है उसकी भाषा का विकास भी कम होता है, फलतः उसकी जीवनी शक्ति भी कम होती है। जैसे, अफ्रीका के जंगलों में

तो पालि भाषा कभी धार्मिक भाषा न बन पाती। और यदि वह बौद्धध-द्वारा धार्मिक भाषा के रूप में अपनाई न जाती तो वह भारत के बाहर चीन, जापान, इण्डोनेशिया, लंका, जावा आदि देशों में धर्म की भाषा के रूप में गृहीत न होती। और तब उसमें इतना अधिक साहित्य न रचा जाता जितना आज मिलता है। फलतः उसमें उतनी जीवनी-शक्ति भी न आ पाती जितनी बौद्ध-काल में आई। रामोपासक हिन्दुओं का प्रधान तीर्थ अयोध्या है तथा कृष्णोपासक हिन्दुओं का मथुरा। इस धार्मिक महत्ता के कारण दोनों स्थानों की भाषाओं को अन्य भाषाओं की अपेक्षा मध्यकाल में अधिक महत्त्व मिला। और कई सदियों तक दोनों भाषायें साहित्य की भाषा बनी रहीं। फलतः दोनों भाषाओं में नई ध्वनियों, नये शब्दों, नये मुहावरों, नये भावों तथा नये विचारों का समावेश हुआ। इससे इन दोनों भाषाओं की जीवन-शक्ति खूब बढ़ी।

ऐतिहासिक कारण किसी भाषा को जीवन-शक्ति प्रदान करने में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यदि आभीरों का राज्य भारत के अधिकांश हिस्से में सात सौ ई० से बारह सौ ई० तक स्थापित न होता तो अपभ्रंश भाषा न तो उतने समय तक भारत में राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन होती और न उसमें इतना अधिक साहित्य रचा जाता और तब न उसमें इतनी अधिक जीवनी-शक्ति ही आती।

जिस भाषा में साहित्य तथा अन्य वाङ्मयों की जितनी अधिक रचना होती है उसकी जीवनी-शक्ति उतनी ही अधिक मात्रा में बढ़ जाती है। आज संसार में अंग्रेजी भाषा में सबसे अधिक धनी एवं विस्तृत कोटि का साहित्य तथा वाङ्मय वर्तमान हैं। इससे उसके ध्वनि-तत्त्व, रूप-तत्त्व, शब्द-भाण्डार, विचार-भाण्डार, वाक्य-रचना, मुहावरे आदि में भी व्यापकता तथा गत्यात्मकता आई। फलतः उसकी जीवनी-शक्ति इससे अधिक बढ़ी। इसी जीवनी-शक्ति के कारण आज वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के पद पर आसीन है। जिस भाषा में साहित्य एवं वाङ्मय की रचना नहीं होती वह भाषा बहुत ही दरिद्र कोटि की हो जाती है। उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलिया के आदिम जातियों की भाषा साहित्य एवं वाङ्यम की रचना से शून्य है। इसलिए वह धीरे-धीरे मरती जा रही है।

जिस देश का आर्थिक उत्पादन बढ़ता है उस देश का व्यापार भी बढ़ता है। व्यापार बढ़ने से उस देश के लोगों का सम्पर्क दूसरे देश के लोगों से स्थापित होता है। दूसरे देश के लोगों की साहित्य-रचना देख करके

उस देश के लोग साहित्य-रचना में भी उन्नति करते हैं। इन सब कारणों से उस देश की भाषा में व्यापकता, गत्यात्मकता, विकासशीलता का संचार होता है। इससे उस देश की भाषा प्रगतिशील होकर अपनी जीवनी-शक्ति बढ़ा लेती है। इस तथ्य की स्पष्टता के लिए भी अंग्रेजी भाषा का उदाहरण दिया जा सकता है। यदि अंग्रेज व्यवसाय की दृष्टि से विश्वभर में फैले न होते, उन्नीसवीं सदी में आर्थिक उत्पादन सम्बन्धी वस्तुओं में सबसे आगे बढ़े न होते तो उनकी भाषा विश्वभर की व्यापारिक भाषा न बन पाती।

किसी भी भाषा में दूसरी भाषा के शब्दों का मिश्रण अधिकांश मात्रा में संस्कृति-मिश्रण के कारण ही होता है। बहुत सी आदिम जंगली जातियाँ भौगोलिक परिस्थितियों की जटिलता के कारण दूसरी सभ्य जातियों से नहीं मिल पातीं। इसलिये उनकी संस्कृतियों से प्रभावित होने का अवसर वे नहीं प्राप्त करतीं। फलतः आज तक उनकी भाषा बहुत ही अविकसित कोटि की बनी हुई है। इसलिए उसमें जीवनी-शक्ति का अभाव है। जैसे, आस्ट्रेलिया परिवार की भाषा। जिस देश के लोगों को यातायात के साधनों की सुगमता से विविध भाषा-भाषियों से सम्पर्क प्राप्त करने की सुविधा मिलती है उनकी भाषा में दूसरी भाषाओं की नयी ध्वनियाँ, नये शब्द, नये मुहावरे, नये अर्थ-तत्व, नये प्रकार के वाक्य तत्व मिलकर उसमें विकासशीलता, गत्यात्मकता, परिवर्तनशीलता एवं व्यापकता का पुट भरकर उसमें अपेक्षाकृत अधिक जीवनी-शक्ति का संचार कर देते हैं।

जिस भाषा की आकर भाषा अतिशय समृद्धशालिनी होती है उसमें उतनी ही अधिक जीवनी-शक्ति के संचार की संभावना रहती है। जैसे, कोई जीवित साहित्य अपनी परम्परा से नाता नहीं तोड़ सकता तद्वत् जीवन-शक्ति वाली भाषा अपनी परम्परा से बिलकुल नाता नहीं तोड़ सकती। अतीत का प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता जिस व्यक्ति, समाज या साहित्य में जितनी अधिक रहेगी उसमें जीवन-शक्ति भी उतनी अधिक मात्रा में आयेगी तद्वत् जिस भाषा में आवश्यकतानुसार अपनी आकर भाषा से प्रभाव ग्रहण करने का जितना अधिक सामर्थ्य रहेगा वह उतनी ही अधिक जीवन्त भाषा होगी। जो भाषा अपनी आकर भाषा के उपयुक्त अर्थ देने वाले या अधिक अच्छे अर्थ देने वाले शब्दों को छोड़कर विदेशी भाषा के शब्दों को ग्रहण करेगी वह सुदीर्घ जीवन वाली नहीं हो सकती।

भाषा का मुख्य काम विचार-विनिमय करना है। यदि जीवन के नाम पर उसमें नित्यप्रति नवीनता बढ़ती जांय तो विचार-विनिमय में कठिनता

पड़ेगी। भाषा की प्रगति अथवा जीवन का अर्थ है, उसका स्वाभाविक विकास, भयंकर क्रान्ति नहीं। यदि उसमें विदेशी भाषाओं के शब्द जो स्वाभाविक विकास के साँचे में आकर उसमें पच गये हैं, प्रयुक्त होते हैं तब तो उसकी जीवनी-शक्ति इन शब्दों के प्रयोग से बढ़ेगी, क्योंकि इन शब्दों द्वारा उस जाति का जीवन तरलित होता है। निष्कर्ष यह कि जो विदेशी शब्द किसी दूसरी भाषा बोलने वाली जाति के जीवन के अंग बन जाने में समर्थ हों उसको उस भाषा में खपाने से उसकी जीवनी शक्ति बढ़ती है। जैसे—रेल, साइकिल, मोटर, टेलीफोन, स्कूल, कालेज, टाइम, कार्ड, लिफाफा आदि शब्द भारतीय जाति के जीवन के अंग बन गये हैं। इसलिए ऐसे शब्दों को ग्रहण करने से हिन्दी भाषा की जीवनी शक्ति बढ़ेगी। भाषा के गढ़ने का जब कृत्रिम प्रयत्न होता है तो उसकी जीवनी-शक्ति कम होती है। उदाहरणार्थ, कुर्सी, टेबिल, फाउन्टनपेन आदि शब्द हिन्दी भाषा में स्वाभाविक ढंग से पच गये हैं। यदि टेबिल की जगह संस्कृत भाषा से पटल शब्द, कुर्सी की जगह आसन्दी शब्द, फाउन्टेन की जगह निर्झरिणी शब्द प्रयुक्त होंगे तो हिन्दी की जीवनी-शक्ति घटने की ही संभावना रहेगी। किन्तु जब राजकुमार राम की जगह शाहजादा राम या महारानी सीता की जगह बेगम सीता, माता जी की जगह मम्मी, पिता जी की जगह पापा, श्वसुर की जगह फादर-इन ला, पत्नी या श्रीमती जी की जगह वाइफ आदि शब्दों का प्रयोग किया जायगा तो हमारी भाषा जीवन की ओर अग्रसर होने के बजाय मृत्यु के अधिक निकट पहुँचेगी। क्योंकि ये शब्द हमारे जातीय जीवन को प्रतिबिम्बित कराने में असमर्थ हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वही भाषा अधिक जानदार हो सकती है जो अपना विकास अपनी विशिष्ट परम्परा के अनुसार करती है। हिन्दी की तुलना में हिन्दुस्तानी में जान कम है, क्योंकि वह अपना विकास अपनी परम्परा के अनुसार नहीं करना चाहती।

मनुष्य की तरह भाषा की प्रवृत्ति भी अपूर्ण कोटि की होती है। जैसे मनुष्य के विषय में नहीं बताया जा सकता कि उसका अन्तिम स्वरूप किस कोटि का होगा उसी तरह भाषा के लिए भी नहीं बताया जा सकता कि उसका अन्तिम स्वरूप किस कोटि का होगा। क्योंकि भाषा सदैव परिवर्तन के पथ पर चलती रहती है। इसलिए उसमें प्रवहमानता का गुण सदैव वर्तमान रहता है। प्रवहमानता तथा परिवर्तन का अभाव भाषा के मृत होने का लक्षण है। मृत विशेषण से यह तात्पर्य कदापि नहीं कि ये साहित्यारूढ़ विगत भाषायें अब अध्ययन की वस्तु नहीं हैं। अपितु भाषा वैज्ञानिक के लिए उनके

अध्ययन का बहुत बड़ा महत्त्व है। ऐतिहासिक तुलनात्मक व्याकरण लिखने में, वर्तमान जीवित भाषाओं के विकासात्मक अध्ययन में तथा उनके शब्द-भाण्डार, पद-रचना तथा वाक्य रचना के विकास के अनुशीलन में उनके योग को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। उनको मृत कहने का तात्पर्य यही है कि कि जन-साधारण में उस भाषा का प्रयोग नहीं होता। उस भाषा की प्रवहमानता, स्वच्छन्दता, परिवर्तनशीलता समाप्त हो गई है। उसका रूप व्याकरण के नियमों द्वारा बंधकर स्थिर हो गया है। उसमें विविधता का समावेश बन्द हो गया है। भाषा की गत्यात्मकता अथवा जीवन, विविधता से ही परिचालित होता है। व्याकरण से परिमार्जित या परिष्कृत भाषा का रूप स्थिर हो जाता है। इसलिए वह मृत कही जाती है। किन्तु बोलचाल की भाषा की गत्यात्मकता सदा जारी रहती है। इसलिए उसमें विविधता का समावेश होता रहता है। उसमें आदान-प्रदान की परम्परा जारी रहती है। और निर्भर के समान वह निरन्तर प्रवहमान बनी रहती है। इसलिए उसमें जीवन का लक्षण अधिकाधिक मात्रा में वर्तमान रहता है।

प्रत्येक जीवित तथा गतिशील भाषा में नये-नये शब्द निर्मित करने का, दूसरी भाषाओं के अच्छे शब्दों को ग्रहण करने का क्रम उसके बोलने वालों द्वारा बराबर जारी रहता है। भाषा की यह स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति उसके व्याकरण में जकड़े जाने पर मरने लगती है। ज्यों-ज्यों वह व्याकरण के नियमों द्वारा जकड़ी जाती है त्यों-त्यों उसका रूप स्थिर या मृत होता जाता है। प्राकृत भाषाओं को जब-जब व्याकरण के फन्दे में बांधकर शिष्ट समाज के भीतर उन्हें केन्द्रित कर गतिहीन बनाने का प्रयत्न किया गया तब-तब वे स्वच्छन्दवादी प्रकृति से च्युत हो गईं और वे जनता की बोली नहीं रहीं। उदाहरणार्थ, प्राकृत, संस्कृत, पालि, अपभ्रंश, अवहट्ट, पुरानी हिन्दी ज्यों ही शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्र में पहुँचकर व्याकरण के फन्दे में कस दी गईं त्यों ही वे स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति से रहित हो गईं। फलतः उनकी जीवनी-शक्ति कम हो गयी। जो बोलियाँ व्याकरण के चंगुल में बहुत कसी नहीं जातीं, वे अपना साज-संवार बेरोक-टोक करती रहती हैं। उनकी स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति बढ़ती रहती है। इसलिये उनकी जीवनी-शक्ति भी प्रतिदिन संबर्द्धित होती रहती है। यदि हिन्दी भाषा की जीवनी-शक्ति को प्रतिदिन बढ़ाना अभीष्ट है तो व्याकरण के नियमों के विषय में हमें उदार होना पड़ेगा। भिन्न-भिन्न अहिन्दी प्रान्तों के लोग उच्चारण, लिंग-प्रयोग शब्द-प्रयोग, वाक्य-रचना

आदि की दृष्टि से इसे कुछ दूसरा साज-संवार भी दे सकते हैं जिससे हमें भयभीत या असहिष्णु होने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि इससे हिन्दी के रूप में विविधता का समावेश होगा और इससे उसकी जीवनी-शक्ति बढ़ेगी। हिन्दी भाषा के आधुनिक आंचलिक उपन्यासों में आंचलिक बोलियों के प्रयोग की मात्रा बढ़ रही है। इससे उपन्यासों में सजीवता की वृद्धि ही हुई है। इसी प्रकार यदि हिंदी भाषा में यत्र तत्र आंचलिक बोलियों या उप-भाषाओं का पुट आता है तो उसके पाचन की शक्ति हिन्दी के लिए अभीष्ट है। क्योंकि इससे उसकी जीवनी-शक्ति बढ़ेगी, घटेगी नहीं।

———

भाषा-शक्ति

भाषा, मानव-विचारों को व्यक्त करने तथा समझने की अपेक्षाकृत् सर्वाधिक समृद्ध, पूर्ण एवं प्रभविष्णु साधन है। भाषा सम्बन्धी इस धारणा के अनुसार वही भाषा शक्तिशाली मानी जायगी जो वक्ता अथवा लेखक की विचाराभिव्यक्ति सफलता से कराते हुए उसे तदेव अर्थ में श्रोता अथवा पाठक तक सम्प्रेषित करने में सर्वाधिक सफल हो*। उपर्युक्त विश्लेषण से पहला निष्कर्ष यह निकला कि जिस व्यक्ति के पास भाषा-शक्ति जितनी अधिक होती है वह अपने मन की बात औरों से उतने ही अधिक शुद्ध प्रभावशाली एवं पूर्ण रूप से व्यक्त करने में समर्थ होता है। इसके विपरीत जिसके पास भाषा की शक्ति जितनी कम या अविकसित कोटि की होती है वह अपने मन की बात प्रगट करने में उतनी ही कम सफलता प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, गाँव के किसी अनपढ़ या बहुत ही कम पढ़े लिखे आदमी को किसी सभा से भाषण देने को बाध्य कर दीजिए तो वह अपने मन की बात को ठीक-ठीक ढंग से एवं पूर्ण रूप में प्रगट करने में असमर्थ होगा। और जो कुछ वह कहेगा वह भाषा-शक्ति के अभाव में अपूर्ण, अशुद्ध एवं अरुचिकर कोटि का होगा। पतंजलि के अनुसार भाषा के समुचित प्रनोग तथा बोधन में भाषा की शक्ति निहित है।

भाषा-शक्ति को धीरे-धीरे विकसित एवं समृद्ध करने के उपरान्त ही मनुष्य अपने मन की बात औरों से कहने की कला में निपुण हुआ, और अपने मन की बात अन्यों से कहने की कला में धीरे-धीरे उन्नति कर उसके रमणीय तथा कलात्मक रूपों का धीरे-धीरे आविष्कार कर वह कहानी, कविता, नाटक, उपन्यास आदि विभिन्न साहित्य-रूपों की सृष्टि में तथा नाना प्रकार की ललित कलाओं के आविष्कार में समर्थ हुआ। बेचारे कीड़े-मकोड़े पशु-पक्षी, जानवरों आदि के भाग्य में वर्णात्मक भाषा की शक्ति नहीं बदी थी, फलतः वे किसी ललित कला, साहित्य आदि की सृष्टि नहीं कर सके। भाषा-शक्ति के अभाव में वे न तो ज्ञान-विकास कर सके और न संस्कृति का

---

* आचारे नियमः शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयः। पतंजलि

अर्जन। इसी कारण शताब्दियों के बाद भी वे आज प्रवृत्तिमूलक एवं अभ्यासमूलक जीवन तक ही सीमित हैं। जिन जंगली जातियों के पास अपने मन की बात अन्यों से कहने की भाषा-शक्ति समृद्ध कोटि की नहीं है, उनके पास लोक या विशुद्ध किसी प्रकार का साहित्य नहीं है। वे भाषा-शक्ति के अभाव में साहित्य, संगीत एवं कला से विहीन होकर आज भी जंगलों में पशुवत् जीवन व्यतीत कर रही हैं।

वर्णात्मक भाषा-शक्ति के अभाव में पशु, पक्षी, जानवर, कुत्ते, बिल्ली, मनुष्यकृत नाना प्रकार के अत्याचार सहते रहते हैं, पर उनके विरुद्ध सिर उठाने की भावना उनमें नहीं आती। गुलाम, भाषा शक्ति के अभाव में अपने मालिक के नाना प्रकार के अत्याचारों को सहता रहता है। पर उनके विरुद्ध आवाज छोड़ने की भाषा-शक्ति वह ज्योंही अर्जित कर लेता हैं त्योंही उसके विरुद्ध क्रान्ति का नारा बुलन्द कर देता है।

भाषा-शक्ति द्वारा एक मनुष्य अपने दूसरे साथी या पड़ोसी की बात समझने की क्षमता अर्जित करता है। इस प्रकार भाषा-शक्ति में बोधन शक्ति का भी समावेश हो जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिसके पास जितना अधिक शब्द-भाण्डार होगा उसकी समझ-शक्ति उतनी ही अधिक होगी। जंगलों में आदिवासियों के पास शब्द-भाण्डार कम है। अतः उसी के अनुपातानुसार उनकी बोधन शक्ति भी हीन कोटि की दिखाई पड़ती है। यदि मनुष्य को वर्णात्मक भाषा की शक्ति न मिली होती तो वह पारस्परिक आचार-व्यवहार की सृष्टि में समर्थ न हुआ होता, अपनी परिस्थिति पर विजय प्राप्त करने में सफल न हुआ होता। मनुष्य ने अपनी परिस्थिति पर विजय अकेले ही नहीं प्राप्त की। समाज की सहायता से इस महान विजय में वह सफल हुआ। समाज के लोगों का आह्वान उसने भाषा द्वारा ही तो किया। आज भी जिन लोगों के पास भाषा-शक्ति हीन कोटि की है वे अपनी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने में सफल नहीं होते। जैसे, गाँव के निरक्षर लोग सदा परिस्थितियों के दास बने हुए अपने भाग्य का दोष देते रहते हैं। मनुष्य अपनी परिस्थिति पर विजय उच्च कोटि के ज्ञान तथा आत्मविकास द्वारा प्राप्त करता है। ज्ञान तथा आत्मविकास में सफलता मनुष्य को भाषा-शक्ति द्वारा ही मिलती है। यदि मनुष्य भाषा के आविष्कार में असफल हुआ होता तो आज उसका भी जीवन पशु-पक्षियों के समान ही प्रवृत्तिमूलक तथा अभ्यासमूलक कोटि का होता। अर्थात् भाषा-शक्ति द्वारा ही मनुष्य अपने लिए शिक्षा की व्यवस्था करने में सफल हुआ। बदले

में शिक्षा ने मनुष्य की भाषा-शक्ति को बढ़ाया। जो व्यक्ति जितनी अधिक भाषा-शक्ति रखता है वह उतना ही अधिक दूसरों की बातों को समझ सकता है। जो दूसरों की बात को समझने की जितनी अधिक क्षमता रखेगा उसका व्यक्तित्व भी उतना ही अधिक विकसित एवं विस्तृत कोटि का हो सकता है। इसीलिए वाक्-शक्ति को वेदों ने सभी सिद्धियों का साधन, सभी अभ्युदयों का कारण, जीवन व्यापी सभी शक्तियों की जननी माना है। भाषा-शक्ति की महत्ता की स्पष्टता के लिए कुछ वाक् सूक्त नीचे उद्धृत किये जाते हैं :—

ऋग्वेद के वाक् सूक्त के मतानुसार भाषा-शक्ति सभी ऐश्वर्यों की जननी है :—

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं
त्वष्टारमुत पूषणं भगम्
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते
सुप्राव्यं यजमानाय सुन्वते।

१०—१२५—२

वाक् देवता का कथन है कि मैं सोमतत्व का पालन और रक्षण करता हूं। मैं त्वष्टा, विवेचक और विश्लेषक तत्व हूँ। मैं पूषन (पोषक) तत्त्व तथा भग तत्त्व (ऐश्वर्य तत्त्व) का पालक हूँ। मैं यज्ञिय पुरुषों (वाक् तत्त्वज्ञों तथा अर्थ तत्वज्ञों) को ऐश्वर्य से समृद्ध करता हूँ।

ऋग्वेद के मतानुसार जीवन के उपास्य तत्त्वों में भाषाशक्ति को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है क्योंकि वह समस्त ज्ञान-विज्ञानों की जन्मदात्री तथा राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति है। अर्थात् जीवन की सभी प्रकार की सर्जनाओं में वाणी का प्रथम स्थान है क्योंकि प्रत्येक प्रकार की सर्जना के पूर्व विचार आता है, और विचार भाषा की सहायता के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए ऋग्वेद के ऋषि ने बड़ी तात्विक बात कही है कि मनुष्य के उपास्य तत्वों में वाणी का प्रथम स्थान है[1]। इसी कारण परवर्ती आचार्यों ने शब्द को ब्रह्म[2], कामधुक्[3]

---

१. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः
पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।

२. वाग्वैब्रह्म च सुब्रह्म च। ऐतरेय ब्राह्मण—६।३

३. एको शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति। महा० ६-१-८४

आदि संज्ञाओं से अभिहित किया है। भाषा-शक्ति का माहात्म्य वर्णन करते समय वाक्सूक्त के रचनाकार ने यहाँ तक बता दिया है कि इस शक्ति की उपासना से उपासक आत्मतत्त्वज्ञ, वाक्तत्त्वज्ञ, ऋषि, मेधावी बन जाता है :—

अहमेव स्वमिदं वदामि जुष्टं,
देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं
कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।
१०-१२५-५

वाक्देवता का कथन है कि मेरी शक्ति का अनुभव कर मनुष्य, देवता, ऋषि-सभी मेरी उपासना करते हैं। मेरी जिस पर दया-दृष्टि होती है उसको तेजस्वी, ओजस्वी कर देता हूँ। मेरा ही आश्रय पाकर मनुष्य ब्रह्मवित्, आत्मतत्त्वज्ञ, वाक्तत्वज्ञ, ऋषि, आत्मसाक्षात्कारकर्ता, मेधावी तथा प्रतिभाशाली बनता है।

श्रुति का कथन है कि वाक्शक्ति ही संसार को उत्पन्न करती है। वाणी से ही विनाशशील तथा अविनाशशील समस्त संसार की सृष्टि होती है :—

वागेव विश्वा भुवनानि यज्ञे, वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।

महाकवि जायसी भी इस मत का समर्थन करते हुए दिखाई पड़ रहे हैं। वचनेहुँ तें उपजेउ संसारा। पदमावत्

भर्तृहरि के मतानुसार शब्दों की ही शक्ति संसार को एक सूत्र में बाँधे हुए हैं।

शब्देष्वेवाश्रिताशक्ति विश्वस्यास्य निबन्धिनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते॥
वाक्य १-११६

वाक्यपदीयकार का मत है कि संसार का सारा लौकिक व्यवहार वाक्शक्ति के द्वारा ही चल रहा है। वाक्शक्ति ही प्राणियों को कार्य में प्रेरित करती है। यदि वाक्शक्ति न होती तो समस्त संसार काष्ठ और भित्ति तुल्य रहता—

अर्थ क्रियासु वाक्सर्वान् समीहयति देहिनः।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत॥
वाक्यपदीय १-१२७

यजुर्वेद के मतानुसार मनुष्य में सदस्यता, सभ्यता, शिष्टता, संस्कृति आदि की स्थिति भाषा-शक्ति से ही आई।

समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि।
बुध्नो वागस्येन्द्रमसि सदोऽस्मृतस्य द्वारौ।

यजु—५—३३

ज्ञान की प्रकाशशीलता भाषा-शक्ति द्वारा ही उत्पन्न होती है[1]। आचार्य दण्डी ने ठीक ही कहा है कि यदि शब्द रूपी ज्योति इस संसार में उत्पन्न न होती तो तीनों लोकों में अन्धकार ही अन्धकार छाया रहता[2]। यदि भाषा-शक्ति मनुष्य में न हो तो उसमें किसी प्रकार की अनुभूति उत्पन्न ही नहीं हो सकती। भाषा-शक्ति द्वारा ही मनुष्य मूल्यवान अनुभूतियों की उपयोगिता समझने में समर्थ होता है। और मूल्यवान् अनुभूतियों की उपयोगिता समझने के कारण ही वह जगबीती तथा आपबीती की रक्षा का प्रयत्न करता हुआ प्राचीन वाङ्मयों, काव्यों, शास्त्रों आदि की बहुमूल्यवान् सम्पत्ति की रक्षा में सफल हुआ। मनुष्य अपने आस-पास की परिस्थिति से संघर्ष करते हुए मानसिक तीव्रता, उल्लास, मार्मिकता, आघात के क्षणों में ही भाषा के आविष्कार में समर्थ हुआ। भाषा द्वारा ही वह अपने चिन्तन, भावन एवं इच्छा-शक्ति को उत्पन्न कर सका। भाषा द्वारा दूसरों की बात ठीक-ठीक ढंग से समझने के कारण वह अपनी तथा दूसरों की आवश्यकता तथा परिस्थिति समझकर सामाजिक व्यवहार का आविष्कार कर सका। भाषा-शक्ति द्वारा दूसरों की बात समझने की शक्ति से वह साहाय्य भावना, अभिशंसन वृत्ति, करुणा, प्रेम, सहानुभूति, उत्साह, त्याग आदि प्रवृत्तियों को जगाने तया सम्बन्धित करने में समर्थ हुआ, भाषा द्वारा ही वह अपने तथा दूसरों के अच्छे तथा बुरे अनुभवों को स्मृतिगत कर सका। आरम्भ में मानव की प्रत्येक पीढ़ी उसको अपनी स्मृति-परम्परा से ही सदियों तक सुरक्षित करती रही। भाषा द्वारा प्राप्त एवं संचित पूर्व अनुभव तथा वर्तमान अनुभव के आधार पर ही उसे अपने आगामी सामाजिक व्यवहार को सुनिश्चित, परिष्कृत तथा सुनियोजित करने में सहायता मिली; उसे अपनी चिन्तन,

---

१. वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदव बोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत् सा हि प्रत्यवमर्शिनी

वाक्य पदीय १-१२४

२. इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनोत्रयम्
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीयते काव्यादर्श—१-४

अनुभावन एवं संकल्प-शक्ति को गतिशील करने में मदद मिली। इस प्रकार पूर्वानुभव के स्थिर तत्वों तथा नये अनुभवों के सतत संयोग एवं संश्लेषण से सामुदायिक आचार-विचार की एक अखण्ड परम्परा तैयार हुई; आगे चलकर जिसका नाम संस्कृति पड़ा। इस प्रकार मानव संस्कृति की प्रगति को तीव्र, मार्मिक एवं परिष्कृत करने में भाषा का सबसे अधिक योग रहा। आज बीसवीं शताब्दी में भी जिस जाति के पास भाषा-शक्ति सबसे अधिक है उसकी संस्कृति बहुत ही व्यापक एवं गतिशील कोटि की है। संस्कृत भाषा की शक्ति बहुत समृद्ध कोटि की है। इसलिए भारतीय संस्कृति में विश्व संस्कृतियों की तुलना में सर्वाधिक व्यापकता है। अंग्रेजी भाषा की शक्ति बहुत ही व्यापक एवं गतिशील कोटि की है। इसलिए अंग्रेजी संस्कृति संसार के सर्वाधिक भूभागों में छायी हुई है। गतिशील शब्द-शक्ति रखने के कारण अंग्रेजी संस्कृति संसार की संस्कृतियों में सर्वाधिक गतिशील मानी जाती है। उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि भाषा-शक्ति मानव प्रगति का सर्वाधिक प्रभावात्मक साधन है। भाषा द्वारा ही मनुष्य ने अपनी संस्कृति, सभ्यता तथा ज्ञान का विकास किया। भाषा द्वारा ही वह अपनी अनन्त शक्ति को पहचान सका। भाषा-शक्ति से ही वह प्रकृति के तत्वों, पदार्थों, शक्तियों की पहचान, विश्लेषण, उपयोगिता, महत्ता, आवश्यकता का ज्ञान कर विज्ञान के विभिन्न आविष्कारों द्वारा प्रकृति के ऊपर विजय प्राप्त करने में समर्थ हुआ। जिन आदिम जातियों के पास समृद्ध कोटि की भाषा नहीं है वे आज भी ज्ञान-विज्ञान से रहित हो प्रकृति की दास बनी हुई जंगली अवस्था में पड़ी है।

भाषा-शक्ति का अर्थ तथा महत्ता देखने के पश्चात् अब यह देखना चाहिए कि भाषा-शक्ति किन बातों पर अवलम्बित है। किसी भाषा की शक्ति उसकी आकर भाषा की समृद्धि, उसके शब्द-विस्तार, शब्दयोजना, कलात्मकता तथा व्यापकता पर अवलंबित है। क्रम के अनुसार सबसे पहले आकर भाषा की समृद्धि पर विचार करना चाहिए। जिस भाषा की आकर भाषा धनी होती है उसको कभी भावों, विचारों, शब्दों की कमी नहीं पड़ती। उदाहरणार्थ, हिन्दी की आकर भाषा संस्कृत, शब्द-भाण्डार की दृष्टि से बहुत ही समृद्धिशाली कोटि की है। अतः आज हिन्दी के शब्द-भाण्डार की समृद्धि संस्कृत भाषा के शब्दों-धातुओं, धातु से बने शब्दों, प्रत्ययों तथा उपसर्गों से निर्मित शब्दों द्वारा आये दिनों दिन दूनी रात चौगुनी होती जा रही है। किन्तु हिन्दी की तुलना में उर्दू की कोई आकर भाषा नहीं है, अतः उसकी शक्ति हिन्दी की तुलना में शब्द-भाण्डार की दृष्टि से नहीं बढ़ रही है।

शब्दविस्तारः—शब्दों की अधिकता से भाषा की पुष्टि होती है। जिस भाषा में शब्दों की कमी रहती है वह भाषा अशक्त रहती है। जैसे, उत्तरी अमेरिका खराड की ऐक्सिमो, अथावास्कन, अल्गोनिकन, मेक्सिकन, डकोटा, कोलोशे, पुब्लो आदि भाषाओं में शब्द-भाण्डार बहुत ही हीन कोटि का है। अतः इन भाषाओं के क्षेत्रों में इनके बोलनेवालों की संख्या दिन प्रतिदिन घटती जा रही है, और वहाँ अंग्रेजी का साम्राज्य बढ़ता जा रहा है; क्योंकि वह शक्तिशाली भाषा है। अंग्रेजी के शक्तिशाली होने का एक प्रमुख कारण यह है कि उसका शब्द-भाण्डार संसार की सभी भाषाओं में कदाचित् सबसे अधिक समृद्ध कोटि का है। भाषा के एक एक शब्द हमारे जीवन के एक एक अंश के समान हैं। अतः किसी भाषा में शब्दों की अधिकता उसके बोलनेवालों के जीवन की व्यापकता की सूचक होती है। टसमानिया में आस्ट्रेलिया परिवार की जो भाषा बोली जाती है उसका शब्द-भाण्डार बहुत ही दरिद्र कोटि का है। इसलिए उसके बोलनेवालों का जीवन भी बहुत ही संकुचित कोटि का है। अंग्रेजी भाषा का शब्द-भाण्डार बहुत समृद्ध कोटि का है। अतः उसके बोलनेवालों का जीवन भी बहुत ही व्यापक कोटि का है।

यह हम पहले विचार कर चुके हैं कि मनुष्य की समझ या बुद्धि किसी भाषा के शब्दों के अधिकाधिक जानने से बढ़ती है। इस प्रकार भाषा की शक्ति का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध उसकी बौद्धिक शक्ति से है। छः वर्ष के बालक का शब्द-भाण्डार बहुत सीमित कोटि का होता है। अतः उसकी भाषाशक्ति भी निर्बल कोटि की होती है। फलतः उसकी समझ या बोधन शक्ति भी सीमित कोटि की होती है। साहित्य-क्षेत्र में भी उन्हीं कवियों या लेखकों की भाषा शक्तिशाली सिद्ध हुई है जिनका शब्द-भाण्डार बहुत विस्तृत कोटि का है। अंग्रेजी कवियों में शेक्सपीयर, संस्कृत में कालिदास तथा हिन्दी में तुलसीदास का शब्द-भाण्डार बहुत विस्तृत कोटि का है। अतः उनकी भाषा बहुत शक्तिशाली मानी जाती है। जिस वक्ता के पास शब्द का खजाना बहुत धनी कोटि का होता है उसकी भाषा शक्तिशाली प्रतीत होती है और जो वक्ता भाषण देते समय शब्द-भाण्डार के अभाव में शब्दों की आवृत्ति करने लगता है अथवा शब्द खोजने के लिए बीच बीच में अटकने लगता है उसकी भाषा प्रभावहीन प्रतीत होती है, फलतः शक्ति-रहित सिद्ध होती है।

यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि किसी भाषा की शक्ति बढ़ाने के लिए उसमें शब्दों की संख्या किस प्रकार बढ़ाई जाय? किसी भाषा की शब्द-संख्या में विस्तार करने के लिए सर्वप्रथम आकर भाषा का सहारा लेना चाहिए।

मातृभाषा में जहाँ शब्दों की कमी पड़े वहाँ आकर भाषा के शब्दकोष से शब्दों को उधार लेना चाहिए। जीवन में नये विचार, नये मूल्य, नये भाव उपस्थित होने पर आकर भाषा की धातुओं से नये शब्द गढ़ना चाहिए।

शब्द-संख्या में विस्तार करने के लिए अन्य विदेशी शब्दों को लाना हानिकर नहीं है किन्तु उनकी संख्या इतनी अधिक न हो जाय कि वे स्थानीय भाषा के अधीन रहकर काम करने के स्थान पर उसी को अधिकार-च्युत करने का प्रयत्न करने लगें।

किसी भी स्वदेशी भाषा में विदेशी भाषा के वे ही शब्द लिये जायँ जिनको अनपढ़ लोग भी समझते या बोलते हैं। जैसे, मुकदमा, जरूर, मजदूर, टेम, टेशन, स्कूल, रेल, टिकट, टेबुल, पेन्सिल, कागज। जिन नये विचारों, नई धारणाओं, नये मूल्यों के लिए अपनी भाषा या उसकी आकर भाषा में शब्द न मिलें तो उनको प्रगट करने के लिए हम विदेशी अप्रचलित शब्दों को लेकर अपनी भाषा की शक्ति बढ़ायें तो कोई विशेष आपत्ति नहीं है किन्तु प्रयत्न यही होना चाहिए कि कालान्तर में भाषाशास्त्रियों तथा तद्विषयक पंडितों की सहायता से उक्त प्रकार के पारिभाषिक शब्द बना लिये जायँ। क्योंकि क्लिष्ट तथा अप्रचलित विदेशी शब्दों को किसी भाषा में व्यर्थ लादने से उसकी शक्ति नहीं बढ़ती वरन् उसका ऋण ही बढ़ता है। जिन शब्दों को लोग मौलवी साहब या अंग्रेजी मास्टर साहब से सीखकर बोलते हैं उनको हिन्दी में रखना ठीक नहीं।

शब्दयोजना:—जिस प्रकार किसी मनुष्य के पास अमित साधन हों किन्तु यदि वह उनकी व्यवस्था में असमर्थ हो तो उन साधनों से या तो शक्ति का उद्भव कम होगा अथवा व्यवस्था के अभाव में वे शक्तियाँ बिखर कर नष्ट हो जायँगी। ठीक इसी प्रकार केवल बहुत से शब्दों को जोड़ने मात्र से ही भाषा में शक्ति नहीं उत्पन्न होती वरन् उनमें एक विशिष्ट व्यवस्था रखनी पड़ती है। भाषा के शब्दों में व्यवस्था योग्यता, आकांक्षा, सन्निधि, समभिव्यवहार के लाने से आती है। उपयुक्त शब्दो के मेल से भाषा में योग्यता आती है, क्योंकि शब्दों के उपयुक्त प्रयोग से ही पदों के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है। जैसे, 'अग्नि से सींचो' वाक्य में सींचो शब्द उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अग्नि और सींचो के अर्थों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि योग्यता से विरहित शब्द भाषा में शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते। उपयुक्त शब्दों के मेल में बड़ी अपूर्व शक्ति होती है। एक भावुक कवि थोड़े

से उपयुक्त शब्दों को लेकर भाषा में असीम शक्ति भर देता है। राजकाज की सुधि विसार षोड़श वर्षीया रमणी के साथ अन्तःपुर में अहर्निशि रमण करनेवाले मिर्जाराजा जयसिंह पर विहारी के दोहे—

नहिं परागा नहिं मधुर मधु
नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यो
आगे कौन हवाल।

को सुनकर उपयुक्त शब्दों के मेल से ही तो ऐसा अद्भुत प्रभाव पड़ा कि वे तुरत अन्तःपुर के बाहर निकल आये जिनको वहाँ से निकालकर राजकाज की ओर लगाने के लिए उनके सभी मंत्री, गुरु, सम्बन्धी, अभिभावक तथा मित्र हार गये थे।

भाषा में शक्ति लाने के लिए योग्यता के पश्चात् दूसरा आवश्यक तत्त्व आकांक्षा है। जैसे, पुस्तक के पश्चात् लोटा, ढोल, कपित्थ, डित्थ आदि कहें तो किसी इष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। फलतः उन शब्दों से कोई शक्ति नहीं उत्पन्न होगी। प्रत्येक शब्द में एक जिज्ञासा का भाव निहित रहता है। अतः उसी जिज्ञासा तत्त्व को व्यक्त करनेवाले शब्द का प्रयोग उस शब्द के साथ उचित है। जैसे, पुस्तक शब्द की जिज्ञासा को व्यक्त करने वाले शब्द होंगे—लाओ, भीग रही है, गन्दी है, सुन्दर है, मोटी है, कठिन है, आदि।

भाषा में शक्ति उत्पन्न करने के लिए आकांक्षा के पश्चात् तीसरा तत्त्व है सन्निधि। पदों की सत्ता तथा अर्थों में अन्विति लाने के लिए बिना बिलम्ब पदों की उपस्थिति आवश्यक होती है। शब्द पृथक् पृथक् रूप में कुछ करने में असमर्थ हो जाते हैं। प्रत्येक शब्द इन्द्रिय-कम्प द्वारा कल्पना में एक एक स्वरूप खचित करने के लिए संकेत मात्र हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति पर प्रभाव डालने के लिए अथवा उसकी भौतिक स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए शब्दों को एक साथ संयोजित करना पड़ता है। जैसे, कोई मनुष्य सड़क पर चला जा रहा हो और हम पीछे से उसको सुना कर कहें 'मकान' फिर १० मिनट उपरान्त कहें 'गिरता', फिर १० मिनट के पश्चात् कहें 'है' तो वह मनुष्य कुछ भी ध्यान नहीं देगा; और चला जायगा, किन्तु उसको देखने के पश्चात् ही जोर से कहें कि '**मकान गिरता है**' तो वह अवश्य चौंक पड़ेगा और तुरत भागने का प्रयत्न करेगा।

अभीप्सित अर्थ की सिद्धि के लिए हिन्दी में पदों का क्रम ठीक रखना पड़ता है। इस प्रक्रिया को समभिव्यवहार कहते हैं। जैसे, 'साहु ने चोर को पकड़ा' की जगह यदि हम 'चोर ने साहु को पकड़ा' कहें तो अभीप्सित अर्थ की सिद्धि नहीं होगी। और जो भाषा अभीप्सित अर्थ की सिद्धि में समर्थ नहीं होती वह शक्तिशाली नहीं मानी जाती।

भाषा में कलात्मकता के समावेश से उसकी शक्ति बढ़ती है। उसमें कलात्मकता लाने के लिए वक्ता भाषा को शुद्ध, सस्वर, सुस्वर, सुन्दर, मधुर, रमणीय, चित्रात्मक, रसात्मक, आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक बनाता है; अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, शब्दशक्ति, गुण, वृत्ति—सभी से समलंकृत करता है; कभी अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारों से श्रवणेन्द्रियों की अनुकूलता सम्पादित कर भाषा की शक्ति बढ़ाता है; कभी उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकारों तथा शब्दशक्तियों के द्वारा मानसानुभूत अर्थ में सौन्दर्याधान करके भाषा में रमणीयता एवं प्रभावोत्पादकता का संचार कर उसकी शक्ति बढ़ा देता है।

भाषा में ध्वनि का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि उसी से भाषा का बाह्य रूप खड़ा होता है। भाषा में शक्ति लाने के लिए उसमें प्रयुक्त ध्वनियों का शुद्ध उच्चारण आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। जो वक्ता, महाशय को महासय, श्रीमान को स्रीमान तथा श्रोता को स्रोता उच्चारित करेगा उसकी बात सुनते ही श्रोतागण या तो हँसने लगेंगे या उसकी खिल्ली उड़ायेंगे। तात्पर्य यह कि ध्वनि के भ्रष्ट उच्चारण से भाषा की शक्ति क्षीण हो जाती है। इस कारण वक्ता का अभीप्सित प्रभाव नष्ट हो जाता है। कभी कभी तो शब्द में एक ध्वनि के गलत उच्चारण से अर्थ बिल्कुल उलटा हो जाता है। सकल का अर्थ है सब। किन्तु दन्त्य स की जगह तालव्य श का उच्चारण कर देने से उसका अर्थ टुकड़ा हो जाता है। सकलशास्त्र-विशारद किन्तु व्याकरण-विद्या से हीन भ्रष्ट उच्चारण करनेवाले पुत्र को उसके वैयाकरण पिता की दी हुई सीख भी शुद्ध उच्चारण की महत्ता स्पष्ट करती है—

यद्यपि बहुनाधीषे पठ पुत्र तथापि व्याकरणम्
स्वजनः श्वजनो माभूत सकलः शकलो सकृच्छकृतमपि।

पतंजलि की प्रसिद्ध उक्ति—

एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुष्ठुप्रयुक्तः
स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति' भी 'सुष्ठुप्रयुक्तः'

पदावली द्वारा शुद्ध उच्चारण के महत्व तथा शक्ति पर प्रकाश डालती है।

भाषा को शक्तिशाली बनाने में सस्वर उच्चारण का बहुत योग है। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमारे उपराष्ट्रपति सर राधाकृष्णन की अंग्रेजी है। उनके अंग्रेजी व्याख्यान को प्रभावशाली बनाने में उनके सस्वर उच्चारण का सर्वाधिक योग है। जिस वकील की वाणी में सहज ढंग से उचित स्थान पर बल का प्रयोग होता है उसका जिरह बलहीन वाणी वाले वकीलों की तुलना में अधिक प्रभावशाली होता है। सेनापति की वाणी में यदि बल नहीं है तो उसकी फौजी आज्ञा सैनिकों पर उचित प्रभाव डालने में असमर्थ हो जाती है। जिस अध्यापक की वाणी में बल नहीं होता उसका अध्यापन कभी प्रभावशाली एवं सफल नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस पालक की वाणी में बल नहीं होता उसकी संतान प्रायः आज्ञाकारी नहीं होती क्योंकि बल के अभाव में माता-पिता की भाषा, शक्ति-हीन हो जाती है। वृत्तासुर ने इन्द्रवध की कामना से यज्ञ कराया, किन्तु होताओं द्वारा स्वर के मिथ्या-प्रयोग से मंत्र का प्रभाव उलटा हो गया और वह स्वयं मारा गया।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।

महा० आ० १

उपयुक्त ध्वनि-विन्यास द्वारा भी भाषा में शक्ति का समावेश पर्याप्त मात्रा में होता है। अतः जिनको अपनी भाषा को शक्तिशाली बनाना अभीष्ट है उन्हें ध्वनियों की उपयुक्त सजावट पर ध्यान देना आवश्यक है। ध्वनियों की उपयुक्त सजावट के लिए दो बातें आवश्यक हैं :—

प्रथम ध्वनियों को श्रुतिकटु नहीं होना चाहिए। द्वितीय ध्वनियों की योजना प्रसंगानुकूल होनी चाहिए। जिस प्रकार शब्दों की श्रुति-कटुता से श्रोताओं को कष्ट होता है तद्वत् उच्चारणकर्ताओं को भी ऐसी कर्णकटु ध्वनियों के उच्चारण में कठिनता होती है। इसीलिए उच्चारण-सुविधा की दृष्टि से शब्दों की कर्णकटु या दुरुह ध्वनियों में ध्वनि सम्बन्धी नाना प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं जिनका विस्तृत विवेचन आगे ध्वनि-परिवर्तन नामक अध्याय में विस्तार से किया गया है। जब श्रोता किसी बात को सुनता है तब उसका मन अबाध गति से अर्थ की धारा में लीन होकर उसी के साथ बहता चलता है; किन्तु जब उसे कर्णकटु या दुरुच्चार्य्य

शब्दों को सुनना पड़ता है तब उसकी तल्लीनता में बाधा पड़ती है। इसीलिए कविता में दुरुच्चार्य्य शब्दों का प्रयोग वर्जित है। जिन भाषाओं में श्रुतिकटु ध्वनियाँ कम होती हैं वे प्रकृतितः बहुत मधुर होती हैं। व्रज भाषा एवं बंगला में श्रुतिकटु ध्वनियाँ कम हैं। इसीलिये वे भारत की मधुरतम भाषायें मानी गई हैं। इसी प्रकार फ्रान्सीसी भाषा में श्रुति मधुर ध्वनियों का बाहुल्य है; इसीलिए वह संसार की सुन्दरतम, मधुरतम एवं कलात्मक भाषा मानी जाती है। कादम्बरी को पूर्ण करने के उपयुक्त अधिकारी से सम्बन्धित कथा को कौन नहीं जानता कि सामने खड़े हुए शुष्क वृक्ष को देखकर उसके विषय में प्रश्न (किमिदं तिष्ठत्यग्रे) पूछे जाने पर बाणभट्ट के ज्येष्ठ पुत्र ने उत्तर दिया था—'शुष्कं वृक्षं तिष्ठत्यग्रे' किन्तु वही प्रश्न पूछे जाने पर उनका सरस काव्य-विलासी कनिष्ठ पुत्र बोल उठा 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः'' किम्वदन्ती यह है कि कनिष्ठ पुत्र की उस सरस वाणी की शक्ति से सूखा वृक्ष हरा हो उठा। इस किम्वदन्ती में और सत्य, चाहे न हो किन्तु यह तथ्य तो सर्व विदित है कि सरस पदावली के प्रयोग का इतना प्रभाव बाणभट्ट पर पड़ा कि अधूरी कादम्बरी को पूर्ण करने का अधिकार उन्होंने छोटे पुत्र को ही दिया। तात्पर्य यह कि श्रुति-मधुर-जनित नाद-सौन्दर्य से कविता की शक्ति बढ़ती है। नाद-सौन्दर्य से युक्त होने पर वह तालपत्र, भोज-पत्र, कागज आदि आश्रयों से च्युत होने पर भी बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत सी काव्यात्मक उक्तियों को लोग उनके अर्थ सम्बन्धी वैशिष्ट्य आदि की ओर ध्यान दिये बिना ही जो गुन-गुनाया करते हैं उसका कारण नाद-सौन्दर्य ही है। इसीलिए हमारे यहाँ काव्य में वर्ग के प्रथम वर्णों का द्वितीय के साथ एवं तृतीय का चतुर्थ के साथ संयोग, द्वित्व वर्ण, रेफ युक्त वर्णों का प्रयोग, टवर्गीय ध्वनियों का प्रयोग वर्जित माना गया है। जिन वाक्यों में श्रुति मधुर ध्वनियों का प्रयोग अधिक होता है उनको सुन कर हमारे हृदय में जो स्वर झंकृति उठती है वह हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करती हुई हमारे मन में एक स्वर-धारा प्रवाहित कर देती है जिसके कारण अभिव्यक्त अर्थ का प्रभाव बहुत शक्ति-शाली हो जाता है। जैसे, नीचे के वाक्य को देखिए—

प्रातःकाल का शीतल पवन ललित लताओं का आलिङ्गन करता हुआ बह रहा था। कानन-कुञ्ज में बैठकर कलित कंठ कोकिला कोमल कुसुम को जगाने के लिए प्रभाती गा रही थी, यामिनी ऊषा को अपना राज्य देकर सघन बन की अन्धकार छाया में तप करने के लिए जा रही थी। (शान्तिनिकेतन) चण्डी प्रसाद हृदयेश

कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त वाक्य में अभिलषित अर्थ श्रुति-मधुर-ध्वनियों के संसर्ग से और भी प्रभावशाली हो गया है। भाषा में शक्ति लाने के लिए सर्वत्र श्रुतिमधुर ध्वनि का प्रयोग ही वांछित नहीं है वरन् ध्वनियों की योजना भी वर्ण्यानुकूल होनी चाहिए। कोमल एवं मधुर भावों के प्रसंग में जहाँ कोमलकान्त श्रुतिमधुर पदावली अपेक्षित है वहाँ उग्र, कठोर एवं वीर रस सम्बन्धी भावों के प्रसंग में ओजपूर्ण ध्वनियों का प्रयोग उचित है। कोमल भावों के प्रसंग में श्रुति-मधुर ध्वनियों का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका हैं। अतः यहाँ उग्र एवं कठोर भाव के प्रसंग में ओजपूर्ण ध्वनियों के प्रयोग का उदाहरण दिया जाता है।

हिमाद्रि तुङ्ग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती।

अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पन्थ है, बढ़े चलो बढ़े चलो।

असंख्य कीर्ति रश्मियाँ,
विकीर्ण दिव्य दाह सी।
सपूत मातृभूमि के
रुको न शूर साहसी!

अराति सैन्य सिन्धु में, सुवाड़वाग्नि से जलो।
प्रवीर हो जयी बनो, बढ़े चलो बढ़े चलो।

उपर्युक्त उदाहरण में वीर भाव के उद्बोधन के प्रसंगानुकूल कठोर ध्वनियों का प्रयोग हुआ है। इससे उक्ति की दीप्ति बढ़ गयी है; अभिव्यंजना में प्रभविष्णुता की वृद्धि हो गई है। किन्तु यदि कठोर भावनाओं के प्रसंग में कोमलकान्त पदावली का प्रयोग किया जायगा तो भाषा की शक्ति विनष्ट हो जायगी। जिस समय कलाविदग्ध कवि श्रुत्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास, यमक आदि से युक्त काव्य का सरस गान करते हैं उस समय जो सुन्दर ध्वनि-लहरी का वातावरण उत्पन्न होता है वह श्रोताओं को कवि की भावना के साथ साथ इस प्रकार आगे बहा ले जाता है कि श्रोता गण प्रायः कवि के उच्चारण के पूर्व ही उसके अभिलषित अन्तिम तुक या पद का उच्चारण कर बैठते हैं; यह समुचित ध्वनि-योजना का ही प्रभाव है।

हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भाषा में शब्द द्वारा निर्मित शक्ति का इतना अद्भुत वर्णन किया गया है कि वैसा वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। शब्द, ऋग्वेद में सृष्टि के समस्त तत्वों के धारक, यजुर्वेद में चित् तत्त्व, मनस्तत्त्व, बुद्धितत्त्व; भागवत पुराण में जीव, उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्म, वाक्यपदीय में संसार के बीज-रूप में निरूपित किया गया है। किन्तु पतंजलि की प्रसिद्ध उक्ति 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुष्ठुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक भवति',—भाषा में शब्द द्वारा सर्जित शक्ति के प्रमाण के लिए यथेष्ट है। प्रश्न यह है कि कैसा शब्द भाषा-प्रयोग में यथाकामचारी सिद्ध होता है, सभी आकांक्षाओं को पूर्ण करने में समर्थ होता है। उत्तर पतंजलि की उक्ति में वर्तमान है—जिस शब्द का वक्ता को सम्यक् ज्ञान हो, अर्थात् वह उसकी व्युत्पत्ति, शास्त्रीय शक्ति एवं उसके विविध प्रयोगों द्वारा उत्पन्न होने वाले विविध चमत्कारों से परिचित हो, वाक्य में समुचित स्थल पर समुचित रीति से प्रयोग करने में समर्थ हो तो वह शब्दों के बल पर संसार में सभी कुछ कर सकता है। जिस वक्ता या लेखक के शब्दों में प्रेषणीयता की जितनी अधिक शक्ति होगी उसकी भाषा उतनी ही अधिक शक्तिशाली मानी जायगी। वक्ता या लेखक जो कुछ अनुभव करता है उसको यदि उसी या उससे अधिक रूप में अपने शब्दों द्वारा श्रोता या पाठक तक पहुँचाने में वह समर्थ है तो उसकी भाषा शक्तिशाली मानी जायगी, किन्तु यदि अपनी अनुभूतियों को श्रोता या पाठक में उसी रूप में जगाने में जितनी मात्रा में वह असमर्थ होगा उतनी ही मात्रा में उसकी भाषा-शक्ति न्यून मानी जायगी।

वक्ता या लेखक का सक्रिय शब्दकोश ही उसकी भाषा में शक्ति का संचार करता है। सक्रिय शब्द से तात्पर्य उन शब्दों से है जिनका वक्ता या लेखक उचित स्थल एवं उपयुक्त अवसर पर अभिप्रेत अर्थ में सुन्दर कलात्मक प्रयोग करता है। गद्यात्मक भाषा की शक्ति, भावों तथा विचारों की गुरुता, अभिव्यक्ति प्रणाली की स्पष्टता तथा स्वच्छता पर अवलंबित है; और भाषा की यह स्पष्टता तथा स्वच्छता शब्दों के सार्थक प्रयोग, व्याकरण के नियमों की पाबन्दी तथा तर्क की उपयुक्तता से सम्बन्ध रखती है। जैसे, जहाँ सूर्य की किरणों की कठोरता तथा उद्दण्डता दिखानी हो वहीं मार्तण्ड शब्द का प्रयोग करना चाहिए। जैसे, ग्रीष्म की दुपहरी में प्रचण्ड मार्तण्ड का प्रताप सबको व्याकुल कर रहा था। रवि उदय हुआ ठीक है, मार्तण्ड उदय हुआ—ठीक नहीं। संसार की किसी भी भाषा में पर्यायवाची सभी शब्द पूर्णतः समान अर्थ के नहीं होते।

एक ही वस्तु या भाव के लिए हम जिन अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं उन सबके प्रयोग में प्रत्येक का अभिप्राय भिन्न होता है। महादेव जी के लिए जिस समय हम महादेव शब्द का प्रयोग करते हैं उस समय देवों में उनके महत्त्व तथा बड़प्पन पर ध्यान रहता है; जिस समय हम रुद्र शब्द का प्रयोग करते हैं उस समय उनके प्रलयंकर संहारकारी रूप पर दृष्टि रहती है। जब हम शिव शब्द का प्रयोग करते हैं तब उनके मंगलकारी रूप पर ध्यान रहता है। प्रायः यह देखा जाता है कि शब्दों का प्रयोग करते समय वक्ता या लेखक इन बातों पर सूक्ष्म दृष्टि नहीं रखते। लेखक या वक्ता जब तक शब्द-सामर्थ्य का विवेकपूर्ण सूक्ष्म अध्ययन करके, शब्दशोधन की प्रक्रिया द्वारा शब्दों का उपयुक्त चयन करके उनका उपयुक्त सुन्दर प्रयोग नहीं करता तब तक उसकी भाषा में शक्ति नहीं आ सकती। सड़क की भीड़ में चलते हुए यदि आप किसी वृद्ध महिला से कहते हैं कि "माता जी कृपा करके तनिक बगल हट जायँ" तो बहुत संभव है कि वह महिला आप को रास्ता दे दे; किन्तु यदि आप उक्त वाक्य के स्थान पर उससे कहें कि 'ओ मेरे बाप की औरत बगल हट जा" तो केवल एक शब्द के गलत प्रयोग से आपको गालियों की बौछार सहनी पड़ेगी। एक शब्द के सुष्ठु प्रयोग में इतनी शक्ति रहती है कि वह श्रोताओं को मुग्धकर मित्र बना लेता है किन्तु उसी का गलत प्रयोग श्रोता को परम शत्रु बना देता है।

प्रत्येक शब्द, प्रयोग द्वारा समाज में रूढ़ होकर एक पृथक् कोटि का मानस-चित्र हमारे समक्ष खड़ा करता है। अतः श्रोताओं या पाठकों के हृदय में जिस मानस-चित्र की सृष्टि अभीष्ट हो उसी को समुपस्थित करनेवाला शब्द हमें प्रयोग करना चाहिए अन्यथा हमारी भाषा की शक्ति नष्ट हो जायगी।

शब्दों के उपयुक्त प्रयोग के लिए तीन प्रकार के शब्दों का शोधन आवश्यक है, वे हैं:—संज्ञा क्रिया तथा विशेषण। जो संज्ञा जिस प्रवृत्ति या अभिप्राय को लेकर प्रयुक्त होती है और जिस अर्थ-चित्र की मानस में सृष्टि करती है उसी को लेकर उन शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। वत्स के तद्भव शब्द-बच्चा, बचवा, बछड़ा, बछवा तथा बछेड़ा शब्द होते हैं। इन शब्दों के अर्थ अलग अलग हैं। बिल्ली या आदमी के बच्चे के लिए बच्चा शब्द प्रयुक्त होता है। भोजपुरी भाषा में पिता प्रेमातिरेक में अपने पुत्र को बचवा कहता है, गाय के छोटे पुल्लिङ्ग बच्चे को बछड़ा कहते हैं। गाय के पुल्लिङ्ग बच्चे को बड़े होने पर बछवा कहते हैं, घोड़े के बच्चे को 'बछेड़ा कहते हैं'। अतः उपर्युक्त

वस्तुओं में से जब जिसके अर्थबोधन की आवश्यकता हो तब उसके व्यंजक शब्द का प्रयोग करने से भाषा में उपयुक्त व्यंजक शक्ति आती है।

इस प्रसंग में विशेषण से तात्पर्य वैशिष्ट्य-सूचक शब्दों से है चाहे वे विशेषण हों या क्रिया-विशेषण अथवा उपमा, रूपक आदि अलंकार हों। यदि विशेषणों का समुचित उपयोग न हुआ तो वक्ता या लेखक की उक्ति अस्पष्ट, अव्यक्त, अस्फुट, धुँधली, भ्रामक, अनिश्चित, असुन्दर, अवास्तविक, तथा व्यभिचारी हो कर दुर्बल हो जाती है। विशेषणों का प्रयोग अवसर के अनुकूल न होने से भाषा-शक्ति दुर्बल हो जाती है। किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को मुरलीधर कहकर पुकारने की अपेक्षा गिरिधर कहने से भाषा अर्थ-संगति से पूर्ण होने के कारण अधिक शक्तिशाली हो जाती है। नाना विध पशुओं में से यदि हमें जान मारनेवाले पशुओं का निर्देश करना इष्ट हो तो पशु के साथ हिंसक विशेषण अर्थ में स्पष्टता ला देता है। विशेषणहीन पद से सामान्य तथा अनिश्चित अर्थ की प्रतीति होती है; किन्तु उपयुक्त विशेषणों के प्रयोग से अर्थ में विशिष्टता एवं निश्चयात्मकता आ जाती है। रात्रि शब्द कहने से रात्रि के अनेक रूप सम्मुख आते हैं किन्तु अंधेरी रात कहने से रात्रि का विशिष्ट एवं निश्चित चित्र सामने आ जाता है।

जिस प्रकार पर्यायवाची संज्ञापद समानार्थक नहीं होता तद्वत् पर्यायवाची क्रियापद भी समानार्थक नहीं होता जैसे, चलना और जाना क्रिया-पदों में अन्तर है। चलना से जिस गति का बोध होता है वह सप्रयोजन होता है, किन्तु जाना का उद्दिष्ट एक निश्चित स्थान होता है। इसी प्रकार क्रियापदों में उपसर्गों का प्रयोग करते समय उनकी सार्थकता पर सूक्ष्म ध्यान देना आवश्यक है। हृ धातु में प्र, आ, सम्, वि, परि, अप, अनु आदि उपसर्गों के लगाने से प्रहार, आहार, संहार, विहार, परिहार, अपहरण, अनुहरण आदि अनेक रूप बन जाते हैं जिनके अर्थों में पर्याप्त अन्तर है। अतः वक्ता या लेखक को ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जिनके द्वारा श्रोता या पाठक भ्रम में न पड़ें अपितु शीघ्र से शीघ्र अभिप्रेत निश्चित अर्थ को निश्चयपूर्वक समझ लें तभी उसकी भाषा शक्तिशाली मानी जायगी। भाषा-शक्ति को दुर्बल करनेवाले शब्द-प्रयोग-सम्बन्धी दोषों पर भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने काफी विचार किया है। अयुक्तत्व असमर्थत्व, अवाचकत्व, अप्रतीतत्व आदि काव्यरचना सम्बन्धी दोष काव्य में शब्दों के सार्थक प्रयोग में अनौचित्य आने से ही उत्पन्न होते हैं।

भाषा का चरम अवयव वाक्य है, इसलिए भाषा-शक्ति का वास्तविक रहस्य समर्थ वाक्य में निहित है। समर्थ वाक्य की रचना के लिए वाक्य के अवयवभूत शब्दों, मुहावरों, वाक्यांशों को इस रूप में सजाना चाहिए कि वाक्य अधिक से अधिक प्रभावशाली हो सके। वाक्य को प्रभावशाली बनाने के लिए उसमें शुद्धता, स्पष्टता, समर्थता एवं श्रुतिमधुरता का गुण होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। वाक्य में पद यदि परस्पर आंकाक्षा, योग्यता, सन्निधि तथा समभिव्यवहार से युक्त हैं तो उसमें शुद्धता का गुण स्वाभाविक रूप में आ जायगा। आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि तथा समभिव्यवहार का विवेचन पहले हो चुका है, इसलिए उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं। जिस वाक्य को सुनते या पढ़ते ही श्रोता या पाठक वक्ता या लेखक के अर्थ को समझ लें उसमें स्पष्टता का गुण रहता है। अर्थात् प्रसाद गुण के समावेश से वाक्य में स्पष्टता सहज रूप में विद्यमान रहती है। वाक्य में महत्वपूर्ण तथ्य पर बल देने से तथा उसे यथोचित स्थान पर रखने से समर्थता का गुण समाविष्ट होता है। श्रुतिमधुरता से यहाँ माधुर्य गुण का अर्थ नहीं है वरन् वाक्य की ऐसी संघटना से है जिससे उसमें स्वर-धारा का प्रवाह बहने लगे तथा वह सुनने में उद्वेजक न हो। किसी भी वाक्य में उपर्युक्त गुण तभी आयेंगे जब वाक्य की संघटना उपयुक्त तथा समर्थ कोटि की होगी। और जब वाक्य की संघटना उपयुक्त तथा समर्थ कोटि की होगी तब भाषा की अभीप्सित शक्ति अपने आप आ जायगी।

भाषा-शैली में सुन्दरता लाने से उसकी प्रभावोत्पादक शक्ति बढ़ जाती है। भाषा-शैली में सुन्दरता लाने के अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, वृत्ति आदि कई प्रकार हैं। क्रम के अनुसार सर्व प्रथम अलंकार पर विचार करना चाहिए कि वह किस प्रकार भाषा में शक्ति भरने में समर्थ होता है। अलंकार के २ भेद हैं—शब्दालंकार तथा अर्थालंकार। अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारों द्वारा भाषा में ध्वनि की अनुकूल तथा उपयुक्त योजना से चमत्कार एवं सौन्दर्य की वृद्धि होती है तथा बोध्यार्थ के अनुकूल वातावरण की सृष्टि होती है। इन दोनों कार्यों से भाषा की शक्ति बढ़ जाती है। एक हिन्दी का उदाहरण लीजिए—

कंकण किंकिणि नुपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहुं मदन दुन्दुभी दीन्हा।
मनसा विश्व विजय कर लीन्हा।

गोस्वामी तुलसीदास की उक्त चौपाई के श्रवण मात्र से श्रोताओं का हृदय आकृष्ट होकर उस चित्र तथा भाव की ओर अग्रसर होने लगता है जिसका वर्णन कवि ने उस चौपाई में किया है। जो व्यक्ति चौपाई का भाव नहीं समझता उसका हृदय भी अनुकूल ध्वनि-लहरी के आनन्द से द्रवित हो जाता है। गद्य का एक दूसरा उदाहरण लीजिए :—

"कालिन्दी के कूल पर मुकुलित कदम्ब के तले मन्द मलयानिल से आनन्दित मुकुन्द अपनी मुरली की मधुर तान से गोपबालाओं के अन्तस्तल में सुधा-संचार कर रहे थे।"

उपर्युक्त उक्ति में शब्दालंकारों के प्रयोग से ऐसी अद्भुत शक्ति आ गई है कि उसे सुनते ही श्रोताओं का हृदय उसकी ओर आकर्षित हो जाता है तथा वाक्य समाप्त होते ही मधुर भाव में मग्न हो जाता है। यदि यही बात शब्दालंकारों के प्रयोग के बिना कही जाय तो उसकी ओर श्रोताओं का ध्यान कठिनाई से जायगा। भाषा की शक्ति बढ़ाने में शब्दालंकारों का स्थान तो गौण कोटि का है; मुख्य स्थान तो अर्थालंकारों का ही है। क्योंकि वक्ता या लेखक की उक्ति उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों के प्रयोग से कभी गोचर रूप धारण कर लेती है, तो कभी उत्प्रेक्षा, अपन्हुति आदि अलंकारों से भावों का उत्कर्ष बढ़ा देती है, तो कभी समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों के आश्रय से अनुभूति को प्रभावोत्पादक बना देती है, कभी परिकर, परिकरांकुर आदि अलंकारों का प्रयोग कर भाव को तीव्र कर देती है एवं कभी काव्यार्थापत्ति, परिसख्या, विरोधाभास, असङ्गति आदि को अपना कर वाणी में विदग्धता ला देती है। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि उक्ति में अलंकार चाहे किसी रूप में प्रयुक्त हों पर उनका उद्देश्य उक्ति वर्णित भाव, विचार या अनुभूति का उत्कर्ष-साधन ही होना चाहिए। यदि अलंकार द्वारा वर्ण्य में रोचकता, सुन्दरता, मार्मिकता, तीव्रता, उत्कर्ष आदि का समावेश नहीं हुआ तो अलंकार के प्रयोग से भाषा की शक्ति घटेगी, बढ़ेगी नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि भाषा की प्रभविष्णु शक्ति बढ़ाने के लिए अलंकार में रमणीयता अपेक्षित है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अलंकारों में रमणीयता का उद्भावन कैसे हो? उत्तर है जब अलंकार वर्ण्य की शोभा या प्रभाव बढ़ाने में सहायक होगा, भाव, रूप, गुण या क्रिया के उत्कर्ष-साधन में समर्थ होगा तथा जब अनुभूति या भावना की उत्कटता के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होगा तब उसमें रमणीयता का समावेश अपने आप

हो जायगा। किसी सुन्दरी के सुन्दर मुख को देखकर किसी भावुक व्यक्ति का हृदय आनन्द से भर जाता है और वह अलंकार की सहायता लिये बिना बस इतना ही कहता है कि उस रमणी का मुख अति सुन्दर है। तो उसकी भाषा इतनी शक्तिशाली नहीं होती कि वह श्रोता या पाठक के हृदय में उस सहृदय द्वारा अनुभूत सौन्दर्य की भावना जगा सके। किन्तु जब वह उपमालंकार की सहायता लेकर यह कहता है कि उस रमणी का मुख कलाधर के समान कमनीय है। तब श्रोता या पाठक के हृदय-पटल पर एक मूर्त भावना का चित्र खड़ा हो जाता है। और वह उस चित्र के सौन्दर्य में मग्न हो जाता है। इस प्रकार वक्ता अलंकार द्वारा मूर्त प्रत्यक्षीकरण कराते हुए श्रोता का हृदय अधिक प्रभावित कर देता है। किन्तु मार्मिक भावना तथा अनुभूति से असंपृक्त अलङ्कार अथवा अतिरंजित तथा अस्वाभाविक अलङ्कार-प्रयोग कुछ क्षणों के लिए चमत्कार की सृष्टि करने में भले ही समर्थ हो जाय किन्तु उससे मानव हृदय के भावों को जगाने वाली रमणीयता का संचार नहीं हो सकता। जैसे, किसी नायिका की पतली कमर की उपमा सिंह की कमर से देने पर सुकुमारता तथा कोमलता के स्थान पर भय की अनुभूति हृदय में उत्पन्न होगी। इस प्रकार के अलङ्कारों के प्रयोग से भाषा की अभीप्सित शक्ति नष्ट हो जायगी। अलंकृत शैली के कुछ ऐसे उदाहरण नीचे दिये जाते हैं जिनमें भाषा की शक्ति अपूर्व कोटि की बढ़ गई है। जैसे, एक गद्य का उदाहरण प्रसाद के नाटक से लीजिए :—

"अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था। सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सबेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने के लिए लोटती थीं, संध्या में शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढक लेती थी। उस मधुर स्वप्न, उस अतीन्द्रिय जगत की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया। वहीं वहीं स्वप्न टूट गया।"

स्कन्दगुप्त—पृ० १६

उपर्युक्त उद्धरण में अलंकार-योजना में अप्रस्तुत की सहायता से जो मूर्त चित्र खड़ा किया गया है वह भाषा को अधिक सजीव, गतिशील, स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक बना देता है। भाषा में वर्णित तथ्यों, भावों, विचारों तथा अनुभूतियों का जब गोचर रूप सामने आता है, जब चित्र खड़ा हो जाता है तब भाषा में शक्तिमत्ता का अपेक्षाकृत अधिक संचार हो जाता है। इस

प्रकार के मूर्त-विधान के लिए वक्ता कभी अलंकारों का, कभी लक्षणा का, कभी मुहावरों का आश्रय लेता है। अलंकारों का विवेचन इसके पहले हो चुका है। अतः गोचर रूप-विधान करने में अब लक्षणा के योग पर विचार करना चाहिए। साधारण बातचीत में जब हम किसी को मूर्ख न कह कर लक्षणा का आश्रय लेकर बैल कह देते हैं तो हमारी उक्ति बहुत प्रभावशाली हो जाती है। 'समय बीत जाता है' कहने की अपेक्षा 'समय भाग जाता है' कहना अधिक प्रभावशाली है।

भाषा को चित्रात्मक बनाने के लिए कभी कभी विशेष रूपव्यापार-सूचक शब्द अधिक उपयोगी होते हैं। बहुत से ऐसे शब्द होते हैं जिनसे किसी एक का नहीं बल्कि बहुत से रूपों या व्यापारों का एक साथ चलता सा अर्थ ग्रहण होता है। ऐसे शब्दों को जाति संकेत कह सकते हैं। इनके प्रयोग से भाषा में मूर्त विधान नहीं हो पाता। अतः भाषा को शक्तिशाली बनाते समय ऐसे शब्दों के प्रयोग से बचना चाहिए। जैसे, किसी ने कहा कि वहाँ घोर अत्याचार हो रहा है, तो इस वाक्य द्वारा कोई विशेष प्रभाव नहीं उत्पन्न होता। क्योंकि अत्याचार शब्द के अन्तर्गत मारना-पीटना डाँटना-डपटना, लूटना-पाटना इत्यादि बहुत से व्यापार हो सकते हैं। इसलिए ऐसे शब्द शक्तिशाली भाषा की प्रयोजन-सिद्धि में बाधक होते है। बातचीत में जब किसी को अपने कथन द्वारा किसी के ऊपर मार्मिक प्रभाव डालना हो तो उसे ऐसे जाति-संकेत वाची शब्दों से बचना चाहिए। जैसे, यदि अपनी पत्नी पर अत्याचार करनेवाले किसी व्यक्ति को समझाना है तो यह कहना चाहिए कि "तुमने इसका हाथ पकड़ा है" यह नहीं कि "तुमने इसके साथ विवाह किया है। विवाह शब्द के अन्तर्गत न जाने कितने विधि-विधान हैं जो सबके सब एकबारगी मन में नहीं आ सकते और उतने प्रभावशाली भी नहीं हो सकते। विवाह में स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी व्यापार 'हाथ पकड़ना है' जिससे सहारा देने का चित्र सामने आता* है' इसलिए इस विशेष व्यापार सूचक शब्द के प्रयोग से भाषा शक्तिशाली हो जाती है।

लोकोक्तियाँ या मुहावरे वस्तुतः लाक्षणिक प्रयोग हैं। लोकोक्तियों तथा मुहावरों के प्रयोग से वक्ता की भाषा में सजीवता, गोचरता, भावोत्तेजकता तथा प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती है। जैसे—

---

* चिन्तामणी-प्रथम भाग-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल— पृ० १६६–१७६

'मित्रों को ऋण देना झगड़ा मोल लेना है, धन और मित्र दोनों से हाथ धोना है'। यदि इसी को साधारण भाषा में कहें कि—"मित्रों को ऋण देने पर झगड़ा होने लगता है। धन का वापस होना तो कठिन ही रहता है। मित्रता में भी बाधा पड़ने लगती है।" दोनों उक्तियों की तुलना से स्पष्ट है कि मुहावरेदार उक्ति में बल, सजीवता, शक्ति, गोचरता एवं प्रभावोत्पादकता है किन्तु मुहावरे-रहित उक्ति में बल, सजीवता, गोचरता का अभाव है। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द की भाषा में मुहावरों का जैसा सुन्दर प्रयोग मिलता है वैसा अन्य लेखकों की भाषा में नहीं दिखलाई पड़ता। इसीलिए उनकी भाषा अन्य लेखकों की भाषा की तुलना में बहुत अधिक शक्तिशाली तथा सजीव है। जिन वक्ताओं तथा लेखकों को अपनी भाषा को शक्तिशाली बनाना अभीष्ट है उन्हें मुहावरों का प्रयोग करते समय निम्नाङ्कित बातें स्मरण रखनी चाहिए :—

भाषा में मुहावरों का प्रयोग मुहावरों की प्रदर्शिनी दिखाने के लिए न हो। भाषा को मुहावरेदार बनाने के प्रयत्न में भावों का सौन्दर्य विनष्ट न किया जाय। मुहावरों के प्रयोग से भाषा की गति में थिरकन आनी चाहिए। भाषा को शक्तिशाली बनाने के लिए मजे हुए प्रचलित मुहावरों का ही प्रयोग अभीष्ट है। मुहावरों को तोड़ मरोड़ कर विकृत करके भाषा में प्रयोग करने से उसकी शक्ति तथा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। 'नाक रगड़ना' के स्थान पर 'नासिका घर्षण करना' का प्रयोग भाषा को विद्रूप कर देता है। इसी प्रकार विदेशी भाषा की लोकोक्तियों तथा मुहावरों के अनूदित रूप के प्रयोग से भाषा की स्वाभाविक शक्ति नष्ट हो जाती है। इनोसेन्ट सज्जेशन के अनूदित रूप 'भोला संकेत' पौइन्ट ऑफ ऑर्डर के अनूदित रूप 'आज्ञा की नोक' का प्रयोग हिन्दी में अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

किसी भी प्रकार की उक्ति को शक्तिशाली बनाने में सबसे मुख्य तथ्य वक्ता या लेखक का प्रेरक भाव या अनुभूति तत्त्व है। किसी उक्ति में यदि अलंकारों, वृत्तियों, मुहावरों, शब्दशक्तियों आदि के प्रयोग से कोरा वैचित्र्य या चमत्कार वर्तमान है, उसके भीतर किसी अनुभूति या मार्मिक भावना का आधार नहीं है तो उससे किसी का मनोरंजन भले ही हो जाय पर उसमें सहृदय के मन को तल्लीन करने वाली सरसता नहीं आ सकती। केशव की रामचन्द्रिका में बहुत से ऐसे पद्य हैं जिनमें अलंकारों की भद्दी भरमार है किन्तु उनमें मार्मिक अनुभूति का अभाव है। परिणाम यह हुआ कि ऐसे

स्थलों पर केशव की भाषा में शक्ति का अभाव पाया जाता है, वह हृदय पर प्रभाव डालने में असमर्थ हो जाती है। उदाहरणार्थ केशव का पंचवटी का वर्णन लीजिए :—

> बेर-भयानक सी अति लगे।
> अर्क समूह जहाँ जहाँ जगमगै।
> पाण्डव की प्रतिमा सम लेखौ।
> अर्जुन भीम महापति देखौ।
> है सुभगा सम दीपति पूरी।
> सिंदुर और तिलकावलि रूरी।
> राजति है यह ज्यों कुल कन्या।
> धाय विराजति है संग धन्या।

केशव की उक्त पंक्तियों में अलंकारों के प्रयोग के बावजूद भी कवि की मार्मिक अनुभूति के अभाव में हृदय को स्पर्श करने वाली भाषा शक्ति नहीं है। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि भाषा को शक्तिशाली बनाने के लिए उसमें भावुकता जन्य-अनुभूति अथवा किसी मार्मिक विचार या भाव का आधार आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

वक्ता या लेखक के हृदय में यही इच्छा रहती है कि वह जो कुछ कहता या लिखता है उससे श्रोता या पाठक का हृदय प्रभावित होता रहे। उसकी उक्ति जब प्रभावोत्पादक होती है तभी उसकी भाषा शक्तिशाली मानी जाती है। यदि भाषा की प्रभविष्णुता के कारणों पर विचार करें तो यह विदित होगा कि अनुभूति की तीव्रता तथा मार्मिकता भाषा में शक्ति लाने का प्रथम गुण है। दूसरा गुण अनुभूति का लोक सामान्य-स्वरूप है। जब तक वक्ता या लेखक के भाव, विचार या वर्ण्य श्रोता या पाठक के हृदय के अनुकूल नहीं होंगे, लोक-हृदय से सम्बन्ध रखने वाले नहीं होंगे तब तक उनको प्रगट करने वाली भाषा का प्रभाव श्रोता या पाठक के हृदय पर नहीं पड़ सकता। लोक सामान्य अनुभूति के पश्चात् भाषा में शक्ति लाने के लिए अभिव्यंजन-चातुरी की आवश्यकता है, क्योंकि कोरे इतिवृत्तात्मक कथन से भाषा आकर्षक नहीं हो सकती और भाषा में आकर्षण का गुण आये बिना उसमें प्रभावोत्पादकता नहीं आ सकती। भाषा में आकर्षण लाने के लिए अलंकार, रीति, गुण, वृत्ति, शब्द-शक्ति आदि के प्रयोग की आवश्यकता है। भाषा में शक्ति-संचार करने की कितनी क्षमता अलंकार में है—इसका

विवेचन पहले हो चुका है। अतः रीति पर भी इस दृष्टि से कुछ विचार करना चाहिए। रीति वस्तुतः ऐसे विशिष्ट पदों की संघटना का नाम है जो भाषा को रमणीय, आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक बना कर वाक् शक्ति के तत्वों की कलात्मक अभिव्यक्ति में समर्थ होती है। वस्तुतः रीति-तत्त्व के समावेश के कारण ही कविता की भाषा में इतनी शक्ति आ जाती है कि वह सहृदय पाठकों तथा श्रोताओं को बेसुध कर देती है, उनके भाव-जगत को बदल देती है, चेतना के आवरण को भग्न कर देती है, उन्हें स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मराडल से ऊपर उठा देती है। जैसे, प्रसाद की कामायनी से लिये गये नीचे के उदाहरण को देखिए :—

मधुमय बसन्त जीवन के,
वह अन्तरिक्ष की लहरों में।
कब आये थे तुम चुपके से,
रजनी के पिछले पहरों में।

उपर्युक्त उक्ति में प्रतीकात्मक अभिव्यंजन प्रणाली का अनुसरण करते हुए कवि ने अन्धकार स्वरूप दुःख के अन्त में आनन्द स्वरूप बसन्त के आगमन का वर्णन किया है। यदि उपर्युक्त रचना में मधुमय, बसन्त, अन्तरिक्ष, तथा रजनी के स्थान पर उसका कोई अन्य पर्यायवाची शब्द हम रखें तो कवि की रीति नष्ट हो जायगी और उसके नष्ट होते ही भाषा की शक्ति भी विनष्ट हो जायगी।

रीतियों की आत्मा का निर्माण गुणों के द्वारा होता है। इसीलिए रीतियों का तारतम्य गुणों की न्यूनाधिकता के आधार पर निर्मित किया गया है। काव्य के गुण एक ओर रीति के आत्म पद पर आसीन हैं तो दूसरी ओर रस के धर्म माने जाते हैं। रस या भाव-रूप में ही भाषा का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार गुण भाषा-प्रभाव तथा शक्ति के उपकारक हैं। माधुर्य गुण के समावेश से चित्त आल्हादित होता है, ओज गुण की अनुभूति से चित्त दीप्तिमय होकर तेजस्विता का अनुभव करता है, प्रसाद गुण से हृदय विमल होकर विस्तार का अनुभव करता है। निष्कर्ष यह कि भाषा-शक्ति के वास्तविक गुण—माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण हैं। मधुर भावों की अभिव्यक्ति के लिए स्निग्ध तथा कोमल ध्वनि वाली पदावली; उग्र, कठोर एवं परुष भावों की अभिव्यक्ति के लिए रचना में प्रौढ़ता, उग्रता तथा ध्वनियों में परुषता एवं ओजस्विता समीचीन है एवं प्रसाद गुण के लिए सरल

एवं सुगम पदों का प्रयोग आवश्यक है। प्रसंगानुकूल इन गुणों के समावेश से भाषा की शक्ति बढ़ जाती है।

वृत्तियाँ भी इसी प्रकार भाषा की प्रभविष्णु शक्ति की अभिवृद्धि में सहायक होती हैं। जिस प्रकार की भावना का सर्जन हम करना चाहते हैं, जिस रस की निष्पत्ति हम श्रोता या पाठक में करना चाहते हैं, उसके अनुकूल ध्वनियों के प्रयोग से भाव में तीव्रता तथा भाषा में उन भावों को जगाने की अद्‌भुत शक्ति आ जाती है। मधुरा, प्रौढ़ा तथा परुषा वृत्तियाँ अनुकूल ध्वनि-लहरी का सर्जन करते हुए भाषा की शक्ति को बढ़ा देती हैं।

शब्द-शक्तियों की सहायता से उक्ति की प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती है, भाषा अधिक सशक्त तथा मर्मस्पर्शी हो उठती है, शैली मूर्त तथा सजीव हो जाती है। अतः भाषा-शक्ति के साधनों तथा तत्त्वों पर विचार करते समय शब्द-शक्तियों को अवहेलना नहीं की जा सकती। भारतीय आचार्यों ने शब्द की तीन शक्तियाँ मानी हैं अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना। अभिधा में भाषा वाच्यार्थ का सहारा लेकर यमक अनुप्रास आदि शब्दालंकारों द्वारा, प्रसाद गुण के आश्रय से वर्ण्य को अगूढ़ रूप में श्रोता या पाठकों के समक्ष उपस्थित करती है। जैसे, मंडन कवि का सवैया उदाहरण रूप में लीजिए :—

अलि हौं तो गई जमुना-जल को,
सो कहा कहौ, वीर ! विपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई,
इतनेई में गागर सीस धरी।
रपट्यो पग घाट चढ्यो न गयो,
कवि मंडन ह्वै के बिहाल गिरी।
चीर जीवहु नन्द को बारो अरी,
गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी।

उपर्युक्त पंक्तियों में व्यंजना में स्वाभाविकता अधिक है। गोपी ने अपनी बात सीधे सादे शब्दों में बिना किसी वैचित्र्य या लोकोत्तर चमत्कार का सहारा लिए व्यंजित की है। पर कौन कह सकता है कि अभिधा शक्ति का आश्रय लेने के कारण भाषा में शक्ति नहीं है।

आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल तो काव्य की सारी रमणीयता अभिधा शक्ति में ही मानते हैं। उनके मत से लक्षणा और व्यंजना शक्तियों द्वारा

लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्राप्ति अभिधा के ही पथ पर चल कर होती है। साकेत के नवम सर्ग में—

'जीकर हाय पतंग मरे क्या' पंक्ति में जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार हैं वह उसके वाच्यार्थ में है। अर्थात् भाषा की काव्यात्मकता या शक्ति का कारण वाच्यार्थ है। इसके स्थान पर यदि लक्ष्यार्थ रूप में इसे परिणत करके यों कहा जाय कि "जी कर पतंग क्यों कष्ट भोगे" तो इसमें कोई चमत्कार या वैचित्र्य नहीं रहेगा। तात्पर्य यह कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि में काव्य-सौन्दर्य की सत्ता वाच्यार्थ में ही निहित है। भाषा-शक्ति के प्रसंग में इससे निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि भाषा-शक्ति के निर्माण में अभिधा शक्ति का पर्याप्त योग है।

अभिधा के अनन्तर दूसरी शब्द-शक्ति लक्षणा मानी जाती है। जब अभिधा शक्ति द्वारा उपस्थापित अभिधेयार्थ की संगति प्रसंग में नहीं बैठती तब वाच्यार्थ बाधित हो जाता है और तब उक्ति के द्वारा शक्यार्थ से सम्बद्ध अन्य सङ्गत अर्थ का बोध होता है। इसी शक्यार्थ संगत बोध को लक्ष्यार्थ कहते हैं जो लक्षणा वृत्ति के आधार पर प्रतिष्ठित रहता है। इस लक्ष्यार्थ बोध का कारण कभी तो रूढ़ि या परम्परा रहती है और कभी प्रयोजन विशेष रहता है। भाषा की अर्थवृद्धि लक्षणा से ही अधिक होती है। इसलिए भाषा-शक्ति के निर्माण तथा अभिवृद्धि में उसका स्तुत्य योग माना जाता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र में लक्षणा के अनेक भेद निरूपित किये गये हैं, उन सबका यहाँ निर्देश करना अनावश्यक एवं अप्रासंगिक होगा। भाषा-शक्ति के निर्माण तथा अभिवृद्धि में लक्षणा का क्या योग है—इसकी स्पष्टता के लिए इस अवसर पर लक्षणा के एक दो उदाहरण पर्याप्त हैं। घृत आयु है। इसमें शुद्धा सारोपा लक्षणा है। इस उदाहरण में आरोप प्रत्यक्ष कोटि का है, पर आरोप का निमित्त सम्बन्ध सादृश्य नहीं है। घृत पर आयु का आरोप जन्य-जनक सम्बन्ध से है। इस लक्षणा के प्रयोग से भाषा की शक्ति बहुत बढ़ गई है। यदि इसको इस प्रकार से कहा जाता कि घी खाने से आयु तथा बल बढ़ता है तो इस उक्ति में प्रथम उक्ति के समान शक्ति न आती। राधा का सौन्दर्य निरूपित करनेवाले सूरदास के निम्नलिखित प्रसिद्ध पद में साध्यवसाना के अनेक उदाहरण मिलते हैं—

अद्भुत-एक अनूपम बाग,
जुगल कमल पर गज क्रीड़त हैं तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर तापर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर ता ऊपर अमृत फल लाग।
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव, तापर सुक पिक मृग मद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ताऊपर एक मनिधर नाग।

राधा के अंग अंग का सौन्दर्य-वर्णन कवि ने उपमानों द्वारा ही कर दिया है। उपमानों में उपमेयों का साध्यवसान हो गया है। यह साध्यवसाना लक्षणा रूपकातिशयोक्ति अलंकार के मूल में रहती है। यदि राधा-सौन्दर्य के उपर्युक्त वर्णन को साध्यवसाना लक्षणा से विरहित करके इतिवृत्तात्मक रूप में कहा जाय तो भाषा की सम्पूर्ण शक्ति विनष्ट हो जायगी। गौणी सारोपा लक्षणा का एक उदाहरण लीजिए—वह स्त्री काली नागिन है। वक्ता के इस लाक्षणिक प्रयोग से भाषा बहुत ही शक्तिशाली हो गई है; उसमें नाना अर्थों का समावेश हो गया है। स्त्री को काली नागिन कहने से एक साथ ही उस स्त्री की क्रूरता, दुष्टता, निर्ममता, कुटिलता, प्राणापहारकता का आभास मिल जाता है। उपर्युक्त वाक्य में एक शब्द से इतने अधिक अर्थों की प्राप्ति लक्षणा शक्ति द्वारा ही संभव हुई है, किसी दूसरी शब्द-शक्ति द्वारा नहीं।

शब्द की तीसरी शक्ति का नाम व्यंजना है। इस शक्ति के प्रयोग से शब्द का सामर्थ्य, उसकी शक्ति, और प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती है। अभिधेयार्थ का बोध कराकर अभिधा के मौन हो जाने पर एवं लक्ष्यार्थ को लक्षित कर लक्षणा के विरत हो जाने पर वक्ता के शब्द, वाक्य, शब्दार्थ अथवा वाक्यार्थ के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। व्यंग्यार्थ के बोधकों को व्यंजक; एवं व्यंजन-व्यापार को व्यंजना कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्द की अभिधा तथा लक्षणा शक्तियाँ केवल शब्दों के द्वारा अपना कार्य करती हैं किन्तु व्यंजना शक्ति कभी कभी अर्थ के द्वारा भी अपना कार्य करती है। इसी कारण व्यंजना के दो मुख्य भेद, शाब्दी व्यंजना तथा आर्थी व्यंजना हैं। यहाँ शाब्दी व्यंजना का उदाहरण सर्व प्रथम नीचे दिया जाता है। जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि शाब्दी व्यंजना भाषा की शक्ति बढ़ाने में कितना योग देती है—

निरखत अंक स्याम सुन्दर को बार बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै है गई स्याम स्याम की पाती।

उक्त उद्धरण में अंक और स्याम इन दो शब्दों के प्रयोग द्वारा शाब्दी व्यंजना की सहायता से बड़ी ही मार्मिक विरह-व्यंजना हुई है जो किसी अन्य शब्द-शक्ति द्वारा संभव नहीं थी। विरहिणी राधा अपने प्रियतम स्याम की पाती (पत्र) पाते ही प्रबल प्रेम के प्रवाह के कारण अपनी आँखों से आँसुओं की धारा बहाने लगती है। आँसुओं का जल पत्र पर पड़ते ही स्याही फैल जाती है और सारी पाती (चिट्ठी) श्याम (काली) हो जाती है। वह प्रेमातिशय के तीव्र वेग के कारण कृष्ण के अङ्क (अक्षर) और गोद का अन्तर भूल कर बार बार पत्र को हृदय से लगाती है। यहाँ भाषा की उत्कृष्ट अभिव्यंजना शक्ति के आधार श्याम और अंक शब्द हैं जिनके सामान्य अर्थ (काला और अक्षर) से जिस प्रेम भाव को व्यंजना होती है, श्लिष्ट अर्थ (कृष्ण और गोद) की अभिव्यंजना के द्वारा उस अर्थ की भावरम्यता अर्थ व्यंजकता, सूचकता अत्यन्त उत्कृष्ट हो जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा में शाब्दी व्यंजना के सुप्रयोग से ही वर्णन की यह संश्लिष्टता, उक्ति की वक्रता, भाव की रम्यता, अनुभूति की मर्मस्पर्शिता संभव हुई है जो किसी दूसरी शब्द-शक्ति के प्रयोग द्वारा संभव न होती।

आर्थी व्यंजना अर्थ के उस व्यापार को कहते हैं जो वक्ता, श्रोता, काकु, वाक्य, वाच्य, अर्थ, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल आदि के वैशिष्ट्य (अर्थात् विशेषता) के कारण मर्मज्ञ सहृदय को व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराता है। आर्थी व्यंजना के सम्बन्ध में यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि इसका व्यापार यद्यपि अर्थनिष्ठ होता है पर शब्द सदा सहकारी कारण होता है। आर्थी व्यंजना को प्रतीत कराने वाला अर्थ स्वयं शब्द के द्वारा व्यंजित होता है; अतः शब्द का सहकारी कारण होना स्पष्ट है। यह भ्रम कभी नहीं होना चाहिए कि आर्थी व्यंजना शब्द की शक्ति नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो शब्द से बोधित होकर अर्थ, व्यापार करता है और शब्द भी अर्थ का सहारा लेकर ही व्यंजना, व्यापार करता है। दोनों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रय कोटि का है। तात्पर्य यह कि शाब्दी व्यंजना में पहले शब्द में व्यंजन व्यापार होता है फिर उसके अर्थ में भी वही क्रिया घटित होती है। इस प्रकार दोनों मिल कर काम करते हैं। पर शब्द की मुख्यता होने के कारण व्यंजना शाब्दी कहलाती है। इसी प्रकार जब व्यंजना की क्रिया पहले अर्थ में होती है, और पीछे से शब्द में—तब आर्थी व्यंजना घटित होती है।

भाषा-शक्ति में आर्थी व्यंजना के योग को स्पष्ट करने के लिए नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

श्रोता के वैशिष्ट्य से एक वाक्य में किस प्रकार अनेक अर्थ समाहित हो जाते हैं—इसका उदाहरण देखिए:—सायंकाल में एक स्थान पर अनेक प्रकार के श्रोता गण बैठे हुए अपना काम कर रहे हैं। वहाँ आकर एक व्यक्ति कह देता है कि "सन्ध्या हो गई" तो वहाँ पर बैठे श्रोता अपनी-अपनी विभिन्न विशिष्टताओं के कारण भिन्न भिन्न प्रकार का व्यंग्यार्थ अपने मन में ग्रहण करते हैं। राजगीर समझता है कि अब कार्य समाप्त कर अपने घर चलना चाहिए। मन्दिर का पुजारी मन्दिर में आरती उतारने का अर्थ ग्रहण करता है, सिनेमा-प्रेमी सिनेमा-गृह में जाने की शीघ्रता का अर्थ-बोध करता है, विद्यार्थी सन्ध्या-वन्दन की तैयारी का अर्थ लेता है, एक प्रेमी अपनी प्रेयसी से मिलने की उत्सुकता का बोध करता है, शाम की गाड़ी से बाहर जाने वाला व्यक्ति स्टेशन जाने की तैयारी का अर्थ ग्रहण करता। इस प्रकार हमने देखा कि उक्त एक छोटे से वाक्य में श्रोता-वैशिष्ट्य के आधार पर आर्थी व्यंजना नाना अर्थों को समाहित कर भाषा की शक्ति के अभिवर्द्धन में कितना योग देती है। व्यंजना-शक्ति की सहायता से भाषा में इतने अधिक अर्थ समाहित हो जाते हैं कि वह प्रतिक्षण वक्ता, श्रोता, प्रकरण, काकु आदि के वैशिष्ट्य से नये नये अर्थों की सृष्टि करने लगती है। हिन्दी के कवियों में तुलसीदास की भाषा में सबसे अधिक शक्ति है, परिणाम यह हुआ है कि—

तात अकथ यह कथा कहानी
समुझत बनत न जात बखानी।

जैसी चौपाइयों के कई सहस्र अर्थ लगाये जाते हैं। तुलसीकृत रामचरित मानस अपनी भाषा-शक्ति की अद्भुत महिमा के कारण ही सब प्रकार के पाठकों तथा श्रोताओं—आस्तिक-नास्तिक, साधु-गृहस्थ, बालक-वृद्ध, नर-नारी, दार्शनिक,-मनोवैज्ञानिक, हिन्दू—क्रिश्चियन, पारसी-मुस्लिम आदि को आनन्द देने में समर्थ होता है। व्यंजना शक्ति कविता में प्रभविष्णुता की ही नहीं वरन् रमणीयता, रागात्मकता का भी सन्निवेश करती है। वह हमारी भावनाओं एवं प्रवृत्तियों को ही उद्बुद्ध नहीं करती वरन् उन्हें तीव्रतर रूप में सक्रिय एवं सचेष्ट करने में समर्थ होती है तथा शब्दों में "क्षणे क्षणे नवतामुपैति" वाली तरल कान्ति भर देती है जिससे वह कला-कृति सदा के लिए एक

आनन्ददायी वस्तु बन जाती है एवं भूत काल की कृति होने पर भी वर्तमान तथा भविष्य के लिए प्रकाश विकीर्ण करने की क्षमता से युक्त हो जाती है।

अब भाषा की शक्ति के विषय में एक बात और कह कर इस प्रसंग को समाप्त करना है—वह है भाषा की व्यापकता। जो भाषा जितने अधिक व्यापक क्षेत्रों—देशों, महाद्वीपों में बोली जाती है वह उतनी ही अधिक शक्तिशाली होती है। इसके विरुद्ध जो भाषा जितने अधिक सीमित क्षेत्र में बोली जाती है उसकी शक्ति उतनी ही कम होती है। खड़ी बोली यदि देश भर में न फैलती तो इसमें उतनी शक्ति न आती जितनी आज है। पालि भाषा यदि बौद्ध धर्म के प्रसार से देश-देशान्तर में न फैलती तो उसकी शक्ति एक बोली के समान होती। अंग्रेजी यदि भिन्न भिन्न महाद्वीपों में न फैलती तो वह संसार की सर्वाधिक शक्तिशाली भाषा न बन पाती।

भाषा-विकास

भाषा एक सामाजिक वस्तु है :—जिस प्रकार सृष्टि के प्रत्येक तत्त्व का क्रमशः विकास हुआ है उसी प्रकार भाषा का भी। जैसे, मनुष्य की आकृति क्रमशः विकसित होकर आधुनिक प्रकार की बनी है उसी प्रकार उसकी भाषा-प्रवृत्ति तथा शक्ति भी विकसित होकर इस कोटि की बनी कि वह आज सैकड़ों क्या हजारों ध्वनियों को निकालने में समर्थ हो रही है। जिस प्रकार मनुष्य ने अपनी वैयक्तिक तथा सामाजिक आवश्यकता के अनुसार गृह-निर्माण, भोजन, वस्त्र, व्यवसाय, धर्म-भावना में उन्नति की तद्वत् भाषा में भी। भाषा-उत्पत्ति वाले अध्याय में विकासवादी सिद्धान्त के विवेचन[1] के अवसर पर हम यह बता चुके हैं कि मनुष्य बनमानुस से मानव योनि में पदार्पण करने के उपरान्त भाषा-प्रवृत्ति तथा शक्ति रखने के कारण तरह तरह की बोली अपने आप बोल लेता रहा। मनुष्य-योनि में आकर बोली की डिबिया उसके गले में स्थित होने के कारण भाषा की शक्ति एवं प्रवृत्ति का और अधिक विकास हुआ, जिससे वह सैकड़ों प्रकार की ध्वनियों के निकालने में समर्थ हुआ तथा सजीव एवं निर्जीव पदार्थों से निःसृत ध्वनियों के अनुकरण में सफल। किन्तु उसकी ध्वनियों को सार्थक बनाने का श्रेय उसके प्रथम निर्मित समाज को है। अर्थात् भाषा, मनुष्य का यदि एक वैयक्तिक गुण है तो वह केवल भाषा की प्रवृत्ति के रूप में, उसके गले की विशिष्ट लोच तथा बनावट के रूप में। किन्तु भाषा सबसे अधिक मात्रा में मनुष्य का सामाजिक गुण है, क्योंकि भाषा का विकास व्यक्ति की मनःकल्पना का फल नहीं वरन् समाज के अनुमोदन तथा व्यवहार का फल है। यदि मनुष्य अपने आधुनिक समाज के निर्माण में समर्थ न हुआ होता तो वह अपनी भाषा के विकास में सफल न हुआ होता। जैसे, अफ्रीका के घने जंगलों में रहनेवाले बुशमैन जो आधुनिक प्रकार के समाज की रचना में समर्थ नहीं हुए हैं वे वनमानुस जैसी कुछ ध्वनियों तथा कतिपय क्लिक ध्वनियों के ही उच्चारण में समर्थ होते हैं। इस प्रकार भाषा-विकास का प्रश्न समाज के विकास के साथ उलझा हुआ है। भाषा की सब प्रकार की उन्नति व्यक्तियों के द्वारा समाज की इकाई बनने पर ही सम्भव हुई है।

---

1 इसी पुस्तक का भाषा की उत्पत्ति वाला अध्याय—पृ० २५ से ३१।

किसी वर्णात्मक शब्द का शब्दत्व इसी में है कि वह किसी न किसी समाज में किसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। उस शब्द के उस अर्थ के सम्बन्ध का हेतु वह समाज ही होता है। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि भाषा आद्यन्त एक समाजिक वस्तु है। उसका अर्जन समाज से होता है, उसका प्रयोग समाज में होता है, तथा विकास भी समाज में होता है। समाज जब शब्द की ध्वनियां तथा अर्थों के परिवर्तन को स्वीकृति देता है तब वे समाज में प्रचलित होते हैं। निष्कर्ष यह कि भाषा मानवीय विचारों के आदान-प्रदान का एक सामाजिक माध्यम है।

भाषा-विकास का अर्थ :—यद्यपि भाषा-विकास तथा परिवर्तन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु दोनों एक दूसर के पर्याय नहीं हैं। यदि भाषा सम्बन्धी परिवर्तनों से उसकी सामाजिक माध्यम की क्षमता बढ़ती है, उसके सामाजिक माध्यम में सुविधा, सरलता, प्रौढ़ता तथा विशदता आती है तो यह निश्चित है कि भाषा का विकास हो रहा है किन्तु यदि भाषा सम्बन्धी परिवर्तन से उसकी सामाजिक माध्यमवाली क्षमता घटती है, उसके सामाजिक माध्यम बनने में कठिनता, दुरूहता, दुर्बलता तथा संकीर्णता आ रही है तो यह ध्रुव सत्य है कि उसका विकास अवरुद्ध हो रहा है। तात्पर्य यह कि भाषा के विकास में परिवर्तन अवश्यम्भावी है किन्तु भाषा के सभी प्रकार के परिवर्तनों में उसका विकास अनिवार्य नहीं है। भाषा का विकास सर्वाङ्गीण (organic growth) कोटि का होता है; भाषा की ध्वनि, शब्द, रूप-तत्त्व, वाक्य-तत्त्व, अर्थ-तत्व—सभी पर उसका प्रभाव पड़ता है। किन्तु भाषा-परिवर्तन एकाङ्गी कोटि का भी होता है। कभी कभी इसका प्रभाव भाषा के किसी एक तत्व तक ही केन्द्रित रह जाता है।

भाषा-विकास की दिशायें :—भाषायें खुलने से विकसित होती हैं। भाषा की प्रकृति स्वच्छन्दवादी कोटि की होती है। यह प्रकृति व्याकरण में बँध जाने पर मरने लगती है। क्योंकि कोई भी भाषा व्याकरण के नियमों द्वारा जकड़े जाने पर गतिहीन होने लगती है। और जो बोलियाँ या भाषायें व्याकरण के चंगुल में बहुत कसी नहीं जातीं वे अपना साज-संवार तथा विकास बेरोक टोक करती रहती हैं। जैसे, भारत की प्राकृत भाषायें जब तक व्याकरण के नियमों से कसी नहीं गई तब तक वे अपना विकास बेरोक टोक करती रहीं।

(२) कुछ भाषायें फैलकर बढ़ने से सर्वाधिक मात्रा में विकसित होती हैं। धार्मिक अथवा राजनीतिक कारणों से कोई बोली जब अपने संकीर्ण स्थान

से सुदूर देशों में फैलती है तो उसका विकास नई ध्वनियों तथा नूतन शब्दों के आदान से, आभ्यन्तर रूप तथा अर्थांश के विकास से अत्यधिक कोटि का होता है। पालि भाषा यदि बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ साथ भिन्न भिन्न देशों में न फैलती तो वह एक जनपदीय बोली मात्र बनी रहती। मास्को की बोली यदि राजनीतिक कारणों से रूस भर में न फैलती तो उसका विकास जो आज रूस में दिखाई पड़ रहा है वह कदापि न होता। (३) कुछ भाषायें घिस कर भी विकसित हो जाती हैं। उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तन भाषाओं के बाह्य रूप के परिवर्तन या विकास में सर्वप्रधान कारण हैं। प्रत्येक भाषा के शब्द, उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तन से घिसते रहते हैं। इसी कारण कालान्तर में उस भाषा के बहुत से शब्द अपने प्राचीन रूपों को छोड़कर नया रूप तथा नया अर्थ धारण कर लेते हैं, कभी कभी दूसरी भाषा के शब्दों को अपने साँचे में ढाल लेते हैं। जैसे, संस्कृत का पर्यङ्कग्रन्थि घिसते घिसते हिन्दी में पलत्थी हो गया। वर्तते—बट्टइ—बाटइ—बाटै — बा हो गया।

मया — मए — महँ — में — मैं
त्वया — तुए — तुइ — तू
ततः — तवो — तउ — तो — त हो गया।

उच्चारण सम्बन्धी उपर्युक्त परिवर्तनों से भाषा के सामाजिक माध्यम में सुविधा एवं बिशदता आई है। इसलिए इन परिवर्तनों में भाषा का विकास निहित है। उच्चारण-सुविधा की दृष्टि से कई प्रकार के प्रयत्न लाघव प्रत्येक भाषा में दिखाई पड़ते हैं। जैसे वर्णागम, वर्णलोप, वर्णविपर्यय, वर्णविकार आदि। उनका विस्तृत विवेचन आगे ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी अध्याय में विस्तार से किया गया है। संस्कृत तथा हिन्दी में सभी प्रकार के संधिज विकार प्रयत्नलाघव के द्वारा ही भाषा में आते हैं। बिदेशी शब्दों को अपनी भाषा के साँचे में ढाल कर पचाने की प्रवृत्ति भी उच्चारण-सुविधा के कारण ही उत्पन्न होती है। जैसे, हिन्दी में सिग्नल को सिंगल, हॉस्पिटल को अस्पताल, गार्ड को गारड, टाइम को टेम, ग़रीब को गरीब आहिस्तः को आहिस्ता उच्चारित करते हैं।

(४) कुछ भाषायें कई भाषाओं के शब्दों, ध्वनियों, मुहावरों, अर्थतत्वों को पचाने से विकास करती हैं। जैसे अंग्रेजी[1]। विकासशील भाषा का

१ अंग्रेजी भाषा के शब्दकोष में लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रांसीसी आदि भाषाओं के शब्दों का पर्याप्त मिश्रण है।

क्योंकि किसी भाषा की ध्वनि, रूपतत्व, अर्थतत्व तथा वाक्य तत्व में प्रत्यक्ष परिवर्तन शब्दों के माध्यम से ही होता है तथा किसी भाषा में नई ध्वनियों नये रूपतत्वों, नये अर्थतत्वों का आगमन शब्दों द्वारा ही सम्भव होता है।

भाषा-विकास के कारण :—(१) सामाजिक विकास-स्तर बढ़ने से भाषा विकसित होती है—सामाजिक विकास के कारण, भाषा में सबसे अधिक विकास होता है। क्योंकि मनुष्य की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक राजनीतिक, शैक्षणिक तथा व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुसार भाषा विकसित होती रहती है। भाषा अधिकांश मात्रा में समाज की उपज होने के कारण समाज के विकास के साथ साथ विकसित होती है। एक ही देश के लोग विभिन्न युगों में जब सामाजिक विकास की विभिन्न स्थितियों को पार कर लेते हैं तब उनकी भाषा क्रमशः उच्चस्तरीय स्थितियों में निम्नस्तरीय स्थितियों की तुलना में अधिक विकसित हो जाती है। जैसे, आर्यों की आदि भाषा उनके सामाजिक विकास की आखेटपूर्ण स्थिति में बहुत ही अविकसित कोटि की थी। पशु-पालन की स्थिति में उससे अधिक विकसित हुई। कृषि-कर्म की स्थिति में भारतवर्ष में उनकी भाषा—संस्कृत भाषा के रूप में काफी विकसित हुई। आज आर्यों के समाज की औद्योगिक स्थिति में उसी की एक शाखा अंग्रेजी संसार की सबसे अधिक विकसित भाषा मानी जाती है। जिन जातियों की औद्योगिक स्थिति तथा उत्पादन-कौशल पिछड़ा रहता है उनकी भाषा भी नाना उद्योग-धन्धों से पूर्ण जातियों की अपेक्षा अविकसित रहती है। उदाहरणार्थ, अमेरिका के नीग्रो जाति की भाषा बहुत ही अविकसित कोटि की है क्योंकि उस जाति की औद्योगिक स्थिति बहुत ही पिछड़ी हुई है। भाषा उत्पत्ति-विषयक विभिन्न वाद-जैसे, अनुकरणमूलकतावाद, अनुरणनमूलकतावाद आदि यह स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि मनुष्य सबसे पहले प्रकृति के प्रांगण में निवास करते हुए रूपवान पदार्थों के नामकरण में समर्थ हुआ होगा। धीरे धीरे सभ्यता तथा संस्कृति में विकास करने के पश्चात् उसने जंगली जानवरों, पशु-पक्षियों एवं निर्जीव पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले विचारों एवं विशेषताओं का अध्ययन किया होगा और तब उनसे सम्बन्ध रखने वाले भाववाची एवं गुणवाची शब्दों के आविष्कार में वह समर्थ हुआ होगा। किसी भाषा के विकासात्मक अध्ययन से भी यही तथ्य प्रमाणित होता है कि प्रत्येक भाषा की आरंभिक अवस्था में व्यक्ति वाचक तथा जातिवाचक संज्ञाओं के विकास के पश्चात्

गुणवाचक तथा भाववाचक संज्ञाओं का विकास हुआ। आदिवासियों की अविकसित भाषाओं में आज भी गुणवाचक तथा भाववाचक संज्ञाओं की न्यूनता दिखाई पड़ती है। भाषा की सामान्य प्रकृति भी रूप से अरूप की ओर जाने की है। यह तथ्य बच्चे की भाषा के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। बच्चा सर्व प्रथम वस्तुवाचक संज्ञा सीखता है। एक साल का बच्चा फूल शब्द का उच्चारण अनुकरण से सीख जाता है किन्तु फूल की सुन्दरता के बोधक शब्द को वह चार पाँच वर्ष में सीखता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनुष्य की आदिम भाषा में पदार्थ वाचक शब्दों का विकास पहले हुआ। भाववाचक, गुणवाचक एवं विशेषण बोधक शब्दों का विकास बाद को हुआ। जब बच्चा दो या ढाई वर्ष का होता है तब वह दो दो तीन तीन शब्दों का एक साथ प्रयोग करने लगता है। जैसे, अम्मा, मिठाई, बजार (अम्मा बजार से मिठाई मंगा दो) बाबू, पैसा, आम, (बाबू पैसा दे दो, आम लूंगा)। इसके पश्चात् कुछ और बढ़ने पर वह क्रिया का प्रयोग करने लगता है। जैसे, बाबू राजू मारा (बाबू राजेन्द्र ने मारा है)। इस अवस्था में बच्चे को कारक, लिङ्ग, बचन आदि व्याकरणिक सम्बन्धों का ज्ञान नहीं होता। मानव की आदिम भाषा में व्याकरणिक सम्बन्धों का विकास नहीं हुआ था। उसके वाक्यों में व्याकरण के नियमों की व्यवस्था नहीं थी। जैसे, बच्चा शैशवकाल में प्यास लगने पर पानी की ओर संकेत करते हुए 'अम्मा अम' कहता है तो उसकी माँ उसका अर्थ समझ लेती है कि बच्चा पानी माँग रहा है तदवत् आदिम मनुष्य भी अपनी आदिम सभ्यता के शैशवकाल में सर्वप्रथम कुछ सार्थक ध्वनियों तथा कुछ संकेतों द्वारा अपना काम चलाता था। अंगुलियों को संपुटित करते हुए जब वह कहता था 'काकः भेकः' तो उसका साथी यह अर्थ समझ लेता था कि कौए ने मेंढक को पकड़ा; परन्तु प्रत्येक स्थिति में इस तरह के शब्द-प्रयोग से अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं होता था। जैसे, 'बालकः बालिका' कह कर वैसा संकेत करने पर यह सन्देह बना रहता था कि किसने किसको पकड़ा। इस असुविधा को दूर करने के लिए बालकः, बालकम्, बालकेन, बालकाय, बालकात्, बालकस्य, बालके जैसे शब्दों का विकास हुआ। मानव समाज में जैसे जैसे सम्बन्ध-भावना का विकास हुआ वैसे वैसे उसकी भाषा में भी उन सम्बन्धों को प्रगट करने वाले शब्दों—भिन्न भिन्न कारकों आदि का विकास हुआ। सभ्यता के आदिम विकास की स्थिति में आर्य भाषा में मनुष्य पहले 'काकध्वनि' कहता रहा होगा। फिर सम्बन्ध-भावना का विकास होने पर

उसके स्पष्टीकरण के लिए सम्बन्ध कारक की विभक्ति का प्रयोग करके उसी को वह 'काकस्यध्वनि' कहने लगा। जैसे जैसे मनुष्य की सामाजिकता का विकास हुआ वैसे वैसे समय के सूक्ष्म ज्ञान तथा भेदीकरण की आवश्यकता से समय का भेदीकरणमूलक सूक्ष्म ज्ञान हुआ। समय का सूक्ष्म ज्ञान होने पर उसके भेदीकरण के लिए भिन्न भिन्न कालों तथा उसके भेदों के सूचक शब्दों को आविष्कृत करने की आवश्यकता पड़ी। वृक्ष के ऊपर से पत् पत् की आवाज करता हुआ सूखा पत्ता गिरा। गिरने की क्रिया में पत् पत् की आवाज़ हुई। इसलिए ध्वनिअनुकरण मूलक प्रक्रिया से गिरने के अर्थ में पत् शब्द का प्रयोग हुआ। इस प्रकार आदिम भाषा में क्रिया का आविष्कार ध्वनि प्रगट करने वाले कार्यों को देखने तथा उनसे उद्भूत ध्वनियों के अनुकरण से हुआ। समाज की जटिलता तथा आवश्यकता बढ़ने पर आदिमानव को समय के भेदीकरणमूलक ज्ञान की आवश्यकता महसूस हुई। समय के भेदीकरण के लिए अपतत्, पतति; पतिष्यति जैसे शब्द बने जिनसे गिरने नामक क्रिया के भिन्न भिन्न समयों की सूचना मिली। क्रिया-ज्ञान तथा काल-ज्ञान के कुछ समय पश्चात् समाज में जब कर्ता की प्रतिष्ठा हुई तब गिरने वाले अर्थात् कर्ता के भेदीकरण के लिए पतति, पतसि, पतामि, पततः, पतन्ति जैसे अनेक शब्द बने। मानव समाज के बहुत अधिक विकसित होने पर जब उसके पास बहुत से पदार्थ संचित हो गये, तो उनके स्थानों के सम्बन्धों को सूचित करने वाले शब्दों की आवश्यकता से मानव की प्रारंभिक भाषा में अव्यय का विकास हुआ होगा। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि मानव की प्रारंभिक भाषा में व्याकरणिक सम्बन्धों का विकास नहीं हो सका था।, अतः उसके वाक्यों में व्याकरण के नियमों की व्यवस्था नहीं थी। धीरे-धीरे समाज की वृद्धि तथा उसकी आवश्यकताओं की बढ़ती के साथ साथ जैसे जैसे नाना प्रकार के विचारों की वृद्धि होती गई वैसे वैसे भाषा का विकास होता गया। उसके व्याकरणिक तत्त्वों का विकास भी सामाजिक आवश्यकता तथा जटिलता के कारण ही हुआ।

संस्कृति के विकास से भाषा का विकास होता है :—उच्चस्तरीय संस्कृति के माध्यम रूप में व्यवहृत होने वाली भाषा निम्नस्तरीय संस्कृति के माध्यमरूप में व्यवहृत होने वाली भाषाओं से अधिक विकसित हो जाती है। रोमानी भाषाओं में फ्रांसीसी भाषा को उच्चस्तरीय संस्कृति के माध्यम बनने का सौभाग्य अधिक मिला। फलतः वह अन्य रोमानी भाषाओं की

तुलना में अधिक विकसित हुई। किसी जाति की सांस्कृतिक संपत्ति उसकी भाषा के मुहावरों, शब्दों, लोकोक्तियों तथा उच्चारणों की विधियों द्वारा व्यक्त होती है। यदि उसकी सांस्कृतिक सम्पत्ति विकसित होती है तो उसको अभिव्यक्त करने वाली भाषा अपने आप विकसित हो जाती है। भारतवासी आर्यों की संस्कृति का विकास वैदिक युग में अन्यदेशीय आर्यों की संस्कृति की अपेक्षा अधिक हुआ। फलतः वैदिक संस्कृति को व्यक्त करने वाली वैदिक संस्कृत भाषा का विकास भी अन्यदेशीय आर्यों की भाषाओं की अपेक्षा अधिक हुआ। वस्तुतः भाषा का विकास मानव संस्कृति के विकास के साथ साथ हुआ। समाज में जैसे-जैसे पारिवारिक सामाजिक सम्बन्ध बढ़ते गए वैसे ही-वैसे समाज में नयी नयी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हुईं। नई-नयी परिस्थितियों के उत्पन्न होने से नयी-नयी आवश्यकतायें, नये-नये विचार, नये-नये भाव, नये-नये आदर्श तथा नयी-नयी धारणाएँ उत्पन्न हुयीं। इन नये विचारों, भावों, आदर्शों एवम् मूल्यों ने नये शब्दों, नये मुहावरों, नयी लोकोक्तियों को जन्म दिया। इस प्रकार संस्कृति के इतिहास की रेखाओं के विकास के साथ-साथ भाषा-इतिहास की रेखाएँ भी बढ़ती गयीं। आज भी जिस जाति की संस्कृति-रेखा अविकसित कोटि की है उसकी भाषा भी अविकसित कोटि की है। भारतवर्ष में रहनेवाली बहुत सी आदिम जातियों की संस्कृति बहुत ही अविकसित कोटि की है; फलतः उनकी भाषा भी अविकसित कोटि की हैं। मुण्डा जाति की संस्कृति अत्यन्त हीनतर कोटि की है, इसलिए उस जाति की भाषा भी हीनतर कोटि की है। उसमें केवल दस तक संख्यायें वर्तमान है, इसके अतिरिक्त बीस के लिए शब्द है। इन्हीं ग्यारह संख्याओं की सहायता से कुछ घटा कर तथा कुछ बढ़ा कर कुछ और संख्याएँ बना ली जाती हैं। सांस्कृतिक संस्थाओं के स्थापन तथा आन्दोलन से भी भाषा के विकास में पर्याप्त सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में आर्य समाज, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा नागरी-प्रचारिणी सभा एवं हिन्दुस्तानी एकेडेमी के कार्यों से हिन्दी भाषा के विकास में पर्याप्त योग मिला। कभी कभी दो संस्कृतियों के सम्मेलन से भी भाषा में पर्याप्त विकास हुआ है। जैसे, भारत में आर्यों तथा द्रविड़ों, आर्यों तथा यवनों, भारतीयों तथा योरपवालों की संस्कृतियों के सम्मिलन से भारतीय भाषाओं के विकास में पर्याप्त सहायता मिली है।

शिक्षा से भाषा का विकास होता है। जिस प्रकार बच्चे के जीवन में शिक्षा द्वारा भाषा का विकास होता है तद्वत् मानव जीवन की यात्रा में

भी शिक्षा द्वारा भाषा का विकास हुआ है। सामान्य जीवन में प्रायः देखा जाता है कि शिक्षित व्यक्ति की भाषा अनपढ़ व्यक्ति की भाषा से अधिक विकसित कोटि की होती है। कवियों में भी जिस कवि की व्युत्पत्ति (शिक्षा) जितनी अधिक प्रौढ़ होती है उसकी भाषा भी उतनी ही समृद्धशाली कोटि की होती है। उदाहरण रूप में कबीर तथा तुलसी को लिया जा सकता है। तुलसी की कवि-शिक्षा हिन्दी कवियों में सर्वाधिक प्रौढ़ कोटि की है, इसलिए उनकी भाषा भी सर्वाधिक समृद्धशाली कोटि की है। कबीर को कवि शिक्षा का अवसर नहीं मिला। इसलिए उनकी भाषा भी निम्न कोटि की है। शिक्षा का माध्यम बनने से किसी भाषा में नाना प्रकार के विषयों के विचारों, भावों, धारणाओं को व्यक्त करने का शब्द-भाण्डार बढ़ता है। नाना प्रकार के विचारों को व्यक्त करने से उसके अनेक शब्दों का अर्थ विकसित होता है। अनेक प्रकार के नये विचारों को व्यक्त करने की प्रक्रिया में नये शब्द गढ़े जाते है, नये शब्दों को गढ़ने से रूप-तत्त्वों का विकास होता है। शिक्षा में व्याख्या करते समय अध्यापक की भावुकता के कारण कभी-कभी वाक्य का क्रम बदल जाता है। इस प्रकार शिक्षा वाक्य-तत्त्व पर भी प्रभाव डालती है। शिक्षण-काल में जब नयें विषयों का रूपान्तर अपनी भाषा में करना पड़ता है, तो नये-नये शब्दों का आविष्कार अपनी भाषा में आवश्यक हो जाता है। इससे भाषा का विकास स्वाभाविक रूप से अवश्यम्भावी हो जाता है। शिक्षा की स्थिति विकसित होने से भाषा का विकास द्रुतगति से होता है। स्वतंत्र भारत में भिन्न-भिन्न विषयों की उच्चतम शिक्षा हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के माध्यम से दी जा रही है, इसलिए हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भिन्न-भिन्न शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक विषयों की पारिभाषिक पदावली तैयार की जा रही है। फलतः इस समय हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं का जैसा विकास हो रहा है वैसा गुलाम भारत में नहीं हुआ था। क्योंकि उस समय उन्हें विभिन्न विषयों की उच्चतम शिक्षा के माध्यम का अवसर नहीं मिला था।

साहित्य-रचना से भाषा का विकास होता है—जिस भाषा में जितना अधिक साहित्य रचा जाता है उसमें उतना ही अधिक विकास होता है। इसके विपरीत जिस भाषा में साहित्य कम मात्रा में रचा जाता है वह उतनी ही मात्रा में कम विकसित होती है और जिस भाषा में साहित्य का

नितान्त अभाव रहता है वह भाषा अत्यन्त दरिद्र कोटि की होती है। संस्कृत और अंग्रेजी भाषा में सर्वाधिक साहित्य की सृष्टि हुई इसीलिये ये दोनों भाषायें संसार की भाषाओं में सब से अधिक विकसित कोटि की भाषायें हैं। खड़ी बोली में आधुनिक युग के पूर्व जब बहुत ही कम साहित्य रचा गया था तब वह बहुत ही अविकसित कोटि की एक बोली मात्र थी, किन्तु आधुनिक युग में सब से अधिक साहित्य इसी भाषा में निर्मित हो रहा है, इसलिए वह भारतवर्ष में सब से अधिक धनी कोटि की हो रही है। आस्ट्रेलियन परिवार की भाषाओं में साहित्य नहीं लिखा गया, परिणामतः वे अत्यन्त दरिद्र कोटि की भाषायें हैं। जिस भाषा में साहित्य की रचना अधिक होती है उसमें साहित्यकारों की अनुभूति नये-नये भाव, नये-नये विचार, नयी-नयी धारणाएँ, नये शब्दों का निर्माण करती हैं। उन नये शब्दों से भाषा का शब्द-भाण्डार धीरे-धीरे विकसित होता है। भाषा के शब्द भाण्डार के बढ़ने से नयी-नयी ध्वनियों का विकास होता है, नये-नये रूप-तत्त्वों का आगमन होता है, नवीन प्रकार के वाक्य-तत्त्वों का उद्भावन होता है तथा अर्थ-तत्त्व का विस्तार होता है। ब्रजभाषा वैष्णव आन्दोलन के पूर्व जब तक साहित्यिक भाषा नहीं बनी थी तब तक वह बोली मात्र थी। जब उसमें साहित्य की रचना पर्याप्त मात्रा में हो गयी तब वह विकसित होकर विभाषा के पद पर आसीन हो गयी। कहीं-कहीं उसे भाषा का आसन भी मिल जाता है, इसका कारण, उसमें रचित साहित्य की अमूल्य निधि ही है। भाषा के व्याकरणादि सम्बन्धी तत्त्वों का विकास किसी भाषा में पर्याप्त साहित्य-सृष्टि के बाद ही सम्भव होता है।

समाज के अन्तर्बाह्य विरोधों से भाषा विकसित होती है—

अन्तर्बाह्य दोनों प्रकार के विरोधों से समाज का विकास होता है। अतः दोनों प्रकार के विरोधों का प्रभाव भाषा के विकास पर भी पड़ता है। अन्तर्विरोध से संघर्ष उत्पन्न होता है। संघर्ष की स्थिति में नाना प्रकार के विचार, भाव, आदर्श तथा धारणायें उत्पन्न होती हैं। संघर्ष पर विजय पाने के लिये चिन्तन की बारीकियाँ उत्पन्न होती हैं और इन सबकी अभिव्यक्ति से भाषा का विकास होता है। लार्ड मेकाले ने जब सन् १८३५ ई० में भारत की भाषाओं पर यह आरोप लगाया कि वे बहुत ही अविकसित कोटि की हैं, इसलिये उनके माध्यम से ऊच्च शिक्षा सम्भव नहीं, तभी से भारतवासियों के मन में भाषा सम्बन्धी प्रश्न को

लेकर अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गया। अंग्रेज शासक थे, उनकी सत्ता तथा शक्ति के समक्ष भारतीय अपना सिर किसी भी प्रकार से उठा नहीं सकते थे, अतः उनके पास अन्तर्विरोध के सिवाय कोई अन्य चारा न था। इस अन्तर्विरोध से उस अंग्रेजी भाषा के ही प्रति नहीं वरन् अंग्रेजी राज्य के प्रति भी संघर्ष की भावना उत्पन्न हो गयी। संघर्ष की स्थिति में अनेक प्रकार के विचार, भाव, आदर्श उत्पन्न हुए, भारतीयों में संघर्ष पर विजय पाने के लिये नवीन प्रकार की चेतना, जागर्ति तथा आन्दोलन का विकास हुआ। इनकी अभिव्यक्ति करने से भारतीय भाषाओं का विकास १८३५ के पूर्व भाषा विकास की गति की तुलना में अधिक द्रुतता से हुआ। साहित्यिक क्षेत्र में भी जिस कवि या साहित्यकार में अन्तर्विरोध की मात्रा अधिक होती है, उसकी अनुभूति उसी के अनुपात में मार्मिकतर कोटि की होती है। इसलिये उसको अभिव्यक्त करने वाली भाषा भी प्रौढ़ कोटि की होती है। अंग्रेजी तथा हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियों में अन्तर्विरोध की मात्रा बहुत अधिक दिखायी पड़ती है, फलतः उनकी साहित्यिक भाषा में भी विकास के तत्त्व तथा समृद्धि के तथ्य बहुत अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। बाह्य विरोध की स्थिति में भाषा-विकास की गति द्रुततर हो जाती है।प्रायः देखा गया है कि किसी देश में आबादी बढ़ने के कारण अथवा भोजन की कठिनाई के कारण जब कोई एक मानव समूह अपने पड़ोसी समूह से बाह्य विरोध करके पराजित हो जाता है तब वह दूसरे देश में जीविका की खोज में जाता है। वहाँ विजातियों के सम्पर्क और सामाजिक मिश्रण की विविधता से भाषा में बहुविध विकास होता है। उर्दू भाषा की उत्पत्ति तथा विकास का कारण भारतवर्ष में मुसलमानों का आगमन तथा उनकी राज्य-लिप्सा एवं प्रभुत्व-स्थापन की आकांक्षा का परिणाम है। द्रविड़ जाति के सम्पर्क के कारण आर्य भाषा संस्कृत में अनेक द्रविड़ शब्दों तथा टवर्ग ध्वनियों का आगमन हुआ। संस्कृत की अपेक्षा अपभ्रंश में ध्वनि-विकारों की अधिकता तथा शब्द-रूपों में अधिक परिवर्तन का कारण आभीर, गुर्जर आदि विदेशी आक्रमणकारियों के आक्रमण तथा सम्पर्क का फल है। ऐसा भी प्रायः देखा जाता है कि यदि किसी देश में कई वर्षों तक युद्ध चलता रहता है तो उस समय पुरुष वर्ग लड़ाई, झगड़े, युद्धादि में लगा रहता है तथा स्त्रियाँ घर के अन्य कार्यों में। उस समय समाज में नियंत्रण की कमी हो जाती है। इस कारण सीखने वाले बच्चों में निरंकुशता फैल जाती है। समाज की निरंकुशता के कारण भाषा में भी परिवर्तन द्रुततर गति से होता है। इससे भाषा

के विकास की गति बढ़ जाती है। कभी कभी राजनीतिक तथा सामाजिक संघर्षों के कारण भी जब समाज में स्वच्छन्दता की लहर अधिक फैल जाती है तो विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा सामान्य लोगों में भी भाषा के संयम के प्रति उदासीनता फैल जाती है। इस से भाषा के क्षेत्र में स्वच्छन्दता अधिक उत्पन्न होती है। इस स्वच्छन्दता से भाषा-विकास की गति बहुत अधिक बढ़ जाती है। भारतवर्ष में 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' से हिन्दी भाषा के क्षेत्र में भी स्वच्छन्दता फैली। फलतः हिन्दी व्याकरण के प्रति लोगों में उदासीनता की भावना उत्पन्न हुई। इससे हिन्दी का विकास भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ। आज हिन्दी, अहिन्दी प्रान्तों में विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों, मुहावरों तथा लोकोक्तियों को आत्मसात् करती हुई दिन-प्रतिदिन विकसित हो रही है।

आर्थिक विकास से भाषा-विकास का घनिष्ट सम्बन्ध है;—जिस देश का आर्थिक विकास जितना अधिक बढ़ता है उसी अनुपात से उस देश की भाषा भी विकसित होती है। किसी देश में आर्थिक विकास से जितनी नई वस्तुएँ उत्पादित होती हैं उतने ही नये उद्योग-धन्धे भी बढ़ते हैं। नयी वस्तुओं के उत्पादन तथा नये उद्योग-धन्धों के बढ़ने से भाषा में नये-नये शब्द आते हैं। और नये नये शब्दों के आने से भाषा का शब्द-भाण्डार विकसित होता है। आर्थिक उत्पादन के साथ विज्ञापन एवं प्रकाशन का कार्य भी बढ़ता है। किसी भाषा में विज्ञापन एवं प्रकाशन के बढ़ने से उसका विकास भी आगे बढ़ता है। आर्थिक विकास से व्यापारिक उन्नति होती है। व्यापारिक उन्नति से उस देश के लोगों का सम्पर्क दूसरे देश के लोगों से होता है। व्यापारिक उन्नति के बढ़ने पर एक प्रांत के लोग दूसरे प्रांतों में, एक देश के लोग दूसरे देशों में जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न जातियों का सम्पर्क एक दूसरे से होता है। जब विभिन्न जातियों का आपस में संसर्ग होता है तो वे एक दूसरे के नवीन पदार्थ, विचार तथा भाव को उनके द्योतक भाषा-शब्दों के साथ ग्रहण करती हैं। प्राचीन काल में भारतवर्ष के पश्चिमी किनारे के द्रविड़ों तथा अरब निवासियों में अधिक व्यापार होता था। अतः द्रविड़ भाषा के बहुत से शब्द पहले अरबी में उसके पश्चात् पाश्चात्य भाषाओं में प्रविष्ट हुए। जैसे, तामिल भाषा का अरिसा शब्द अरबी में प्रविष्ट हो कर उरुज़ हुआ और यही अंग्रेजी में जाकर राइस (Rice) हो गया। हिन्दी में अंग्रेजी, फ्रांसीसी,

पुर्तगाली तथा डच भाषाओं के शब्दों का आगमन सर्व प्रथम-योरोपीय व्यापारियों के संसर्ग के कारण हुआ। अंग्रेजी भाषा के विकास के अनेक कारणों में एक प्रमुख कारण उस जाति का आर्थिक विकास भी है। यदि अंग्रेज व्यवसाय की दृष्टि से विश्व भर में फैले न होते तो उन्नीसवीं सदी में आर्थिक उत्पादन सम्बन्धी वस्तुओं में वे सबसे आगे न बढ़ते और न उनकी भाषा ही विश्व भर की व्यापारिक भाषा बन पाती। कहने की आवश्यकता नहीं कि विश्व भर की व्यापारिक भाषा बनने से अंग्रेजी भाषा को अपने विकास-पथ पर आगे बढ़ने में बड़ी सहायता मिली है।

कभी-कभी राजनीतिक कारणों से भी भाषा विकसित होती है—

कभी कभी राजनीतिक कारणों से भी किसी भाषा के विकास की गति बहुत तीव्र मात्रा में बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ, अपभ्रंश भाषा की उन्नति तथा विकास आभीर राजाओं का आश्रय पाने के कारण हुआ। मास्को की बोली राजनीतिक कारणों से रूस की प्रामाणिक तथा राजभाषा का पद पाने में समर्थ हुई। इसी प्रकार टोकियो नगर की बोली राजनीतिक कारणों से जापान की राष्ट्र-भाषा बनी और कुछ ही वर्षों में राजसत्ता का बल पाने से वह अपार जीवन-शक्ति से भर गई। इसी प्रकार हमारी हिन्दी भाषा भी राजनीतिक कारणों से भारत की राजभाषा घोषित की गई है। राजनीतिक कारणों से ही वह उत्तर भारत में उच्चतम शिक्षा की माध्यम बनती जा रही है; न्याय, पुलिस, सेना आदि राजव्यवस्था सम्बन्धी कार्यों में उसका प्रयोग हो रहा है। शिक्षा, न्याय, पुलिस, सेना, शासन सम्बन्धी कार्यों के लिए पारिभाषिक पदावली भारत सरकार की आज्ञा से हिन्दी में तैयार की जा रही है। उच्च शिक्षा का माध्यम बनने से हिन्दी में नये नये विषयों की पुस्तकें लिखी जा रही हैं, विज्ञान, वाणिज्य, नृशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, तथा राजनीति शास्त्र की अंग्रेजी भाषा की उत्तम पुस्तकें हिन्दी में अनूदित हो रही हैं। इससे हिन्दी का शब्द-भाण्डार, अर्थ-तत्त्व दिन प्रतिदिन समृद्ध हो रहा है। राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा घोषित होने से वह अहिन्दी प्रान्तों में भी शिक्षा तथा राज-काज में स्थान पा रही है। अहिन्दी प्रान्तों के निवासी लेखक भी उसमें साहित्यरचना आरंभ कर चुके हैं। फलतः अहिन्दी प्रान्तों की प्रान्तीय भाषाओं के शब्द, मुहावरे उसमें पचते जा रहे हैं। इस प्रकार हिन्दी का विकास आज राजनीतिक कारणों से बहुत ही द्रुत गति से बढ़ रहा है। अंग्रेजी भाषा की उन्नति के अनेक कारणों में अंग्रेजों की राजनीतिक सत्ता का विश्व के अधिकाधिक भूभागों में प्रसार पाना है।

भाषा या बोली का विस्तृत घेरा भी उसके विकास में सहायक होता है :— कभी कभी किसी भाषा के बोलने वालों का विस्तृत घेरा भी उस भाषा के विकास में सहायता पहुँचाता है। सामान्यतः किसी भाषा के बोलनेवालों का घेरा जितना बड़ा होगा उतनी ही विस्तृत उसकी सामाजिकता भी होगी। और जिस भाषा की सामाजिकता जितनी विस्तृत होगी उसका विकास भी उतना ही विस्तृत कोटि का होगा। अंग्रेजी की उन्नति तभी हुई जब उसके बोलनेवालों का घेरा इंगलैण्ड के बाहर तक फैला। हिन्दी की उन्नति के अनेक कारणों में एक प्रमुख कारण यह भी है कि उसके बोलनेवालों का घेरा भारत की अन्य प्रान्तीय बोलियों की तुलना में सबसे अधिक है। धार्मिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक कारणों से कोई बोली जब अपने संकुचित स्थान से सुदूर देशों में फैलती है तो उसके बोलनेवालों का विभिन्न भाषा-भाषियों से सम्पर्क स्थापित होता है, उनकी संस्कृति पर उन विभिन्न भाषा-भाषियों की संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। फलतः उनकी भाषा में नई ध्वनियाँ, नये शब्द, नये अर्थ-तत्त्व प्रविष्ट होकर उसका विकास द्रुततर गति से करते हैं। पालि भाषा यदि बौद्धधर्म का प्रश्रय पाकर उसके प्रसार के साथ भिन्न-भिन्न देशों में न फैलती तो वह एक जनपदीय बोली मात्र बनी रहती।

कभी कभी देश का एक महान व्यक्ति भी उसकी भाषा के विकास में वेग ला देता है :—

कभी कभी किसी देश की सम्पूर्ण सामाजिकता का प्रतिनिधित्व करनेवाला महान व्यक्ति भी अपनी भाषा सम्बन्धी विशिष्ट नीति से उसके विकास में तीव्रता ला देता है। जैसे, महात्मा गान्धी की हिन्दी सम्बन्धी नीति से हिन्दी का व्यवहार कांग्रेस में आरम्भ हुआ। उनके द्वारा स्थापित दक्षिण हिन्दी-प्रचार-सभा से दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार हुआ। आजादी के पूर्व दक्षिण भारत के लोग हिन्दी को एक राष्ट्रीय रचनात्मक कार्य समझकर सीखते थे तथा उसका प्रचार करते थे। इस प्रकार हिन्दी राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर अपने विकास के मार्ग में द्रुततम गति से आगे बढ़ी। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी को राजनीतिक शक्ति प्रदान कराने में महात्मा गान्धी का सर्वाधिक योग है।

अपनी भाषा के प्रति प्रकृष्ट प्रेम भी उसको विकसित करने में सहायक सिद्ध होता है :— अपनी भाषा के प्रति प्रकृष्ट प्रेम एक सामाजिक गुण है।

जिस जाति में यह सामाजिक गुण रहता है अर्थात् अपनी भाषा के प्रति प्रकृष्ट प्रेम रहता है उस जाति की भाषा अवश्यमेव विकसित होती है। जिस जाति में अपनी भाषा के प्रति प्रकृष्ट प्रेम करने की विशेषता नहीं रहती उसकी भाषा एक न एक दिन नष्ट होकर अवश्य मर जायगी। उदाहरणार्थ, गाल्स लोगों में अपनी गालिस भाषा के प्रति प्रेम नहीं था। इसलिए वे लैटिन भाषा तथा साहित्य की तुलना में गालिस भाषा तथा उसके साहित्य को हीन समझते थे। परिणाम यह हुआ कि विवशता की स्थिति न होने पर भी गाल्स लोगों ने अपनी गालिस भाषा तथा साहित्य को लैटिन भाषा तथा साहित्य की तुलना में हीनतर समझ कर छोड़ दिया। इसलिए उनकी भाषा मर गई। भारतवर्ष में हिन्दी के अतिरिक्त बंगाली तथा मराठी के अधिक विकसित होने का कारण बंगालियों तथा मराठों का अपनी भाषा के प्रति प्रकृष्ट प्रेम है। लार्ड मेकाले ने सन् १८३५ ई० में अपने शिक्षा सम्बन्धी घोषणा-पत्र में भारतीय भाषाओं के प्रति अपनी यह भ्रान्तिपूर्ण धारणा प्रकट की थी कि भारत की क्या प्राचीन क्या अर्वाचीन—सभी भाषायें अविकसित कोटि की हैं। अतएव वे आधुनिक उच्च शिक्षा के माध्यम बनने योग्य नहीं हैं। यदि उस समय के भारत-वासियों में अपनी भाषा के प्रति प्रकृष्ट प्रेम न होता तो वे लार्ड मेकाले की भाषा सम्बन्धी धारणा से प्रभावित होकर अपनी भाषा के प्रति हीनता की जटिल ग्रन्थि से भर जाते और आगे चलकर अपनी भाषा का विकास करने में वे असफल हो जाते। जैसा कि अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के आदिमवासियों की भाषायें अपने बोलने वालों की निष्ठा के अभाव में अंग्रेजों की भाषा-प्रभुता सम्बन्धी नीति के कारण नष्ट होकर दब गईं या मर गईं।

कभी-कभी ऐतिहासिक घटनाओं से भाषायें विकास-पथ पर अग्रसर होती हैं:—कभी कभी किसी ऐतिहासिक घटना से भी किसी भाषा के विकास की गति बढ़ जाती है, और कभी कभी कोई ऐतिहासिक घटना किसी भाषा को अस्तित्व हीन कर देती है। ज़ार के समय में लिथूनियन और लेटिश बहुत ही दबी एवं कुचली हुई भाषायें थीं किन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ऐतिहासिक कारणों से लिथूनियन और लेटिश रिपब्लिक के बनने पर उक्त दोनों भाषायें दोनों रिपब्लिक देशों की राज-भाषा के पद पर आसीन हो गईं। कालान्तर में ऐतिहासिक घटनाओं के कारण जब दोनों देश सोवियत यूनियन में मिला लिये गये तब फिर ये भाषायें राजभाषा-पद से

च्युत हो गईं। दिल्ली, मेरठ, तथा सहारनपुर के आस पास की पड़ी जनपदीय बोली को उठाकर खड़ी करने का श्रेय दिल्ली के आस पास खेमा बना कर आक्रमणकारी मुसलमानों के बसने वाली ऐतिहासिक घटना को है। खड़ी बोली को हिन्दुस्तान के प्रत्येक हिस्से में फैलाने वाली घटना भी ऐतिहासिक ही है। दिल्ली के आस पास के खेमों में बसने वाले मुसलमान सैनिक यदि अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दिल्ली के निकटवर्ती देहाती हिस्सों में न जाते तो उनके साथ खड़ी बोली उनके खेमों में प्रविष्ट न हो पाती। और यदि खेमों में वह प्रविष्ट न होती तो वह सैनिक भाषा न बन पाती। और यदि सैनिक भाषा न बन पाती तो मुसलमानों की सेना के साथ भारत के हर हिस्से में न फैल पाती। कहने का तात्पर्य यह कि आरंभ में खड़ी बोली को विकसित करने का श्रेय ऐतिहासिक घटनाओं को ही है। वस्तुतः ऐतिहासिक घटना नई भाषाओं को उत्पन्न कर देती है, किसी भाषा को भिन्न भिन्न प्रान्तों या देशों में फैला देती है, किसी भाषा को राजतिलक देकर राजभाषा बना देती है, किसी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन कर देती है, कभी कभी भिन्न भिन्न भाषा-भाषियों का सम्पर्क करा कर उनकी संस्कृतियों के मिश्रण द्वारा उनकी भाषाओं में नये शब्दों, नई ध्वनियों, नये रूप-तत्त्वों, नये अर्थ-तत्त्वों, नये मुहावरों का समावेश कराकर उन्हें विकास के मार्ग पर अग्रसर कर देती है।

किसी भाषा का विकास उसकी आकर भाषा की समृद्धि पर बहुत अधिक मात्रा में अवलम्बित है—

जिस भाषा की आकर भाषा समृद्धशालिनी होती है उसको कभी शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों, विचारों की कमी नहीं पड़ती, किन्तु जिस भाषा के पास कोई आकर भाषा नहीं होती उसकी स्थिति बहुत ही दयनीय होती है। उसको आकर भाषा के अभाव में आधार रहित होने के कारण शब्द-भाण्डार की वृद्धि के समय, भावों तथा विचारों की समृद्धि के समय दूसरी भाषाओं का मुँह ताकना पड़ता है। दूसरी भाषा के शब्दों, मुहावरों, ध्वनियों आदि को यदि वह बहुत अधिक मात्रा में ग्रहण करती है तो कर्जदार सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ, हिन्दी की आकर भाषा—संस्कृत बहुत ही समृद्धशालिनी कोटि की है। अतः आज हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के समय उसे किसी दूसरी विदेशी भाषा का मुँह नहीं ताकना पड़ता। वह अपनी आकर भाषा संस्कृत की संज्ञाओं, धातुओं, धातु से बने शब्दों, प्रत्ययों तथा उपसर्गों से निर्मित कृदन्तों तथा तद्धितान्तों द्वारा दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करती

जा रही है। किन्तु हिन्दी की तुलना में उर्दू की कोई आकर भाषा नहीं है। अतः अपनी समृद्धि के लिए उसे दूसरी विदेशी भाषाओं का मुँह ताकना पड़ता है अथवा वह विदेशी शब्दों को अपरिमित संख्या में ग्रहण करके कर्जदार सिद्ध होती है। इस प्रकार आकर भाषा के अभाव में उसकी शक्ति हिन्दी की तुलना में कम विकसित हो रही है।

सादृश्य

भाषा के विकास में सादृश्य का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। ध्वनि, रूप, शब्द तथा अर्थतत्व के विकास में इसका बहुत बड़ा योग दिखाई पड़ता है किन्तु वाक्य-तत्व के विकास में इसका प्रभाव अन्य चारों तत्वों से कम मिलता है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ग्रील का मत है कि मानवीय भाषा के आरंभ के कुछ ही बाद से भाषा-विकास की प्रक्रिया में सादृश्य का नियम काम करने लगा। जिस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य ने सादृश्य-नियम के आधार पर अपना विकास किया तद्वत् भाषा के क्षेत्र में भी। जिस प्रकार जीवन में साहचर्य सम्बन्ध से व्यक्ति तथा समाज का विकास होता है तद्वत् भाषा में भी।[1] विचार-साहचर्य से उसकी भाषा की नाना दिशाओं—ध्वनि, रूप, वाक्य तथा अर्थ-तत्वों में विकास होता है। मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि साहचर्य-प्रक्रिया से मानव जीवन में धारणाओं तथा विचारों की सृष्टि होती है। विचार-प्रक्रिया की प्रगति, साहचर्य-क्रिया द्वारा ही आगे बढ़ती है। अतएव भाषा-विकास में भी इस साहचर्य-क्रिया का महत्व-पूर्ण योग स्वाभाविक है। बच्चों की भाषा के अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है कि उनकी भाषा के विकास में सादृश्य का महत्वपूर्ण योग है। बच्चे ८ या ६ वर्ष की अवस्था में सादृश्य के आधार पर अनेक नये शब्दों की रचना करते हुए दिखाई पड़ते हैं। वे मीठा के आधार पर सीठा, पकौड़ी के सादृश्य पर छकौड़ी, गुल्ली के सादृश्य के आधार पर कुडुल्ली, गुडुल्ली, थुरुल्ली बना लेते हैं। अनपढ़ लोग भी सादृश्य के आधार पर अनेक शब्दों की रचना करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

---

1. Association of ideas is the basis of all analogy which is the important kind of Linguistic Change,

Elements of the science of Language—By Tarapoewalla

फौजी चपरासी रात को १० बजे के बाद किसी आदमी को अपने फाटक के पास घूमते हुए देख कर अंग्रेजी के 'हू कम्स देअर' के सादृश्य के आधार पर 'हुकुम सदर' कहता है। लाईब्रेरी का चपरासी लाईब्रेरी को राय-बरेली कहता है। बनारस का इक्केवान आर्टस कालेज को आठ कालेज कहता है। पढ़े लिखे लोगों में भी सादृश्य के आधार पर नये शब्दों की रचना की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। हिन्दी में पढ़े लिखे लोग भी पाश्चात्य के आधार पर पौर्वात्य, दाक्षिणात्य के आधार पर पाश्चिमात्य, पढ़न्त के आधार पर रटन्त, खुदन्त, लड़न्त शब्दों का प्रयोग करते हैं।

भाषा में शब्द-विकास ही नहीं अर्थ—विकास भी सादृश्य के आधार पर होता है। पहले बंश का अर्थ, वृक्ष विशेष था। तदनन्तर अर्थ-सादृश्य के आधार पर कुल हो गया। हिन्दी में स्याही का मूल अर्थ है काली, पर अर्थ-सादृश्य के आधार पर उसका अर्थ हो गया—किसी भी प्रकार की लिखने की स्याही। पट शब्द के दो अर्थ-दरवाजा और वस्त्र में भी सादृश्य ही प्रधान है। कलम का अर्थ-विस्तार, लिखने की कलम, नाई द्वारा बाल काटने की कलम, पौधे लगाने की कलम, ख़त काटने के अर्थ-सादृश्य के आधार पर हुआ।

अंग्रेजी वाक्य-रचना के सादृश्य के आधार पर हिन्दी में वाक्यरचना अनेक विधियों को अपनाकर हो रही है। हिन्दी में निक्षित वाक्य बनाने की प्रवृत्ति नवीन है। हिन्दी-लेखकों में यह प्रवृत्ति अंग्रेजी वाक्य-रचना के सादृश्य के आधार पर आई है। उसके भी कई प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। उदाहरणार्थ, नीचे के वाक्यों को देखिए :—

क—किन्तु मेरी लाचारी देखकर और मेरा आशय समझकर, आशा है, मुझे क्षमा किया जायगा।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी—बीसवीं शताब्दी–पृ० १५। प्रथम संस्करण।

ख—यह विवादग्रस्त विषय है—आँसू में प्रदर्शित प्रेम का स्वरूप—आचार्य शुक्ल कहते हैं।

डा० शिवकुमार मिश्र—कामायनी और प्रसाद की कविता–गंगा। सन् १९४५ ई० पृ० २५।

ग—पल्लव-काल में मैं उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी कवियों–मुख्यतः शेली, वर्ड्सवर्थ, कीटस और टेनीसन–से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ, क्योंकि इन

कवियों ने मुझे मशीन युग का सौन्दर्य-बोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन-स्वप्न दिया है।—श्री सुमित्रानन्दन पन्त।

आधुनिक कवि की भूमिका। पृ० १३।

१६वीं सदी के हिन्दी-गद्य में भी अंग्रेजी-वाक्य-रचना के सादृश्य के आधार पर हिन्दी-वाक्य-रचना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। हिन्दी में ऐसी वाक्य रचना, जिसमें पहले संज्ञा का प्रयोग करने के पश्चात् उसका सम्बन्ध-वाचक सर्वनाम रखा जाय और फिर कभी कभी उस संज्ञा के बदले निश्चयात्मक सर्वनाम का भी प्रयोग किया जाय—निश्चय ही अंग्रेजी वाक्य-रचना के अनुकरण का फल है। जैसे, निम्नांकित वाक्यों में उसका उदाहरण देखिए :—

१—इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ, उस अपने दाता को, भेजे हुए प्यार को जिसके लिए यों कहा है—जो तू न होता तो मैं कुछ न बनता।

इंशाअल्लाखाँ—रानी केतकी की कहानी—पृ० २।
सम्पादक—श्यामसुन्दरदास।

२—कब मैं सुन्दर बालक सहित चन्द्रावली के मुँह, कि जो वन में रहने से भोर के चन्द्रमा सा मलीन हुआ होगा, देखूंगी।

सदलमिश्र—नासिकेतोपाख्यान। पृ० १६
सम्पादक—बाबू श्यामसुन्दर दास।

अंग्रेजी वाक्य-रचना के सादृश्य के आधार पर आधुनिक हिन्दी लेखकों में निवेशित उपवाक्य प्रयुक्त करने की पद्धति जोरों से चल रही है। जब कभी किसी वाक्य के मध्य में कोई उपवाक्य इस तरह घुसा दिया जाय कि वह मूल वाक्य को २ भागों में बाँट दे तो उस उपवाक्य को निवेशित उपवाक्य कहते हैं। जैसे, नीचे के वाक्यों में इसका प्रयोग देखिए :—

"जब कभी वह अवसर आवेगा, हम समझते हैं कि शीघ्र आवेगा, तब द्विवेदी जी की भाषा का चमत्कार देखने को मिलेगा।"

पं०—नन्ददुलारे बाजपेयी—बीसवीं शताब्दी – पृ० १५

आरम्भ में जब उन्हें इसकी अभिज्ञता भी न थी, आत्मविश्लेषण का सूत्रपात भी न हुआ था—उनकी रचना में वह स्थूल वैयक्तिक स्वरूप धारण किये हुए रहा।

पं० नन्ददुलारे बाजपेयी—बीसवीं शताब्दी पृ० १५

अंग्रेजी में सोचने तदनन्तर हिन्दी में लिखने की पद्धति से भी हिन्दी की वाक्य-रचना अंग्रेजी ढंग पर हो रही है। जैसे, नीचे के वाक्य को देखिए—श्याम ने कहा कि मैं खाऊँगा। यह हिन्दी-पद्धति की वाक्य-रचना है। किन्तु उपर्युक्त वाक्य को कुछ लोग इस प्रकार से कहते हैं—श्याम ने कहा कि वह खायेगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि दूसरे प्रकार की वाक्य-रचना अंग्रेजी वाक्य-रचना के सादृश्य के आधार पर है।

हिन्दी में प्रायः एकांकी, उपन्यासों तथा नाटकों के संवादों में पदरूपात्मक वाक्य की रचना भी अंग्रेजी वाक्य-रचना के रूप-साम्य के आधार पर हो रही है। जैसे,

जी हाँ हुई। प्रेमचन्द—काया कल्प—पृ० १८।
किसी भी दशा में नहीं। वही—पृ० २३।
अवश्य। वही—पृ० ४४।
मुस्कुराकर, अच्छा। वही—पृ० ४७।
रानी—चल—झूठी। वही—पृ० ५५।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भाषा के शब्द-विकास, अर्थ—विकास वाक्य-विकास आदि में भाषा-सृष्टि के आरम्भकाल से ही सादृश्य का महत्व-पूर्ण योग है।

भाषा-प्रकृति वाले अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि भाषा की प्रकृति भी कठिनता से सरलता की ओर जाने की है। इस प्रकृति के विकास में सादृश्य का नियम बहुत काम करता है। जैसे, वैदिक संस्कृत भाषा में अस्मद् तथा युष्मद् सर्वनाम का कर्ता में द्विबचन का रूप आवम् तथा युवम् था किन्तु कर्म का द्विबचन का रूप था आवाम् तथा युवाम्। किन्तु वैदिक भाषा में संज्ञा में कर्ता तथा कर्म के द्विबचन के रूप प्रायः एक से होते थे। इसलिए संज्ञा-रूपों के कर्ता तथा कर्म के द्विबचन के एक तरह के रूपों के सादृश्य के आधार पर सर्वनाम के रूप भी आगे चल कर कर्ता तथा कर्म के द्विवचन में एक तरह के हो गये। फलतः अस्मद् तथा युष्मद् के कर्ता द्विबचन के आवम् एवं युवम् के स्थान पर आवाम् तथा युवाम् हो गये। संस्कृत भाषा में केवल युग्म शब्दों के लिये द्विबचन का प्रयोग होता था। जैसे, पादौ, कर्णौ, पितरौ, किन्तु बाद में विलोम युग्मों के लिये भी द्विबचन का प्रयोग होने लगा। जैसे, लाभालाभौ, जया-जयौ, सुखदुःखे। फिर कुछ दिनों बाद सादृश्य के आधार पर द्वन्द्व समास वाले शब्दों में भी द्विवचन का प्रयोग चलने लगा। जैसे, रामलक्ष्मणौ,

संस्कृत भाषा में द्वादश के सादृश्य के आधार पर एकादश, करिन के तृतीया के रूप करिणा के आधार पर हरि का हरिणा बना है। प्राकृत का मझ शब्द तुज्झ के सादृश्य के आधार पर मुज्झ फिर मुझ हो गया। संस्कृत के व्यंजनान्त शब्दों को आगे चल कर जनता ने स्वरान्त शब्दों के समान बना लिया। संस्कृत के नरम्, पितरम्, कर्मन्, मनस् आदि व्यंजनान्त शब्द हिन्दी में स्वरान्त--नर, पितर, कर्म तथा मन हो गये हैं। अंग्रेजी में Shall से Should और Will से Would बन गया। इन्हीं के सादृश्य पर Can से Could बन गया, यद्यपि इसमें L (ल) नहीं था।

सादृश्य के कारण—जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि सादृश्य का प्रधान कारण सुविधा या सरलता है। अतएव यहाँ सादृश्य के कारणों पर विवेचन करते समय सुविधा के कुछ विशेष पक्षों की ओर ही संकेत किया जा सकता है :—

१. **अभिव्यञ्जना की कठिनाई दूर करने के लिए**—कभी-कभी जब एक भाव के लिए दो शब्द भिन्न-भिन्न रूपों के रहते हैं तो उन्हें याद करने में कठिनाई होती है। जैसे—पूर्वीय के लिए संस्कृत में पौरस्त शब्द था, पर यह पाश्चात्य के वजन पर नहीं था। इसलिए लोगों ने हिन्दी में पाश्चात्य के सादृश्य पर पौर्वात्य बना लिया।

२. **अधिक स्पष्टता लाने के लिए**—जब रूप छोटे होने के कारण अर्थ की स्पष्टता नष्ट होने लगती है तो अन्य शब्दों के आधार पर उनके नए रूप बना लिए जाते हैं। जैसे, शहर से शहरी और देहात से देहाती शब्द थे, किन्तु बाद में देहाती के सादृश्य पर शहराती शब्द बहुतायत से प्रयोग में लाया जा रहा है।

३. समानता पर बल देते समय भी सादृश्य का सिद्धान्त काम करता है। संस्कृत में स्वश्री का पंचमी में श्वसुः मातृ का मातुः, पितृ का पितुः तो ठीक है किन्तु इन्हीं शब्दों के सादृश्य पर पति का पत्युः रूप भी संस्कृत भाषा में चल पड़ा है; यद्यपि पतेः होना चाहिए।

४. किसी प्राचीन अथवा नवीन नियम के सादृश्य के आधार पर भी किसी भाषा में नए शब्द बनते हैं। जैसे-हिन्दी में सबन्धसूचक ई प्रत्यय के आधार पर अमेरिका से अमरीकी एशिया से एशियाई, इटली से इटाली शब्द बनाये गये हैं। अमेरिका से अमेरिकन, एशिया से एशियाटिक, इटली से इटैलियन शब्द विदेशी प्रत्ययों के आधार पर बने हैं। किन्तु संबन्धसूचक ई प्रत्यय के

आधार पर उनका अमरीकी; एशियाई तथा इटाली शब्द चलाने का प्रयत्न हिन्दी में किया जा रहा है। कभी-कभी नवीन नियम के आधार पर भी नए शब्द बनाये जाते हैं। जैसे-हिन्दी की प्रेरणार्थक क्रिया के नियमों के आधार पर अंग्रेजी संज्ञा-शब्दों की भी प्रेरणार्थक क्रियायें आज कल धड़ल्ले से बनाई जा रही है। जैसे, अंग्रेजी तद्भव शब्द रसीद का प्रेरणार्थक रूप रसीदियाना, फिल्म का फिल्मियाना आदि शब्द बाजारू हिन्दी में चलते हुए दिखाई पड़ते हैं। कुछ लोग हिन्दी के इक प्रत्यय को अधिक प्रामाणिक मान कर ऐतिहासिक के स्थान पर इतिहासिक शब्द चलाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

५. कभी कभी शीघ्रता, अज्ञान तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन के फल-स्वरूप भी सादृश्य का नियम शब्द-विकास में काम करता हुआ दिखाई पड़ता है। किन्तु ऐसे शब्दों का प्रभाव किसी भाषा में अस्थायी कोटि का होता है। बच्चों, अज्ञानियों तथा विभाषियों की भाषा में शीघ्रता के कारण सादृश्य के आधार पर कुछ शब्द चल पड़ते हैं। जैसे, हिन्दी में घोड़ों, लड़कों, घरों आदि के आधार पर अनेक का अनेकों, बहुत का बहुतों रूप चलता हुआ दिखाई पड़ता है। यद्यपि अनेक तथा बहुत शब्द बहुबचन हैं। कभी कभी अज्ञानवश सादृश्य के आधार पर कुछ ऐसे शब्द चलने लगते हैं जो व्याकरण से अशुद्ध होते हैं। जैसे, मध्य-प्रदेश में शान्ति के स्थान पर, सुन्दर तथा मधुरता के सादृश्य के आधार पर, शान्तता शब्द बहुत चलता है। इसी प्रकार सौजन्यता, प्रसिद्धता, लावण्यता, सिद्धता शब्द सुन्दरता के सादृश्य पर बने हुए हैं जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध होते हुए भी अज्ञानियों द्वारा बोले जाते हैं। कभी-कभी पाण्डित्य-प्रदर्शन की वृत्ति से भी सादृश्य के आधार पर कुछ ऐसे शब्द चल जाते हैं जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध होते हैं। जैसे, बाहुल्यता, सारगर्भित आदि शब्द अशुद्ध होते हुए भी पाण्डित्य-प्रदर्शन की वृत्ति के कारण हिन्दी में प्रायः प्रयुक्त होते हैं।

भाषा पर सादृश्य का प्रभाव :—जब दो जातियों के मिलने से उनकी भाषा का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है तो ऐसी स्थिति में, प्रायः सादृश्य का नियम बहुत काम करता है। प्रायः दुर्बल तथा पराजित जाति सबल तथा विजयी अथवा शासक जाति की भाषा के शब्दों को अपनी भाषा के शब्दों के उच्चारण सादृश्य के आधार पर ग्रहण करती है। रूपरचना की दृष्टि से हिन्दी आकारान्त भाषा है। इसलिए इसमें अरबी के आहिस्तः, हमेशः शब्द रूपरचना के आधार पर हमेशा तथा आहिस्ता हो गये हैं। इसी प्रकार

अंग्रेजी के शब्द—एडवान्स, चार्जशीट, आगस्ट, हास्पिटल हिन्दी शब्दों की ध्वनि-साम्य के आधार पर क्रमशः अठवाँस, चारसीट, अगस्त, अस्पताल हो गये है। सादृश्य के कारण एक भाषा की वाक्य-रचना के रूप-साम्य के आधार पर दूसरी भाषा में वाक्य रचना होने लगती है। इसके कई उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। इसके प्रभाव से भाषा कठिनता से सरलता की ओर विकसित होती है। इसलिए सादृश्य के कारण किसी भाषा में शब्द-निर्माण प्रणाली की भिन्नता तथा व्याकरण की अनियमितता धीरे धीरे कम होने लगती है। जैसे, अंग्रेजी में संज्ञाओं के बहुबचन कतिपय अपवादों को छोड़कर प्रायः शब्द के अन्त में S (यस) लगा कर बनाये जाते हैं। किन्तु इसके विरुद्ध उसी कुल की उसी विकासस्तर की जर्मन भाषा में संज्ञाओं के बहुबचन बनाने के अनेक तरीके वर्तमान हैं।

इसका मूल कारण यही है कि अंग्रेजी भाषा पर जर्मन भाषा की तुलना में विदेशी भाषाओं के प्रभाव अधिक मात्रा में पड़े हैं। इसलिए उसमें सादृश्य का नियम जर्मन भाषा की तुलना में अधिक मात्रा में काम करता है। सादृश्य के प्रभाव से भाषा में एकरूपता आती है। सादृश्य के नियम से प्रभावित होने के कारण अंग्रेजी की क्रियायें धीरे-धीरे एकरूप होती जा रही हैं। अर्थ-तत्त्व के क्षेत्र में प्रयुक्त अलंकारों के मूल में सादृश्य ही काम करता हुआ दिखाई पड़ता है। सादृश्य द्वारा हम मूर्त तथा अमूर्त वस्तु के सम्बन्ध में अपनी अभिव्यक्ति स्पष्ट करने में समर्थ होते हैं। दृढ़ प्रतिज्ञ व्यक्ति के संकल्प को हम भीष्म प्रतिज्ञा, घर का भेद देकर परिवार को क्षति पहुँचाने वाले को विभीषण, तुलसी को हिन्दी का शेक्सपीयर कहते हैं। रास्ते का **माथा**, आरी के **दाँत**, गन्ने की **आँख**, घड़े की **गरदन** में आलंकारिक प्रयोग सादृश्य के आधार पर है। इसी प्रकार मूर्ख को गधा तथा बैल कहना, धोखेबाज एवं धूर्त को साँप कहना समाज में खूब प्रचलित है। इसी प्रकार मुहावरों, कहावतों तथा लोकोक्तियों के निर्माण में सादृश्य बहुत काम करता है। 'मामला खटाई में पड़ना' मुहावरे का निर्माण खटाई में आभूषणों के देरी तक पड़े रहने के सादृश्य के आधार पर हुआ है। 'ऊखल में दिया सिर तो मूसलों का क्या डर' नामक कहावत की रचना ऊखल में पड़ी वस्तुओं में मूसल के प्रहारों तथा साहसपूर्ण कार्य में विपत्तियों के सहने के सादृश्य के आधार पर हुई है।

———

भाषा-विकास के अवरोधी कारण

भाषा विकास के जितने कारण पिछले अध्याय में बताये गये हैं बहुधा उनके विरोधी कारण उपस्थित होने पर भाषा के विकास में अवरोध उपस्थित होता है। जैसे, किसी जाति का सामाजिक स्तर जितना पिछड़ा होगा, उसकी भाषा उतनी ही अविकसित कोटि की होगी। सांस्कृतिक अवनति तथा हीनता से भी भाषा का विकास अवरुद्ध हो जाता है। शिक्षा के नितान्त अभाव में किसी जाति की भाषा विकसित नहीं हो सकती। साहित्य-रचना की शून्यता भाषा विकास में बाधक सिद्ध होती है। आर्थिक तथा व्यावसायिक विकास का अभाव भाषा के विकास को अवरुद्ध करता है। राजनीतिक तथा धार्मिक चेतना संबंधी आन्दोलनों का प्रभाव भी भाषा-विकास की गति को बहुत मंद कर देता है। क्षेत्रीय दृष्टि से भाषा की संकीर्णता उसके विकास को संकीर्ण बनाती है। किसी समाज में महान सामाजिक व्यक्तियों का अभाव भी उसकी भाषा के विकास के वेग को शून्यता में परिणत कर देता है। क्रान्तिकारी ऐतिहासिक घटनाओं का अभाव भाषा के विकास को गतिहीन कर देता है। विजातियों के सम्पर्क का अभाव भी भाषा के बहुविध विकास को रोकता है। किसी जाति में अपनी भाषा के प्रति प्रकृष्ट प्रेम का अभाव भी उस भाषा के विकास में सर्वाधिक बाधक सिद्ध होता है। समृद्धशालिनी आकर भाषा का अभाव किसी भाषा के विकास को आधार-रहित बनाकर मंद कर देता है। वातावरण की दरिद्रता अथवा एक-रूपता भी भाषा के विकास में बहुत ही बाधक सिद्ध होती है।

अब भाषा विकास के उन अवरोधी कारणों पर विचार करना चाहिए जिनका भावात्मक रूप (Positive aspect) भाषा-विकास वाले अध्याय में विवेचित नहीं हुआ है।

वातावरण की विविधता तथा समृद्धि से भाषा विकसित होती है। किन्तु वातावरण की एकरूपता तथा हीनता से भाषा का विकास रुकता है। उदाहरणार्थ, एक बच्चे के जीवन को लीजिए। जिस बच्चे का जीवन भौगोलिक, सामाजिक तथा भौतिक दृष्टि से समृद्धिशाली वातावरण में व्यतीत होगा उसकी भाषा बहुत विकसित कोटि की होगी किन्तु इसके विरुद्ध जिस

बच्चे का जीवन भौगोलिक, सामाजिक तथा भौतिक दृष्टि से एकाङ्गी कोटि के वातावरण में व्यतीत होगा उसकी भाषा में विकास बहुत कम होगा। अफ्रीका के बुशमैन की भाषा बहुत ही अविकसित कोटि की क्यों है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि उनके जीवन का वातावरण प्रायः एक प्रकार का रहता है। सदा एक प्रकार के वातावरण में रहनेवाले गाँव के अनपढ़ लोगों की भाषा उन नागरिकों की भाषा से बहुत कम विकसित कोटि की होती है जिनका वातावरण क्षण क्षण पर बदलता रहता है तथा बहुत ही समृद्धिशाली कोटि का होता है।

यदि किसी देश की भौगोलिक परिस्थिति घने जंगलों तथा भयानक ऊँचे पहाड़ों के कारण ऐसी हो कि वहाँ पहुँचना बहुत दुर्गम हो तो वहाँ के निवासियों का बाहरी लोगों से या विदेशी जातियों से मिश्रण बहुत कम होगा। अतः बाह्य प्रभाव से शून्य होने के कारण उनकी भाषा की विकास-गति मन्द पड़ जायगी। जैसे, आइसलैण्ड की भाषा वहाँ की भौगोलिक परिस्थिति के कारण, आवागमन दुर्गम होने के कारण बहुत ही कम विकसित हुई है। यूनान देश में पहाड़ बहुत हैं। इसलिए एक घाटी से दूसरी घाटी में पहुँचना बहुत दुर्गम है। फलतः यूनान के उन पहाड़ी प्रदेशों की भाषा बहुत ही कम विकसित हुई है। यदि किसी देश में जमीन अत्यन्त पहाड़ी, जंगली, बर्फीली अथवा रेगिस्तानी होने के कारण खाद्यान्न पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न नहीं होता तो उस देश के निवासी रात-दिन भोजन की समस्या में लीन होने के कारण सूक्ष्म चिन्तन का समय नहीं पा सकते। सूक्ष्म चिन्तन का समय न मिलने के कारण वे कला तथा साहित्य में उन्नति नहीं कर सकते। कला तथा साहित्य की उन्नति में अभाव होने के कारण उनकी भाषा में विकास भी बहुत ही कम होता है। आरंभ में शिक्षा से किसी जाति की भाषा का विकास बहुत तीव्र गति से होता है किन्तु उस समाज में जब शिक्षा शत-प्रतिशत फैल जाती है तो उस भाषा के व्याकरणनिष्ठ साहित्यिक या सुसंस्कृत रूप का प्रचार अधिक हो जाता है। ऐसी स्थिति में अधिक शिक्षित लोग जनभाषा या प्राकृत भाषा का प्रयोग करना बन्द कर देते हैं। फलतः एक ओर उनकी भाषा व्याकरण के नियमों में जड़ीभूत होने के कारण विकास की दृष्टि से अवरुद्ध हो जाती है तो दूसरी ओर उनके बीच जनभाषा का विकास बन्द हो जाता है।

व्याकरण के जटिल नियमों से आबद्ध होने पर किसी भाषा का विकास अवरुद्ध हो जाता है। व्याकरण के कड़े नियमों से कसे जाने पर किसी

बोली या भाषा का साँचा बहुत पक्का हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसके रंग में हेरफेर भले ही हो जाय पर उसका रूप परिवर्तित नहीं होता। और परिवर्तन के बिना विकास असंभव है। किन्तु जो बोलियाँ व्याकरण के चंगुल में बहुत कसी हुई नहीं रहतीं वे अपना रूप बराबर विकसित करती रहती हैं; अपना साज-सँवार बराबर बदलती रहती हैं। प्राकृत भाषा कभी भी व्याकरण के नियमों में बहुत कसी नहीं गई; इसलिए उसका विकास बराबर होता गया।

कोई भी विजयी जाति यदि पराजित या शासित जाति को बहुत दबाकर रखती है और उसे सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक प्रगति का मौका नहीं देती तो सामान्यतः शासित जाति की भाषा विकसित नहीं होती। ऐसी स्थिति भाषा-विकास के लिए प्रतिकूल मानी जाती है। ऐसी प्रतिकूल स्थिति में भी अपनी भाषा के प्रति प्रकृष्ट प्रेम रखने वाली कोई जाति अपनी भाषा का विकास कर ले तो यह भाषा-विकास के अवरोध की अपवादीय स्थिति मानी जायगी।

भाषा-विकास की अवस्थायें

भाषा-प्रकृति वाले अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है। संयोगावस्था या संश्लिष्टावस्था का अर्थ है; मिली होने की स्थिति। जैसे, संस्कृत संश्लिष्ट भाषा है, उसमें **'गच्छति'** का अर्थ है, **'वह जाता है'**। तथा 'गच्छति' नामक वर्तमान कालिक क्रिया के रूप में **वह, जाता, है**—तीनों रूप मिले हुए हैं, पर हिन्दी में इसके लिए **'वह जाता है'** का प्रयोग होता है जिसमें सर्वनाम, मूलक्रिया तथा सहायक क्रिया सभी वियुक्त रूप में प्रयुक्त हैं। भाषा-विज्ञान सम्बन्धी आधुनिक खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि मानव अपनी प्रारम्भिक भाषा में पदरूपात्मक वाक्य का प्रयोग करता था। उसके एक पद या शब्द में संज्ञा, कारक, क्रिया, विशेषण, अव्यय, क्रियाविशेषण सभी मिले रहते थे। इसलिए एक शब्द या पद सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करने में समर्थ होता था। इस प्रकार उसकी आरम्भिक भाषा संश्लिष्ट कोटि की थी। जैसे जैसे मानव का समाज-स्तर बढ़ता गया वैसे वैसे उसकी आवश्यकता की वृद्धि हुई। उसके जटिल समाज की रचना तथा उसकी आवश्यकता की वृद्धि के साथ-साथ उसकी भाषा में व्याकरणिक तत्वों का विकास हुआ। अर्थात् उसके पदरूपात्मक संश्लिष्ट वाक्य में जैसे जैसे संज्ञा, सर्वनाम, कारक, क्रिया, अव्यय, विशेषण, क्रियाविशेषण आदि के रूप अलग होते गये वैसे वैसे उसकी भाषा संश्लिष्टावस्था से विश्लिष्टावस्था की ओर बढ़ती गई। बच्चे की भाषा सीखने की प्रक्रिया से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है कि वह व्यक्त वर्णात्मक वाणी बोलने की अवस्था में सर्वप्रथम पदरूपात्मक वाक्य में बोलना आरम्भ करता है। जब वह 'माँ' शब्द उच्चारित करता है तब उसका आशय होता है—'माँ! मुझे भूख लगी है, तू आकर मुझे दूध पिला।' इस प्रकार उसकी आरम्भिक भाषा संश्लिष्ट कोटि की होती है। वह जैसे जैसे बड़ा होता है वैसे वैसे उसका समाज तथा उसकी आवश्यकतायें विस्तृत होती हैं। तब वह अपने निकटवर्ती समाज से अनुकरण के आधार पर संज्ञा, सर्वनाम, कारक, क्रिया, विशेषण, अव्यय, क्रियाविशेषण आदि का प्रयोग पृथक्-पृथक् रूप में सीखता है। जब वह अपने वाक्यों में इनका प्रयोग पृथक्-पृथक् रूप में करने लगता है तब उसकी भाषा विश्लिष्ट कोटि की हो जाती है। भाषा-

उत्पत्ति तथा भाषा-विकास के कारणों के विवेचन के अवसर पर यह तथ्य स्पष्ट हो चुका है कि मनुष्य की भाषा में व्याकरणिक तत्त्वों का विकास उसके जटिल समाज के निर्माण-प्रक्रिया के साथ साथ उसकी आवश्यकता की क्रमिक वृद्धि के साथ साथ हुआ। वाक्य के अन्य अवयवों अर्थात् आठों पदों का विकास बहुत ही विकसित समाज की देन है। तात्पर्य यह कि मनुष्य की आरम्भिक भाषा में वाक्य से पृथक् शब्द की कोई सत्ता नहीं थी। मनुष्य की आदिम भाषा का आरम्भ शब्द रूपी वाक्य से हुआ। इसीलिए वाक्य भाषा का चरम अवयव माना जाता है। मानव के एक शब्द में जब एक वाक्य का भाव समाहित था तब उसकी भाषा संश्लिष्ट कोटि की थी। कालान्तर में जब वाक्य के भिन्न-भिन्न अवयवों—संज्ञा, सर्वनाम, कारक, विशेषण, क्रिया, अव्यय, क्रियाविशेषण आदि के अलग अलग प्रयोगों द्वारा वाक्य का भाव या विचार प्रगट होने लगा तब उसकी भाषा संश्लिष्टावस्था से विश्लिष्टावस्था में परिणत हो गई। अर्थात् भाषा के रूप-विकास की दृष्टि से भाषा की संयोगावस्था उसके विकास की प्रथम स्थिति है तथा वियोगावस्था उसकी दूसरी स्थिति।

आरम्भ में मनुष्य के पास शब्दों का भाण्डार अत्यल्प कोटि का था। अतः विचाराधिक्य अथवा भावाधिक्य होने पर उसे अभिव्यंजना में कठिनाई का अनुभव होता था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए वह वर्णात्मक भाषा के साथ संकेतों का भी प्रयोग करता था। बच्चों की भाषा[1], जंगली जातियों की भाषा[2], अनपढ़ों की भाषा[3] तथा बुशमैन की भाषा[4] से यह तथ्य प्रमाणित होता है कि मनुष्य की प्रारम्भिक भाषा में बहुत दिनों तक संकेतात्मक (gesture language) भाषा का मिश्रण था। पैगट

---

१. बच्चे शब्द-भाण्डार की कमी के कारण आरम्भ में अपनी वर्णात्मक भाषा के साथ संकेतात्मक भाषा का प्रयोग करते हैं।

२. आदि वासी जंगली जातियों में शब्द-भाण्डार की कमी के कारण संकेतों का प्रयोग वर्णात्मक भाषा के साथ बहुत अधिक मात्रा में चलता है।

३. हर देश के अनपढ़ लोग अपनी भाषा में अभिव्यंजना की कठिनाई के कारण संकेतों का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में करते हैं।

४. बुशमैन की भाषा में संकेतात्मक प्रयोगों का बाहुल्य रहता है।

(Paget) नामक भाषाशास्त्री का मत है कि सृष्टि के आदि काल में किसी समय मनुष्य हाथ, दाँत, ओठ, आँख आदि की ओर संकेत करने के साथ ही अपने किसी साथी का ध्यान आकर्षित करने के लिए किसी ध्वनि का उच्चारण करता रहा। धीरे-धीरे वह ध्वनि ही उसके उक्त अभिप्राय की प्रतीक बन गई। जैसे, दाँत की ओर संकेत करते हुए आदिम मनुष्य ने अ, अ, अत्, अद् जैसी विकृति ध्वनि निकाली होगी। कुछ दिनों के बाद वह ध्वनि-संकेत संस्कृत में अत् , अद्; लैटिन में edre; अंग्रेजी में eat के रूप में परिणत हो गया होगा। अंगुलि-निर्देश के साथ इ, उ, ध्वनि निकली होगी जो धीरे-धीरे परिवर्तित होकर कालान्तर में इदम्, अदस्, के रूप में परिणत हो गई होगी। इसी प्रकार मध्यम पुरुष की ओर संकेत करते हुए त्वम्, tu, you ध्वनि निकली होगी। स्थान की दूरी, अन्धकार अथवा हाथ के भरे रहने पर संकेतात्मक भाषा के प्रयोग की कठिनाई के कारण मनुष्य ने धीरे-धीरे संकेतात्मक भाषा का आश्रय छोड़कर वर्णात्मक व्यक्त भाषा का सहारा लिया। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि संकेत मिश्रित वर्णात्मक भाषा मानव की आदिम भाषा थी। तदनन्तर विशुद्ध वर्णात्मक भाषा उससे विकसित हुई। अपनी जीवन-यात्रा में मनुष्य को कभी-कभी कुछ ऐसे विचार या भाव आते थे जिनको वह अपनी दूसरी पीढ़ी के लिए भी छोड़ना चाहता था, अथवा युद्ध-काल में सेना-संचालित करते समय कुछ लिखित प्रतीकों की आवश्यकता पड़ती थी। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए उसने लिखित भाषा का आश्रय लिया। तात्पर्य यह कि जब वर्णात्मक भाषा बहुत विकसित कोटि की हो गई, उसमें पर्याप्त मात्रा में साहित्य-रचना होने लगी तब लिखित भाषा का उद्भव हुआ। किसी भाषा के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से पहले जनभाषा या प्राकृत भाषा की उत्पत्ति हुई। उसके पर्याप्त विकास के पश्चात् उसी से साहित्यिक भाषा का उद्भव हुआ। वस्तुतः किसी जनभाषा या प्राकृत भाषा का व्याकरण-अनुशासित अथवा परिष्कृत रूप जो शिक्षितों, साहित्यिकों, पण्डितों में प्रचलित हो जाता है वही साहित्यिक भाषा के नाम से अभिहित होता है।

भाषा-तत्त्व

भाषातत्त्वों में ध्वनितत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसलिए सर्वप्रथम उसी पर विचार करना उचित है।

ध्वनि-तत्त्व

ध्वनि की परिभाषा—

सामान्य अर्थ में मनुष्य के उच्चारणावयवों से निस्सृत सार्थक वाणी ही ध्वनि है। इसलिए ध्वनि का सामान्य अर्थ वर्ण लिया जाता है। वर्ण के दो भेद हैं—स्वर तथा व्यञ्जन। व्यापक दृष्टि से भाषा-विज्ञान में ध्वनि के तीन अर्थ लिए जाते हैं—(१) भाषा-ध्वनि, (२) ध्वनि-ग्राम तथा (३) वर्णध्वनि।

(१) भाषा-ध्वनि (Speech sound) :—भाषा में प्रयुक्त सब प्रकार की ध्वनियों को भाषा-ध्वनि कहते हैं। भाषा-ध्वनि भाषा में प्रयुक्त ध्वनि की लघुत्तम इकाई मानी जाती है। उच्चारण तथा श्रोतव्यता की दृष्टि से इसका स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है।

(२) ध्वनिग्राम (Phoneme) :—आपस में मिलती जुलती संध्वनियों के सामूहिक या पारिवारिक नाम को ध्वनिग्राम कहते हैं।

(३) वर्णध्वनिः—वर्णध्वनि में स्वर और व्यञ्जन दोनों का समाहित रूप से प्रयोग होता है; किन्तु उच्छिन्न अर्थ में श्रोत्रग्राह्य किसी भी वस्तु की आवाज को ध्वनि कहते हैं। इसलिए वैदिक साहित्य में ध्वनि के तीन भेद माने गए हैं। दैवी, भौतिक तथा पार्थिव। इस अर्थ में ध्वनि का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है।

(क) दैवी—वह ध्वनि है जो योगियों को समाधि-अवस्था में सुनाई पड़ती है। इसके भी तीन भेद हैं—परा, पश्यन्ती तथा मध्यमा।

(१) परा—परा वह ध्वनि है जो मूलाधार से पहले पहल नाद बन कर उत्पन्न होती है।

(२) पश्यन्ती—वह ध्वनि है जो मूलाधार से ऊपर उठ कर हृदय में पहुँचती है। यह ध्वनि भी योगियों को ही सुनाई देती है।

(३) मध्यमा—वह ध्वनि है जो हृदय से उठकर बुद्धि और संकल्प से मिलती है। इन तीनों में किसी व्यक्त श्रोत्रग्राह्य ध्वनि का स्वरूप निर्मित नहीं होता।

(ख) भौतिक—इस ध्वनि में बादल की गरज, बिजली की कड़क, वायु की सरसराहट, भूकम्प की गड़गड़ाहट, पानी में मछली कूदने की आवाज आदि सम्मिलित हैं।

(ग) पार्थिव—जीवों के मुँह से बोली जाने वाली ध्वनि पार्थिव ध्वनि है। इसके दो भेद हैं—अनिरुक्ता तथा निरुक्ता।

अनिरुक्ता—पशु-पक्षी की बोली अनिरुक्ता है।

निरुक्ता—इसके अन्तर्गत मनुष्यों की वाणी आती है, जिसके अर्थ बाँध दिए गए हैं। वैखरी वाणी सदा निरुक्ता होती है। इसलिए भाषा-विज्ञान में सदा वैखरी की ही छानबीन की जाती है।

विशिष्ट अर्थ में ध्वनि प्रो० डेनियल जोन्स के अनुसार "मनुष्य के विकल्प-परिहीन नियत स्थान और निश्चित प्रयत्न द्वारा उत्पादित तथा श्रोत्रेन्द्रियों द्वारा अविकल्प रूप से ग्रहीत शब्द-लहरी है।"

शास्त्रीय दृष्टि से भाषा-ध्वनि वह ध्वनि है जिसे मनुष्य अपने मुख के नियत स्थान से एक निश्चित प्रयत्न द्वारा अपने किसी ध्येय को स्पष्ट करने के लिए उच्चारित करता है और जिसे श्रोता उसी अर्थ में ग्रहण करता है। उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि ध्वनि के २ प्रमुख तत्व तथा ३ अवस्थायें हैं :—

ध्वनि के २ प्रमुख तत्व :—(१) वक्ता के एक निश्चित अर्थ के द्योतन के लिये उसके एक निश्चित प्रयत्न के फलस्वरूप उसके भाषण-अवयवों द्वारा उच्चारित होना।

(२) श्रोता का ठीक उसी अर्थ में या उससे सम्बन्धित अन्य अर्थों में ग्रहण करना।

ध्वनि की अवस्थायें :—उपर्युक्त परिभाषाओं से ध्वनि की ३ अवस्थायें प्रगट होती हैं :—उत्पत्ति, प्राप्ति और वाहन। ध्वनियों की उत्पत्ति और प्राप्ति का अध्ययन भाषा-वैज्ञानिक करता है और ध्वनियों के वाहन का अध्ययन भूत-विज्ञानी का विषय है।

ध्वनियों का संबन्ध :—ध्वनियों के प्रमुख तत्वों तथा अवस्थाओं से यह स्पष्ट है कि ध्वनि का सम्बन्ध प्रेषक तथा प्रापक दोनों से है। उच्चारणकर्ता अपने ध्वनियंत्र से सार्थक ध्वनियों को अपने लिये नहीं, दूसरों को समझने के

लिये बोलता है। मनुष्य अनेकबार अपनी वागिन्द्रियों से निरर्थक ध्वनियाँ भी निकालता है जो दूसरे मनुष्य की श्रोत्रेन्द्रियों द्वारा गृहीत भी होती हैं। किन्तु जब तक वे विशिष्ट अर्थ का वहन करने में समर्थ नहीं होतीं, तब तक उनसे भाषा का रूप निर्मित नहीं हो सकता। अर्थात् ध्वनियाँ जब सार्थक शब्दों का रूप धारण करती हैं, तभी वे भाषा की वास्तविक विशेषता से सम्पृक्त होती हैं। सार्थक ध्वनि के उच्चारण का मुख्य ध्येय आदान-प्रदान है। वक्ता ध्वनियों के उच्चारण के पूर्व उनको वहन करने वाले अर्थ से संयुक्त होता है, जिसे वह अपने श्रोता तक पहुँचाना चाहता है। इसीलिये श्रोता के मन में ध्वनियों को ग्रहण कर तुरन्त एक विचार की सृष्टि होती है और श्रोता आवश्यकतानुसार वक्ता को अपना प्रत्युत्तर भी देता रहता है। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि ध्वनियों को भाषा का रूप धारण करने के लिये केवल मुखोद्गीरित, सम्प्रेषित तथा गृहीत होने की ही आवश्यकता नहीं वरन् व्याकृत होने की भी आवश्यकता है।

ध्वनियों के कार्य :—ध्वनि की दृष्टि से भाषा मनुष्य के उच्चारण सम्बन्धी अवयवों द्वारा उन विविध आवाजों के उच्चारण का नाम है, जिन्हें मानव-समाज ने विशिष्ट अर्थों का सांकेतिक प्रतीक मान लिया है। इस प्रकार वक्ता के दृष्टिकोण से भाषा उच्चारण-यंत्र और वक्ता के प्रयत्न का फलविशेष है और श्रोता की दृष्टि से भाषा व्यक्त नाद की वह समष्टि है, जिसकी सहायता से किसी समाज या देश के लोग अपने विचार या भाव एक दूसरे पर प्रगट करते हैं। इस प्रकार ध्वनियों का कार्य भाषा के बाह्य पक्ष का निर्माण करना है। इसीलिये ध्वनियों के अभाव में भाषा अपना वास्तविक अस्तित्व धारण करने में असमर्थ हो जाती है।

ध्वनि का महत्व :—

मुखोद्गीर्ण ध्वनियों से ही मानवीय भाषा का जन्म हुआ। ध्वनियों के द्वारा भाषा के बाह्य पक्ष का निर्माण होता है। भाषा अपने मुख्य प्रयोजन-प्रेषणीयता के सफल माध्यम को ध्वनि-तत्व द्वारा ही धारण करती है। ध्वनि के बिना भाषा की ठीक परिभाषा भी नहीं बन सकती; क्योंकि मनुष्य के मुख से निकली हुई विशेष पद्धतिबद्ध ध्वनि ही भाषा है जिसकी सहायता से एक भाषा-समुदाय के अन्तर्गत सभी सदस्य आपस में बातचीत करके अपना काम चलाते हैं। कोई भी भाषा जो मनुष्य के मुख से निस्सृत होती है, ध्वनि-क्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं। श्रोता की दृष्टि से भाषा, व्यक्त नाद की वह समष्टि है जिसकी सहायता से किसी एक समाज या देश के लोग अपने

मनोगत भाव तथा विचार एक दूसरे पर प्रगट करते हैं। वक्ता के दृष्टिकोण से भाषा उसके उच्चारण यंत्र और प्रयत्न का फल विशेष है[1]। प्रसिद्ध ध्वनि-विज्ञ प्रोफेसर डैनियल जोन्स के मत में भाषा का बाह्य रूप ध्वनि द्वारा ही प्रतिष्ठित होता है।[2] उन्होंने ध्वनि की दृष्टि से भाषा की परिभाषा निम्न प्रकार से की है।

भाषा स्वरयंत्र, मुख, जिह्वा, नासिका आदि उच्चारण सम्बन्धी अवयवों द्वारा उन विविध आवाजों के उच्चारण का नाम है जिन्हें मानव समाज ने विशिष्ट अर्थों का सांकेतिक प्रतीक मान लिया है।[3] उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ध्वनि द्वारा ही भाषा के मूल तत्व निर्मित होते हैं तथा भाषा का वास्तविक स्वरूप भी ध्वनि द्वारा ही प्रतिष्ठित होता है एवम् भाषा की मूलभूत विशेषताओं का निर्माण भी ध्वनि द्वारा ही होता है।

दैनिक जीवन बिताने के लिये लिखित वर्णों की अपेक्षा ध्वनियाँ अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होती हैं। किसी व्यक्ति को दैनिक जीवन में हम अपनी ध्वन्यात्मक भाषा द्वारा जितना अपने अनुकूल बना सकते हैं, अपने पक्ष में ला सकते हैं, अपनी बात मनवा सकते हैं, उतना लिखित भाषा द्वारा नहीं। प्रायः अपने आत्मीय जनों पर भी अपनी ध्वन्यात्मक भाषा का जितना प्रभाव पड़ता है उतना पत्रगत लिखित भाषा का नहीं। इसीलिए हिटलर ने ध्वनियों की शक्ति के विषय में यह कहा था कि मनुष्य पर जो प्रभाव उच्चारित ध्वनियों का पड़ता है वह लिखित ध्वनियों का नहीं।

विश्व के सभी बड़े-बड़े विप्लवों, युद्धों तथा क्रान्तियों का जन्म बड़े-बड़े वक्ताओं की उच्चारित ध्वनियों से ही हुआ है, बड़े-बड़े लेखकों के लिखित शब्दों से नहीं। महात्मा गांधी के मुखोद्गीर्ण ध्वन्यात्मक शब्दों का जितना प्रभाव जनता पर पड़ता था उतना प्रभाव उनके द्वारा लिखित उसी वाणी का आज नहीं पड़ता। प्राचीन भारतीय साहित्य में मंत्रशक्ति को बहुत ही महत्वपूर्ण कहा गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मंत्र-शक्ति ध्वनि की शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। ध्वनि-तत्त्व से भाषा के बाह्य वैचित्र्य तथा वैशिष्ट्य का विश्लेषण ठीक-ठीक हो सकता है कि उसमें ध्वनिग्राम

---

१. हिन्दी-शब्द-सागर

२. फोनीम—पृ० १, प्रकाशित १६५०

३. फोनीम—पृ० १, प्रकाशित १६५०

कितने हैं ? उनकी संध्वनियाँ कितनी हैं ? उसमें स्वरों का बाहुल्य है या व्यंजनों का; अथवा वह केवल व्यंजनयुक्त भाषा है। उसमें व्यंजन अथवा स्वर कितने प्रकार के हैं, उसमें स्वराघात तथा सुराघात किस प्रकार का है, उसमें ध्वनियों का परिवर्तन किस नियम तथा सिद्धांत के अनुसार हुआ है और वह कितने प्रकार का हुआ है, ध्वनि-परिवर्तन किस मात्रा में अर्थ का परिवर्तन कर रहा है।

प्राचीन भारतीय ऋषि ध्वनि के महत्व से जितने अधिक परिचित थे कदाचित् आज कल के शिक्षा-शास्त्री उतने अधिक परिचित नहीं हैं। इसीलिए प्राचीन काल में शुद्ध उच्चारण की जितनी अधिक महत्ता मानी जाती थी उतनी आज नहीं है। प्राचीन काल में उदात्त स्वर के स्थान पर यदि कोई छात्र अनुदात्त स्वर का प्रयोग करता तो उसका शिक्षक तुरन्त उसे थप्पड़ लगाता था। संस्कृत वाङ्मय में प्रचलित कई किम्वदन्तियाँ ध्वनि के महत्व पर प्रकाश डालती हैं। जैसे, वृत्रासुर की हत्या होताओं के भ्रष्ट उच्चारण से हुई। वृत्रासुर ने इन्द्रबध की कामना से यज्ञ कराया, किन्तु होताओं द्वारा स्वर के मिथ्या प्रयोग से वह स्वयं मारा गया—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा—
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह;
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।

सकलशास्त्र विशारद किन्तु व्याकरण-विद्या से हीन भ्रष्ट उच्चारण करने वाले पुत्र को उसके वैयाकरण पिता की दी हुई सीख भी ध्वनि की महत्ता स्पष्ट करती है :—यद्यपि बहुनाधीषे पठ पुत्र तथापि व्याकरणम्। स्वजनः श्वजनोमा भूत् सकलः शकलो सकृच्छकृत। विदेशी भाषा के प्रशिक्षण में जिस प्रकार ध्वनियों का यथार्थ उच्चारण आवश्यक है उसी प्रकार मातृभाषा के शिक्षण में भी। किसी भाषा की ध्वनि-लिपि को वही व्यक्ति ठीक-ठीक अंकित कर सकता है जो उस भाषा की ध्वनियों के स्थान, प्रयत्न तथा उच्चारण-प्रकृति से ठीक-ठीक परिचित हो। ध्वनि-तत्त्व के समुचित ज्ञान के बिना अपनी भाषा के ध्वन्यात्मक स्वरूप का कोई पूर्णरूप से समझ नहीं सकता। खड़ी बोली शौरसेनी की पुत्री है। शौरसेनी में दन्त्य 'स' की प्रवृत्ति है मूर्धन्य 'ष' या तालव्य 'श' की नहीं। किन्तु हिन्दी की ध्वन्यात्मक प्रकृति से अपरिचित पंडित लोग

हिन्दी स के उच्चारण के स्थान पर तालव्य 'श' बोलने में अधिक पांडित्य का अनुभव करते हैं। हिन्दी की ध्वन्यात्मक प्रकृति के अनुसार—

कैलास शुद्ध है, कैलाश नहीं;

कौसल्या शुद्ध है, कौशल्या नहीं;

केसरी शुद्ध है, केशरी नहीं;

विकास शुद्ध है, विकाश नहीं;

इसी प्रकार हिन्दी में रजिस्ट्री, रजिस्ट्रार तथा मैजिस्ट्रेट ठीक है, रजिष्ट्री, रजिष्ट्रार तथा मैजिष्ट्रेट नहीं। शौरसेनी में ऋ का रि हो जाता है। अतः हिन्दी में रि की ही परम्परा अधिक शुद्ध है। बृटेन में. ब में ऋ का प्रयोग शुद्ध नहीं, रि का प्रयोग (ब्रिटेन) शुद्ध है। अनुस्वार के लघु उच्चारण के लिए खड़ी बोली में बिन्दी देना ठीक है; किन्तु उसके दीर्घ उच्चारण के लिए चन्द्रबिन्दु देना उचित है। पर ध्वनि-विज्ञान के ज्ञान से शून्य व्यक्ति अनुस्वार के दीर्घ उच्चारण में भी बिन्दी से ही काम चलाते हैं। कुंठित, मुंशी, चंचल में बिन्दी ठीक है, पर चाँद में चन्द्रबिन्दु ही उचित है। व वर्ण की प्रवृत्ति द्राविड़ भाषा में अधिक है। इसलिए दाक्षिणात्यों की संस्कृत में ब के स्थान पर भी व मिलता है। उनके अनुकरण के आधार पर या भ्रमवश कुछ लोग बाण को वाण, बाह्य को वाह्य बृहत् को वृहत्, बृहस्पति को वृहस्पति लिखते तथा तद्वत् उच्चारण भी करते हैं। यहाँ अशुद्ध उच्चारण से उन शब्दों का अर्थ बिल्कुल बदल जाता है। जैसे, बाह्य का अर्थ है बाहर, किन्तु ब की जगह व उच्चारण कर वाह्य बोलने से उसका अर्थ वहन करने योग्य हो जाता है। इसी प्रकार हिन्दी में प्रचलित अंग्रेजी, फ्रान्सीसी, अरबी, फारसी आदि विदेशी शब्दों का उच्चारण हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुसार होना चाहिए।

हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुसार :—

अंग्रेजी डजेन (Duzzen) का दर्जन

टोमैटो (Tomato) का टमाटर

बाम्ब (Bomb) का बम

बैरेक (Barrack) का बारक

क्विनाइन (Quinine) का कुनैन उच्चारण ठीक है।

इसी प्रकार फ्रान्सीसी गराज का गैरेज, रेस्त्राँ का रेस्टोरेन्ट उच्चारण ठीक है। फारसी शब्द तनख्वाह, तरकश, आइन्दः, दिमाग़, खाक, परहेज़ का उच्चारण हिन्दी में उसकी प्रवृत्ति के अनुसार तनखाह, तरकस, आइन्दा, दिमाग, खाक, परहेज होता है। अरबी शब्द हमेशः तथा आहिस्तः का उच्चारण, हिन्दी की प्रवृत्ति आकार-बहुला होने के कारण, आहिस्ता तथा हमेशा ठीक है। त्रुटिपूर्ण अभ्यास से उत्पन्न उच्चारण-दोष, ध्वनियों के स्थान तथा प्रयत्न के ठीक ज्ञान से दूर किया जा सकता है। भाषा-शिक्षण-प्रणाली में कक्षा में अध्यापक का आदर्श पाठ छात्रों के उच्चारण-संशोधन के लिए बहुत उपयोगी माना गया है। उचित स्वर, बल तथा सुर के साथ कविता का पाठ करने से उसका आधा अर्थ स्पष्ट हो जाता है। कवि-सम्मेलनों में जब कोई कवि शुद्ध उच्चारण, उचित लय, शुद्ध बल तथा शुद्ध सुर के साथ अपनी कविता पढ़ता है तो उसकी कविता श्रोतागण मंत्रमुग्ध होकर सुनते हैं, भले ही उसमें अर्थ-गाम्भीर्य कम हो। किन्तु, इसके विरुद्ध अर्थ-गाम्भीर्य से भरी कविता को यदि कोई कवि गलत उच्चारण से पढ़ता है तो वह हँसी का पात्र बनकर रंगमंच छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया जाता है।

सदोष लिपियों के संशोधन तथा वैज्ञानिक लिपियों के निर्माण में ध्वनि-विज्ञान का महत्व निर्विवाद कोटि का है। सैकड़ों अफ्रीकी और अमरीकी भाषाओं का वैज्ञानिक ध्वन्यात्मक विश्लेषण करके उनकी उत्तम लिपियाँ बनाई गयी हैं। अँग्रेजी भाषा की लिपि और उच्चारण में जो विषमता है उसके सुधार के लिए आजकल ध्वनि-विज्ञान का बहुत उपयोग किया जा रहा है। साधारण ही नहीं असाधारण लिपियों की सृष्टि में ध्वनि-विज्ञान अपूर्व सहायक सिद्ध हुआ है। शार्टहैण्ड, टेलीग्राफ-कोड तथा अंधों के लिए लिपि बनाने में ध्वनि-विज्ञान पर्याप्त सहायता पहुँचाता है। अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि-लिपि का निर्माण भी ध्वनि-तत्व के आधार पर ही हुआ है।

भाषाओं के तुलनात्मक अनुशीलन में ध्वनि-विज्ञान का बहुत महत्व है। तुलना के भीतर विवेचित भाषाओं की गठन, बनावट तथा बाह्य वैशिष्ट्य का अनुशीलन एवं विश्लेषण उनके ध्वनिग्रामों, संध्वनियों, स्वराघातों, बलाघातों, ध्वनि-परिवर्तन की दिशाओं, ध्वनि सम्बन्धी परम्पराओं, प्रकृतिओं, प्रवृत्तियों, ध्वनि-नियमों आदि के समुचित ज्ञान से ही हो सकता है।

ध्वनि-प्रक्रिया से ही ध्वनि-परिवर्तन की विभिन्न दिशाओं--वर्णागम, वर्णलोप, वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विकार आदि का ज्ञान होता है। ध्वनि-परिवर्तन

की उपर्युक्त दिशाओं से परिचित हुए बिना कोई व्यक्ति किसी शब्द की व्युत्पत्ति नहीं निकाल सकता। और व्युत्पत्ति-ज्ञान के अभाव में वह शब्दों की आत्मा तक नहीं पहुँच सकता। जैसे, 'जनवासा' शब्द की उत्पत्ति 'यज्ञवासक' शब्द से हुई है। 'दुल्हा' शब्द की उत्पत्ति 'दुर्लभ' शब्द से हुई है। जब तक कोई व्यक्ति उक्त दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति से परिचित नहीं होता तब तक वह उन शब्दों की आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनितत्त्व का ज्ञान शब्दों की आत्मा रूपी मन्दिर के द्वार खोलने की कुंजी है।

किसी भाषा के ऐतिहासिक अनुशीलन के लिए ध्वनि-विज्ञान बहुत ही उपयोगी है। किसी भाषा के पूर्वकालिक रूप में ध्वनियों का मूल स्वरूप क्या था? वर्तमान युग में वह कितना परिवर्तित हो गया है? इसकी तुलना के लिए ध्वनि-विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान आवश्यक है।

एक भाषा के विभिन्न कालों में पाये जाने वाले परिवर्तन के ज्ञान तथा एक भाषा का उसी परिवार की अन्य भाषाओं से ऐतिहासिक सम्बन्ध स्थापित करने में ध्वनि-विज्ञान बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, हिन्दी की ध्वनियाँ वैदिक ध्वनियों से कितनी परिवर्तित हो गई हैं। वैदिक-भाषा की कितनी ध्वनियाँ, संस्कृत, प्राकृत, पालि तथा अपभ्रंश में लुप्त हो गईं तथा कितनी ध्वनियों का प्रयत्न एवं उच्चारण पृथक् हो गया—इसको समझने के लिए ध्वनि-विज्ञान का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। ब्रिटिश लोगों की अंग्रेजी तथा अमरीकी अंग्रेजों की अंग्रेजी में पर्याप्त अन्तर आ गया है—इसको समझने के लिए उभय भाषाओं की ध्वनि-चर्चा अनिवार्य है।

किसी पुरानी भाषा से नई भाषा का जन्म ध्वनियों के परिवर्तन के आधार पर ही अधिक मात्रा में माना जाता है। प्रत्येक भाषा की ध्वनियों में परिवर्तन एक नियमित दिशा में परोक्ष रूप से होता रहता है। कालान्तर में वह परिवर्तित रूप स्पष्ट हो जाता है। उस परिवर्तित रूप द्वारा ही नई भाषा का जन्म होता है। इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन की प्रक्रिया के आधार पर पुरानी भाषा नई भाषा को जन्म देकर जनता से लुप्त हो जाती है। नई पुनः ध्वनि-परिवर्तन की प्रक्रिया से पुरानी हो जाती है और पुनः एक नई भाषा का विकास करती है। नई भाषा के विकास में शब्दों के रूपतत्त्वों में परिवर्तन भी ध्वनि-परिवर्तन द्वारा होता रहता है। अर्थ-परिवर्तन भी काफी मात्रा में ध्वनि-परिवर्तन द्वारा होता रहता है। इस प्रकार भाषा के क्षेत्र में एक क्रमिक विकास निरन्तर चलता रहता है और इसका मूलाधार

है—ध्वनि परिवर्तन। उक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि पुरानी भाषा के लोप तथा नई भाषा के उद्भव की प्रक्रिया, कारण आदि का ज्ञान ध्वनि-प्रक्रिया के अध्ययन से ही होता है।

भाषाओं में ऐतिहासिक सम्बन्ध जोड़ने में ध्वनि-नियम सहायक सिद्ध होता है और ध्वनि-नियम का ज्ञान ध्वनि-प्रक्रिया के ज्ञान से संभव होता है। इस प्रकार ध्वनि-प्रक्रिया के ज्ञान से भाषाओं के ऐतिहासिक अनुशीलन में सहायता मिलती है। ग्रिम नियम के प्रथम परिवर्तन से प्राचीन जर्मन भाषा का सम्बन्ध आदिम आर्य भाषाओं—संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन से स्थापित होता है। क्योंकि कतिपय भारतीय स्पर्श ध्वनियाँ एक विशिष्ट परिवर्तन की दिशा में जर्मन भाषा में बदल गई हैं। आदिम आर्य भाषाओं के क्, त्, प्, जर्मन भाषाओं में ख्, (ह्) थ्, फ् तथा ग्, द्, ब् हो गये हैं। द्वितीय ध्वनि परिवर्तन काल में उच्च जर्मन से निम्न जर्मन अलग हुई है। इस प्रकार ग्रिम नियम के अनुशीलन से संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अंग्रेजी, गाथिक तथा आधुनिक जर्मन एक परिवार की भाषायें सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार तालव्यीकरण के नियम द्वारा संस्कृत का सम्बन्ध मूल आर्य भाषा से जोड़ा गया है। इसके अनुसार जब मूल भाषा के कंठ्य वर्णों के बाद इ या ए स्वर हों तो वे कंठ्य, संस्कृत में तालव्य में परिवर्तित हो जाते हैं। जैसे, मूल भाषा का क्यूमतोम् (Kmtom) संस्कृत में शतम् तथा मूल भाषा का ग्वीवोस संस्कृत में जीवः हो जाता है। इसी प्रकार भारतीय भाषाओं में संस्कृत तथा प्राकृत के साथ हिन्दी, बँगला आदि के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए ऐसे अनेक ध्वनि नियमों की अवतारणा की जा सकती है। जैसे, संस्कृत का क्, च्, त्, प प्राकृत भाषाओं में प्रायः ग्, ज्, द्, ब् में बदल जाता है।

ध्वनि-तत्त्व-सम्बन्धी विवेचन के भीतर एक महत्वपूर्ण तथ्य है, भाषा की सापेक्ष्य गति अर्थात् वक्ता की भाषा सम्बन्धी गति। एक ही भाषा बोलने वालों में भिन्न-भिन्न वर्गों की भिन्न-भिन्न गति होती है। अशिक्षित, अर्द्ध शिक्षित की गति कम होती है सुशिक्षित की सबसे अधिक। भावात्मक प्रकृति के लोग अधिक तीव्र गति से बोलते हैं। यह पता लगाया गया है कि एक सामान्य अमरीकी स्त्री प्रतिमिनट १७५ शब्द बोल लेती है जब कि सामान्य पुरुष की प्रतिमिनट बोलने की गति १५० शब्द ही है। इस अन्तर का कारण स्त्री जाति की भावात्मक प्रकृति ही है। इस प्रकार भाषा के ऊपर वक्ता के अधिकार की मात्रा एवं गति को व्यक्त करने में ध्वनि तत्त्व सर्वाधिक महत्व रखता है।

थियेटर, सिनेमा, टेलीविज़न-रेडियो आदि के माध्यम से भाषण प्रस्तुत करने वालों के लिए ध्वनि की महत्ता अनिवार्य कोटि की है। क्योंकि उक्त क्षेत्रों में प्रभावशाली एवं आदर्श उच्चारण प्रस्तुत करना पड़ता है। यदि उक्त क्षेत्रों के भाषण-कर्ताओं का ध्वनि सम्बन्धी प्रशिक्षण समुचित कोटि का नहीं है तो वे उक्त क्षेत्रों में अपने भाषणों में असफल सिद्ध होंगे। संगीत प्रशिक्षण में भी ध्वनि-विज्ञान का योग कम महत्वपूर्ण नहीं है। संगीत में ध्वनियों की प्रकृति, स्वरों का आरोह, अवरोह की मात्रा भलीभाँति जानने के लिए ध्वनि-विज्ञान की शिक्षा परमावश्यक है। ध्वनियों के समुचित ज्ञान के अभाव में उदात्त, अनुदात्त तथा स्वारित स्वरों को पहचाने बिना वैदिक मंत्रों का गान शुद्ध रीति से नहीं हो सकता। सा, रे, ग, म, आदि शास्त्रीय स्वरों की पहचान ध्वनि-विज्ञान के अभाव में ठीक तरह की नहीं हो सकती। शास्त्रीय रागों का ज्ञान ध्वनियों के सही उच्चारण के बिना ठीक प्रकार का नहीं हो सकता।

ध्वनितत्त्व भाषा की व्याप्ति को बढ़ा देता है। वह भाषा का सम्बन्ध भौतिक शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान से स्थापित करता है। ध्वनि को विद्युत-लहरों से पकड़ कर वैज्ञानिकों ने आज स्थान एवं समय की दूरी को बहुत कम कर दिया है।

ध्वनि-तत्त्व के महत्व का इससे और अधिक क्या प्रमाण हो सकता है कि उसको विवेचित करने वाला विज्ञान—ध्वनि-विज्ञान आधुनिक भाषालोचन का एक अविच्छेद्य अंग मान लिया गया है। बोली-विज्ञान के क्षेत्र में तो इसका उपयोग तथा महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। आधुनिक भाषा-शास्त्री एक पग और आगे बढ़कर ध्वनिग्रामीय नियमों का उपयोग बोली-विज्ञान में कर रहे हैं। आज बोलियों के अनुशीलन में ध्वनि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों की सहायता अनिवार्य रूप से ली जा रही है। ध्वनि-विज्ञान की सहायता के बिना भाषा-तत्त्व का वर्णनात्मक विभाग अस्तित्वहीन हो जाता है, भाषा-तत्त्व का ऐसा कोई अंग नहीं जिसका अध्ययन ध्वनि-विज्ञान के बिना हो सके। दूसरे शब्दों में ध्वनि-विज्ञान भाषा-तत्त्व का मूलमन्त्र है। इसीलिए भाषा-विज्ञान के किसी भी विभाग का विश्लेषण करने के पूर्व ध्वनि-विज्ञान को भलीभाँति समझ लेना अनिवार्य माना जाता है।

ध्वनिग्राम :—किसी भाषा में एक ही ध्वनि के लिए अनेक भाषा-ध्वनियाँ होती हैं, जैसे—गमला, गिलास, गीदड़, गुलदस्ता, गूलर, गेरू, गैरिक, गन्दा, ग्वाला, गन्ना, गज आदि शब्दों में 'ग' की भाषा-

ध्वनियाँ अलग-अलग हैं। इन उपर्युक्त सभी शब्दों में ग का उच्चारण अलग-अलग ढँग से होता है। इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से 'ग' के ये भिन्न-भिन्न रूप अलग-अलग भाषा-ध्वनियाँ हैं। पर व्यवहार की दृष्टि से इनको एक माना जाता है और इन सबके लिए एक ही लिपि चिह्न 'ग' का प्रयोग होता है। अतः उसे भाषा-ध्वनि कहते हैं। उपर्युक्त शब्दों में ध्वनि-ग्राम 'ग' की अनेक भाषा-ध्वनियाँ अलग-अलग सत्ता रखती हैं, क्योंकि इनके रूप अलग-अलग हैं, किन्तु सभी हैं, एक परिवार की ही। जैसे, एक ही परिवार में सभी व्यक्ति अपना अलग-अलग व्यक्तित्व रखते हुए भी उसी में बँधे रहते हैं, उसी प्रकार ध्वनि-ग्राम में अनेक भाषा-ध्वनियाँ अपनी अलग-अलग सत्ता रखती हुई भी एक ही भाषा-ध्वनि से सम्बद्ध रहती हैं। भाषा-ध्वनि और ध्वनि-ग्राम में व्यक्ति और जाति का सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में ध्वनि-ग्राम से किसी भाषा की वर्ण-व्यवस्था स्थापित होती है। इस विज्ञान की सहायता से भाषा की अपरिमित ध्वनियाँ परिमित हो जाती हैं। ध्वनि-विज्ञान से तात्पर्य किसी भाषा में पाई जाने वाली उन समस्त ध्वनियों का विश्लेषण है जिनकी उत्पत्ति उच्चारण-अवयवों द्वारा होती है और जो श्रुतिग्राह्य होती हैं। ये ध्वनियाँ शब्द में विशिष्ट स्थान, उस शब्द में अन्य ध्वनियों के प्रभाव, उच्चारण आदि के कारण अपरिमित हैं। भाषा में पायी जाने वाली इन समस्त ध्वनियों को उनमें विद्यमान किसी एकता या समानता के आधार पर समूहों के अन्तर्गत वितरित करते हैं। इनमें से प्रत्येक ध्वनि-समूह को ध्वनिग्राम कहते हैं। इस प्रकार ध्वनि-ग्रामिक विज्ञान ध्वनियों का बँटवारा करता है। इस बँटवारे का परिणाम ही ध्वनिग्राम है। ध्वनि ग्रामीय धारणा को सम्यक् रूप से स्पष्ट करने के लिए विभिन्न विद्वानों की ध्वनिग्रामीय परिभाषायें नीचे दी जाती हैं—

(१) ध्वनिग्राम सार्थक ध्वनि-लक्षण की लघुतम इकाई है।

—ब्लूम फील्ड

(२) ध्वनिग्राम उन ध्वनियों का समूह है जो आपस में ध्वन्यात्मक समानता रखती हैं और वह किसी विचाराधीन भाषा या बोली की ध्वनि सम्बन्धी वितरण-पद्धति की विशेषताओं को स्पष्ट करता है।—एच०ए०ग्लीसन

(३) ध्वनिग्राम किसी भाषा में उन ध्वनियों का परिवार है जो अपनी आधारभूत विशेषता के कारण सम्बद्ध हैं और उनमें प्रत्येक की स्थिति शब्द में इस ढंग से होती है कि कोई अन्य ध्वनि दूसरी ध्वनि का स्थान नहीं ले सकती।

—डैनियल जान्स

(४) ध्वनिग्राम किसी भाषा विशेष की ध्वनियों के विश्लेषण करने के उपरान्त प्राप्त की हुई सार्थक इकाई है।

—के० एल० पाइक

इन परिभाषाओं के विश्लेषण से ध्वनिग्राम के विषय में निम्नांकित सारांश निकलते हैं :—

(१) ध्वनिग्राम वितरण की क्षमता रखता है वह ध्वनियों का परिवार है।

(२) ध्वनिग्राम किसी भाषा विशेष का ही होता है।

(३) ध्वनिग्राम सार्थक होता है। किन्तु अलग या निरपेक्ष रूप में निरर्थक होता है। उसमें अर्थ बदलने की शक्ति रहती है, जैसे—आधी-आँधी। किन्तु सम ध्वनियों में अर्थ बदलने की शक्ति नहीं होती, जैसे—कपड़ा—कप्ड़ा। शीघ्रतापूर्वक बोलने से दूसरे में 'प्' हलन्त हो गया है, किन्तु अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

(४) ध्वनिग्राम किसी भाषा या बोलीकी ध्वनियों के बँटवारे के उपरान्त प्राप्त की हुई लघुतम इकाई है।

(५) जिस प्रकार एक माँ का पुत्र दूसरी माँ का पुत्र नहीं हो सकता उसी प्रकार किसी भाषा का एक ध्वनि-ग्राम दूसरी भाषा का ध्वनि-ग्राम नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, हिन्दी का फ (f) अँग्रेजी के फ से भिन्न ध्वनि-ग्राम है। हिन्दी के फ में वह संघर्ष नहीं जो अँग्रेजी के फ़ में है। हिन्दी का **फ** द्व्योष्ठ्य स्पर्शी है किन्तु अँग्रेजी का **फ़** दन्त्योष्ठ्य संघर्षी। इसी प्रकार अँग्रेजी ट, ड (T, D) हिन्दी के ट, ड से भिन्न है, क्योंकि अँग्रेजी में इनका स्थान वर्त्स्य है और हिन्दी में वर्त्स्य के पीछे का स्थान।

ध्वनिग्राम तथा ध्वनि में अन्तर

ध्वनि, भाषा निरपेक्ष होकर भौतिक घटना मात्र को निर्दिष्ट करती है, किन्तु ध्वनिग्राम एक भाषा विशेष की संघटन की दृष्टि से एक सार्थक ध्वनिगत भेद-भों को स्पष्ट करता है। ध्वनियों का वर्गीकरण स्थान, प्रयत्न, प्रकार और अनु-प्रदान के आधार पर लगभग तीन लाख प्रकार से किया जा सकता है, किन्तु सार्थक ध्वनि-भेदों अर्थात् ध्वनिग्रामों की संख्या किसी भी भाषा में किसी भी दशा में साठ से अधिक नहीं हो सकती। वस्तुतः प्रत्येक भाषा-भाषी के हृदय में उस भाषा के ध्वनिग्राम ही बसते हैं। इसीलिए वह दूसरी भाषा के ध्वनि-ग्रामों का उच्चारण अपनी भाषा के ध्वनिग्रामों के सादृश्य के आधार पर करता है। जैसे, अँग्रेजी भाषा-भाषी हिन्दी के तुम का उच्चारण टुम करता है

एक ध्वनिग्राम की दो सदस्य संध्वनियाँ इस प्रकार वितरित होती हैं कि उन में से एक जहाँ किसी एक शब्द में आती है वहाँ दूसरी नहीं आती। जैसे, कनकउआ, शब्द में 'क' ध्वनिग्राम की दो संध्वनियाँ प्रयुक्त हुई हैं। सामान्य दृष्टि से दोनों एक प्रतीत होती हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर दोनों का व्यक्तित्व अलग-अलग है। प्रथम 'क' में कुछ अनुनासिकता छिपी है, द्वितीय 'क' में अनुनासिकता नहीं है और वह प्रथम की तुलना में ह्रस्वतर कोटि का है।

प्रायः प्रत्येक भाषा के ध्वनिग्राम में एक व्यवस्था होती है। उदाहरणार्थ, यदि किसी भाषा विशेष में ध्वनिग्राम क, ग, च, ज, ट, ड, त तथा प, ब पाये जाते हैं तो सम्भावना इस बात की है कि 'त' के साथ 'द' घोष भी अवश्य होगा। क्योंकि प्रथम तीन युग्मों तथा अन्तिम युग्म में अघोष के साथ घोष ध्वनि वर्तमान है। किसी भाषा के ध्वनिग्राम-सञ्चयन के समय इस प्रकार की कमी दिखाई पड़ने पर फिर से सूचक (Informant) की सहायता से सामग्री की परीक्षा करनी चाहिए।

किसी भाषा विशेष का ध्वनिक्रम उस भाषा की सन्देहास्पद ध्वनियों की व्याख्या में सहायक होता है। उदाहरणार्थ, किसी भाषा विशेष में ध्वनिक्रम यदि इस प्रकार है कि स्वर के पाश्चात् व्यञ्जन, फिर व्यञ्जन, तदनन्तर स्वर आते हैं। यदि इस भाषा के किसी शब्द में ४ वर्ण हैं:—स्वर-व्यञ्जन......स्वर और तीसरा वर्ण संदिग्ध है तो उक्त भाषा के ध्वनिक्रम के आधार पर हम निश्चित कर सकते हैं कि तीसरी ध्वनि व्यञ्जन है।

ध्वनिग्राम की प्रमुख विशेषतायें,—

ध्वनिग्राम जिस ध्वनि समूह का प्रतिनिधित्व करता है उस ध्वनि समूह की संध्वनियों में स्थान तथा उच्चारण की दृष्टि से परस्पर साम्य होता है। जैसे हिन्दी में कपड़ा, कमल, किताब-कीमत, कहना शब्दों में 'क' ध्वनिग्राम है, किन्तु प्रत्येक शब्द में 'क' ध्वनिग्राम की संध्वनियाँ अलग-अलग व्यक्तित्व रखते हुए भी उच्चारण-स्थान तथा प्रयत्न की दृष्टि से साम्य रखती हैं। किसी भी भाषा में किसी भी ध्वनिग्राम के विभिन्न रूप संध्वनि कहे जाते हैं और इन संध्वनियों के सामूहिक रूप का नाम ध्वनिग्राम है।

ध्वनिग्राम जिन सदृश ध्वनियों के समूह को ज्ञापित करता है वे ध्वनियाँ या तो एक दूसरे के वितरण क्षेत्र की पूरक होती हैं या उनका भेद अनियंत्रित कारणों से होता है। किसी शब्द के भीतर एक ध्वनिग्राम की दो या

अधिक परस्पर अविरोधी संध्वनियाँ जिनकी स्थिति उस शब्द के भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार की हों, अर्थात् वे कभी शब्द के आरम्भ में, कभी मध्य में तो कभी अन्त में घटित हों, तो वे एक दूसरे की परिपूरक ध्वनि मानी जाती हैं और इस प्रकार की स्थिति को परिपूरक वितरणकी स्थिति (Complementary distribution) कहते हैं। जैसे पल, चपल, ताप में 'प' संध्वनियाँ एक दूसरे की परिपूरक हैं। इन शब्दों में 'प' ध्वनिग्राम की विभिन्न संध्वनियों की स्थिति शब्दारम्भ, शब्द के मध्य तथा शब्द के अन्त में है। शब्द के आरम्भ तथा मध्य में घटित होने वाला 'प' स्फोटित है किन्तु शब्द के अन्त में घटित होनेवाला 'प' अस्फोटित कोटि का है। इन संध्वनियों द्वारा 'प' ध्वनिग्राम का वितरण होता है और इन सबको मिलाकर 'प' ध्वनिग्राम पूर्ण होता है। इसलिए इन संध्वनियों को परिपूरक ध्वनि मानते हैं तथा इस प्रकार की स्थिति को परिपूरक वितरण की स्थिति कहते हैं।

कभी कभी दो संध्वनियाँ एक दूसरे के स्थान पर बिना अर्थ-परिवर्तन के आती रहती हैं। जैसे; हिन्दी में क़-क, ग़-ग, ख़-ख, । इस स्थिति को स्वच्छन्द परिवर्तन (Free Variation) कहते हैं। जैसे—ताक़-ताक, क़ागज-कागज, ख़ैर-खैर, बाग़-बाग में संध्वनियों के परिवर्तित होने पर भी अर्थ में परिवर्तन नहीं है। इसलिए इस प्रकार के परिवर्तन को स्वच्छन्द परिवर्तन (Free Variation) कहते हैं।

विरोधी-वितरण (Contrasting distribution) उस स्थिति में आता है जब दो शब्दों में दो विरोधी ध्वनिग्राम ध्वन्यात्मक वातावरण की दृष्टि से एक होते हुए भी उन शब्दों में अर्थ-परिवर्तन तथा ध्वनि-परिवर्तन उपस्थित कर दें तो वे विरोधी वितरक माने जाते हैं। जैसे काम, कान। इस शब्द युग्म में 'क' ध्वनिग्राम का वातावरण एक होते हुए भी म और न ध्वनिग्राम विरोधी होने के कारण उन शब्दों में अर्थ परिवर्तन कर देते हैं। विरोधी ध्वनिग्रामों के निकटवर्ती अविरोधी आक्षरिक ध्वनि को वातावरण (Environment) कहते हैं। जैसे, काम और कान में आ ध्वनि वातावरण हैं।

जब किसी शब्द-युग्म में दो ध्वनियों के बारे में ध्वन्यात्मक संदेह होता है, किन्तु उससे अर्थ नहीं बदलता तो उन दो ध्वनियों को सन्देहास्पद युग्म (Suspicious Pair) कहते हैं। जैसे कनिष्ठ, कनिष्ट, बक्रोक्ति-वक्रोक्ति, बाण-वाण, Civilization-Civilisation, ।

उपर्युक्त शब्द-युग्मों में सन्देहास्पद ध्वनि-युग्म अर्थ-भेद उत्पन्न नहीं करते। इसलिए ये ध्वनि-युग्म सन्देहास्पद ध्वनियुग्म के नाम से अभिहित होते हैं।

ध्वनिग्राम आस पास की ध्वनियों से प्रभावित होते हैं, जैसे, काम, और काज। इसमें काम में 'क' का उच्चारण 'म' के प्रभाव से कुछ अनुनासिक कोटि का होता है, किन्तु 'काज' शब्द में 'क' के पास कोई अनुनासिक ध्वनि नहीं है इसलिए इस 'क' का उच्चारण अनुनासिक-मुक्त होता है।

प्रत्येक संध्वनि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है, जैसे; अंग्रेजी eighth, Tree, Bottle—शब्दों में परिस्थिति-भिन्नता के कारण ट (T) के भिन्न-भिन्न रूप हो गए हैं। इसी प्रकार क्लेश, क्वारा, पक्का, क्वचित् तथा क्या शब्दों में परिस्थिति या वातावरण की भिन्नता के कारण 'क' ध्वनिग्राम की संध्वनियाँ अलग-अलग प्रकार की हैं।

ध्वनि-गुण

ध्वनि के तीन गुण माने जाते हैं। मात्रा-सुर और आघात। ध्वनि के बोलने में जो समय लगता है उसके माप को भाषा के अध्ययन में मात्रा कहते हैं। भारतीय भाषा-शास्त्री ध्वनि-विज्ञान के महत्व से परिचित थे। इसीलिए उन लोगो ने ध्वनियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन किया था। केवल मात्रा के अध्ययन से सम्बन्ध रखने वाली 'काल-निर्णय-शिक्षा' नामक स्वतंत्र पुस्तक यहाँ मिलती है। कुछ विद्वानों का मत है कि भारत के भाषा-शास्त्री व्यंजन की मात्रा से परिचित नहीं थे। किन्तु यह तथ्य भ्रमपूर्ण है। क्योंकि अथर्ववेद प्रातिशाख्यु, वाजसनेयी प्रातिशाख्य आदि कई ग्रंथों में व्यंजन की मात्रा का उल्लेख मिलता है। वाजसनेयी प्रातिशाख्य में व्यंजनमर्द्ध मात्रा का उल्लेख मिलता है। व्यंजन की मात्रा के आधार पर उसकी कई श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं। जैसे स, श, ष, आदि उष्म व्यंजनों के उच्चारण में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है किन्तु स्पर्श व्यंजनों के उच्चारण में अपेक्षा कृत कम समय लगता है। व्यंजन का द्वित्व वस्तुतः दो संयुक्त व्यंजन न हो कर मात्रा की दृष्टि से व्यंजन का दीर्घ रूप ही है। वस्तुतः स्वर, अर्द्धस्वर, व्यंजन—सभी की मात्रा होती है। परम्परागत दृष्टि से सस्कृत में मात्रा के ३ भेद मिलते हैं।[1] ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत। परम्परागत रूप में एक मातृक

त्रयोध्वनिगुणाः मात्रासुराघातश्च। भाषालोचन। पं० सीताराम चतुर्वेदी।

१. भारतीय प्रातिशाख्य तथा शिक्षा ग्रन्थ ?

ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ और त्रिमात्रिक प्लुत कहलाता है। कुछ लोगों के अनुसार ह्रस्व के उच्चारण में एक बार चुटकी बजाने का समय लगता है। तथा दीर्घ में दो बार चुटकी बजाने का समय लगता है। वस्तुतः यह तथ्य भ्रमपूर्ण है। वैज्ञानिक दृष्टि से यंत्रों पर नाप कर यह बात देखी जा चुकी है कि दीर्घ में ह्रस्व का ठीक दूना समय नहीं लगता। कभी दूना से कम समय लगता है और कभी दूना से भी बहुत अधिक लग जाता है।[1] जैसे, सोंनार में सों के उच्चारण में ह्रस्व का ठीक दूना समय नहीं लगता। अवधी में ओहिकर बेटवा में ओ के उच्चारण में दूना से कम समय लगता है। जैसे राऽऽऽम होऽऽऽऽपुकारने में रा में प्लुत की मात्रा लगी है किन्तु हो में तो प्लुत से भी अधिक मात्रा लगी है। ओऽम् में ओ के उच्चारण में प्लुत मात्रा है। ऋग्वेद तथा संध्या के मंत्रों में प्लुत का प्रयोग मिलता है।

कभी कभी कविता में भी प्लुत का प्रयोग दिखाई पड़ता है। जैसे, भारत के राष्ट्रगान जय जय जय जय हेऽऽऽमें ए के उच्चारण में प्लुत मात्रा का प्रयोग दिखाई पड़ता हैं। संगीत में तो मात्राओं का परिमाण संगीतज्ञ बहुत बढ़ा देता है। एक या दो मात्रा को, ६-७,१०,१२,२० तक अपने आलाप में परिणत कर देता है। किसी ध्वनि के उच्चारण में कम समय लगता है, किसी में अधिक, किसी में बहुत कम, और किसी में बहुत अधिक। इसी आधार पर सामान्य दृष्टि से मात्रा के ५भेद किये जाते हैं—ह्रस्वार्द्ध, ह्रस्व, दीर्घ, ईषत् दीर्घ तथा प्लुत। यों सूक्ष्मता से विचार करने पर इन भेदों की संख्या बहुत अधिक हो सकती है। मशीनों के आधार पर तो इसके पचासों भेद किये जा सकते हैं।

---

१. ह्रस्वार्द्ध :—स्कूल तथा स्टेशन के उच्चारण के आरंभ में जो इ है वह ह्रस्वार्द्ध है।

२. ह्रस्व :—जैसे, अ, इ, उ के उच्चारण में ह्रस्व मात्रा प्रयुक्त होती है

३. दीर्घ :—जैसे आ, ई, ऊ के उच्चारण में सामान्यतः दीर्घ मात्रा प्रयुक्त होती है। विशेष परिस्थिति में इनका उच्चारण

४. ईषत् दीर्घ, दीर्घार्द्ध या दीर्घतर भी हो सकता है। संयुक्त स्वरों के उच्चारण में दीर्घ से भी अधिक समय लगता है।

५. प्लुत :—ओऽम् के उच्चारण में ओ में प्रयुक्त मात्रा प्लुत है।

---

[1] भोजपुरी में मोहना हउवेरे में रे के ए के उच्चारण में कभी कभी १० मात्रा का समय सुनाई पड़ता है।

दीर्घता मात्रा या बोलने के समय की दृष्टि से एक सापेक्ष्य वस्तु है। अतः किसी भाषा में लिखित दीर्घ रूप को देखकर उसे बोलने की दृष्टि से दीर्घ मान लेना भ्रमपूर्ण तथ्य है अंग्रेजी के Coach कोंच Coat कोंट शब्दों में क पर ह्रस्व ओ की मात्रा है यद्यपि लिखित रूप में सामान्य दृष्टि से दीर्घ मात्रा दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार Hotel होटेल में ह्स्वार्द्ध ए की मात्रा है यद्यपि लिखित रूप में ए की मात्रा दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार तुलसी की कवितावली की निम्नाङ्कित पंक्ति में कई शब्दों में कई ध्वनि का लिखित रूप उच्चारित रूप से भिन्न है।

'अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद के भूपति लै निकसे में' द्वारे तथा सकारे में रे का उच्चारित रूप ह्रस्व ए का है। इसी प्रकार 'अवलोकि हों सोच विमोचन को' में हो में ओ का स्वरूप ह्रस्व ओ का है।

बरु मारिए मोहिं बिना, पग धोए हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू।

नामक पंक्ति में हौं का स्वरूप ह्रस्व औ का है। इसी प्रकार अवधी में भेरउ, जातउ, आवतउ में उ का उच्चारण ह्स्वार्द्ध उ का है। वस्तुतः ध्वनियों के उच्चारण का काल-निर्णय स्वतंत्र या निरपेक्ष दृष्टि से भाषा-अनुशीलन के क्षेत्र में बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि परिस्थिति की भिन्नता के अनुसार उनका रूप बदलता रहता है। ध्वनियों की दीर्घता उनकी प्रकृति तथा उनके विशिष्ट स्थानों तथा परिस्थिति से निश्चित होती है। सामान्यतया स्वरों के उच्चारण में सबसे अधिक समय लगता हैं, अर्द्ध स्वरों में उनसे कम और व्यंजनों में अर्द्ध स्वरों से भी कम समय लगता है। व्यंजनों में सबसे अधिक समय अनुनासिक व्यंजनों में लगभग (·१४६ सेकेण्ड), उनसे कम पार्श्विक तथा लुंठित में (·१२२ सेकेण्ड) उनसे कम ऊष्मों में (·११८ से०) उनसे कम संघर्षियों में (·११२ से०) उनसे कम घोष स्पर्शों में लगभग (·०८८ से०) लगता है। सभी प्रकार की ध्वनियों में अघोष ध्वनियों के उच्चारण में अधिक समय लगता है और घोष में कम। यदि अघोष स्पर्श ध्वनियों के उच्चारण में ·१२ से० लगता है तो घोष स्पर्शों के उच्चारण में ·०८८ से० लगता है। सामान्य रूप से व्यंजनों की मात्रा ह्रस्वार्द्ध मानी जाती है।

अब परिस्थिति-भिन्नता की दृष्टि से ध्वनियों की मात्रा पर विचार करना चाहिए और देखना चाहिए कि आस-पास की ध्वनियों के प्रभाव से किस प्रकार मात्रा में परिवर्तन हो जाता है।

(१) बलाघात युक्त स्वर बलाघातहीन स्वर से अधिक मात्रा वाले हो जाते हैं। जैसे, कर्म में क के ऊपर बलाघात है। इसलिए क के भीतर निहित अ, म के भीतर निहित अ से अधिक मात्रा वाला हो गया है।

(२) दीर्घ स्वर के बाद यदि अघोष व्यंजन हो तो वह स्वर, मात्रा में कुछ छोटा होगा और यदि उसके बाद घोष व्यंजन हो तो बड़ा होगा। **आस** का **आ आम** के **आ** से छोटा है।

(३) ह्रस्व स्वर के बाद यदि अघोष व्यंजन हो तो वह स्वर मात्रा में कुछ छोटा होगा और यदि उसके बाद घोष व्यंजन हो तो वह पहले की तुलना में बड़ा होगा। अथ का **अ अघ** के **अ** से छोटा है।

(४) शब्दान्त का स्वर उसी शब्द के अन्य निकटवर्ती स्वर की तुलना में कम मात्रा का होता है। काका में पहला **आ** दूसरे आ से बड़ा है।

(५) एक ही स्वर यदि आरम्भ में छोटे तथा लम्बे शब्द में आवे तो प्रायः लम्बे शब्द में उसकी मात्रा छोटी हो जाती है। जैसे आम, आखर में, आखर का आ आम के आ की तुलना में छोटी मात्रा का है।

(६) इसी प्रकार अनुनासिक, पार्श्विक और लुंठित ध्वनियाँ घोष व्यंजन के पूर्व बड़ी और अघोष के पूर्व छोटी होती हैं। उदाहरणार्थ, रस, रंग, लप, लद, शब्दों को लीजिए। रग का र रस के र से मात्रा में बड़ा है इसी प्रकार लद का ल लप के ल से मात्रा में बड़ा है।

बोलने वालों के विशिष्ट ढंग से भी ध्वनियों की दीर्घता घटती बढ़ती रहती है। शीघ्रता से बोलने वाले वक्ताओं में दीर्घता की जितनी कमी पड़ती है मन्द गति से बोलने वालों में दीर्घता उतनी ही बढ़ जाती है। जैसे, समाज में कुछ द्रुत गति से बोलने वाले कुछ मन्द गति से बोलने वाले हैं वैसे ही संसार में कुछ तेज गति से तथा कुछ मन्द गति से बोलने वाली जातियाँ भी हैं। अमरीकी लोग अंग्रेजी मन्द गति से बोलते हैं उनकी तुलना में इंगलैंड के अंग्रेज तीव्र गति से बोलते हैं।

तात्पर्य यह कि ध्वनियों की ह्रस्व-दीर्घता व्यक्ति तथा जाति के अनुसार बदलती रहती है।

जिस प्रकार ध्वनियों की ह्रस्व दीर्घता व्यक्ति तथा जाति के अनुसार बदली रहती है तद्वत् समय के अनुसार भी बदलती रहती है। जैसे दूर के आदमी को पुकारते समय अन्तिम स्वर की दीर्घता बहुत बढ़ जाती है।

उदाहरणार्थ, **राम हो ३** भावावेश के समय साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति के उच्चारण में क्षिप्रता आने के कारण ध्वनियों की दीर्घता अपेक्षाकृत कम हो जाती है। क्रोध के समय प्रत्येक व्यक्ति अपेक्षाकृत द्रुततर गति से बोलता है। अतः उसके मुख से निकली ध्वनियों की दीर्घता कम हो जाती है। हरएक भाषा में दीर्घता का प्रयोग अलग अलग ढंग का होता है। संसार में कुछ ऐसी भाषाएँ मिलती हैं जिनमें दीर्घता के उपयोग से अर्थ-भेद पाया जाता है, कुछ ऐसी हैं जिनमें दीर्घता से ध्वनियों की प्रकृति तथा उनके संयोग की सूचना मिलती है।

हिन्दी-फ्रांसीसी, जापानी, सोमाली, आदि भाषाओं में दीर्घता से अर्थ-भेद प्रगट होता है। बंगाली, स्पेनिश, रूसी, पोलिश आदि में दीर्घता का प्रयोग अर्थ-भेद के लिए नहीं किया जाता। हिन्दी में की के दीर्घतर उच्चारण से क्रिया का बोध होता है। अर्द्ध दीर्घ उच्चारण से सम्बन्ध कारक के परसर्ग का बोध होता है। जी के दीर्घ उच्चारण से स्वीकृति (yes) की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु जीः के दीर्घतर उच्चारण से घृणा, रोष, क्षोभ आदि भावों की अभिव्यक्ति की जाती है।

❀ मात्रा-काल का अंकन ❀

देवनागरी लिपि में छंद में ह्रस्व दीर्घ मात्रा के लिये क्रमशः (।) और (s) चिन्हों का प्रयोग होता है। अन्तर्राष्ट्रीय लिपि में ह्रस्व के लिये एक विन्दु (˙) और दीर्घ के लिये दो विन्दु (:) प्रयोग में आते हैं। रोमन लिपि में कुछ विद्वान वर्णों के ऊपर बेड़ी पाई (–) लगाकर दीर्घत्व को व्यक्त करते हैं। भाषा तत्त्व की पुस्तकों में समान्यतया दीर्घ के लिए दो (:) अर्द्ध दीर्घ के लिए एक विन्दु (˙) अतिह्रस्व के लिए अर्द्धचन्द्राकार (˘) तथा प्लुत के लिए तीन बिन्दी (⋮) का प्रयोग करते है। साधारणतः ह्रस्व ध्वनि के लिए अक्षर के नीचे शून्य का चिन्ह लगाते हैं।

सुर (Intonation)

सुर को कुछ विद्वान गीतात्मक स्वराघात कहते हैं। यह स्वराघात हमारे वैदिक मन्त्रों में बहुत स्पष्ट रूप से प्रयुक्त होता है। संगीत में इसका प्रयोग सबसे अधिक मात्रा में होता है। इससे स्पष्ट है कि संगीत में सुर का बहुत यह महत्त्व है। इसके अनन्तर भाषा के लिए भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि कुछ भाषाओं हैं तथा बोलियों में उनकी विशेषता के रूप में इसका प्रयोग

होता है। जैसे—चीनी तथा भोजपुरी में। किसी वाक्य में ध्वनियों में उतार चढ़ाव को वाक्य-सुर कहते हैं। किसी भी वाक्य में सभी ध्वनियां एक सुर में नहीं बोली जाती, संगीत के सरगम की तरह उनमें सुर ऊँचा नीचा होता रहता है। 'वह जा रहा है' वाक्य की सभी ध्वनियों को एक सुर में बोलने से उसका अर्थ सूचनात्मक किन्तु वह के बाद की ध्वनियों का सुर यदि बढ़ाते जायँ और अन्त में है को बहुत ऊँचे सुर से बोलें तो वह वाक्य प्रश्न सूचक हो जायगा और उसका अर्थ होगा 'क्या वह जा रहा है। सुर का सम्बन्ध स्वर-कंपन की छोटाई तथा बड़ाई से है। संसार की सभी बोलियों में मन के भाव के अनुसार स्वर का उतार चढ़ाव होता रहता है। उच्चारण-काल में फेफड़ों से जब श्वास निकलती है तब जितने बल से उसमें झटका लगता है उतना ही अन्तर स्वरों में हो जाता है। इसीलिए सुर में स्वरतन्त्रियों की समीपता और कड़ापन के अतिरिक्त फेफड़े से आने वाली हवा का भी महत्व है।

स्वर तंत्रियों के तनने और ढीला होने से सुर उत्पन्न होता है। इसका सम्बन्ध स्वर यन्त्र को छोड़ कर और किसी भी उच्चारणावयव से नहीं है। इसमें आवाज का सुर ऊँचा, नीचा तथा मध्यम किया जाता है।

इसीलिये साधारणतः सुर के तीन भेद किये जाते हैं—

१ उच्च
२ नीच और
३ सम

स्वरतंत्रियों के तनाव को अधिकता देना उच्च—उसे कम करना **नीच** और उसे सम अवस्था में रखना **सम सुर** का लक्षण है। इसी को कुछ विद्वान सबल, निर्बल और समबल कहते हैं। वैदिक ग्रंथों के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भी सुर के ही भेद हैं। उदात्त ऊँचासुर, अनुदात्त नीचा सुर तथा स्वरित बीच का सुर है। ऋग्वेद की मैत्रायणी संहिता में उदात्त के ऊपर खड़ी लकीर, अनुदात्त के नीचे वेड़ी लकीर तथा स्वरित पर कोई भी लकीर नहीं रहती। सामवेद में उदात्त, स्वरित तथा अनुदात्त में क्रम से १,२,३ के चिह्न लगाए जाते हैं।

सुर का प्रयोग संगीत-शास्त्र के लिए बड़ा उपयोगी होता है। वैदिक संस्कृत तथा ग्रीक भाषा में सुर के अस्तित्व के यथेष्ट प्रमाण हैं। वैदिक संस्कृत में उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित ये सुर के तीन बहु प्रचलित भेद हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की वैदिकाभरण व्याख्या में उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित

के अतिरिक्त एक और भेद 'प्रचय' मिलता है। नारद शिक्षा में सुर के ५ भेद मिलते हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय तथा निघात। पतंजलि के महाभाष्य में सुर के सात भेद पाये जाते हैं :— उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरित के आरम्भ में वर्तमान उदात्त और एक श्रुति। ऋकप्रातिशाख्य में स्वरित के अलग से ६ उपभेद माने गये हैं। संहितज, जात्य, अभिनिहित, क्षेप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यंजन वैवृत्य, तैरोविराम तथा प्रातिहित। प्राचीन काल में संस्कृत भाषा में सुर के गलत प्रयोग से अर्थ-भेद हो जाता था। इसका प्रमाण पौराणिक ग्रन्थों में मिलता है। इन्द्रशत्रु शब्द में अस्थान सुर के प्रयोग से दैत्यों का नाश हो गया—यद्यपि देवों को नाश करने चले थे। यह कथा पुराण में प्रसिद्ध है। ग्रीक भाषा में सुर के ३ भेद माने गये हैं। ग्रेव, सरकम्फ्लेक्स तथा अक्यूट। चीनी भाषा में प्रमुख रूप से चार प्रकार के सुर मिलते हैं—सम, आरोही, अवरोही तथा प्रवेशमुखी। कुछ चीनी बोलियों में उच्च तथा निम्न सुर-भेद के आधार पर सुर के ८ भेद किये गये हैं। वर्तमान काल में आर्य भाषा में सुर का प्रयोग प्रायः भावातिरेक, विधि-निषेध, रीझ-खीझ, घिन, प्रश्न, स्वीकृति, संतोष, विस्मय आदि को व्यक्त करने के लिए होता है। भोजपुरी भाषा में नहाए चलवऽ वाक्य में चलवऽ में सुर के प्रयोग से प्रश्न का भाव व्यक्त होता है गीतात्मक सुराघात का प्रभाव अपश्रुति (Vowel gradation) में भी देखा जाता है। प्रायः गीतात्मक सुराघात के कारण संवृत स्वर विवृत में परिणत हो जाता है। आर्य-भाषाओं में वैदिक संस्कृत, होमरिक ग्रीक, महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी, जैन अपभ्रंश सुराघात प्रधान भाषाएँ हैं। अफ्रीका की भाषाओं में सुर का प्रयोग अधिक मात्रा में होता है और वहाँ सुर-भेद से अर्थ-भेद हो जाता है।

सुर के भेद

सुर के वर्गीकरण के प्रमुख ३ आधार हैं। (१) प्रयोग के आधार पर (२) अर्थ के आधार पर (३) स्थिति के आधार पर।

प्रयोग के आधार पर सुर के दो भेद हैं :—संबद्ध भाषण में प्रयुक्त सुर तथा एक स्वतंत्र शब्द में प्रयुक्त सुर। संबद्ध भाषण में प्रयुक्त सुर को वाक्य या सुर-लहर कहते हैं। हिन्दी की सभी घोष ध्वनियों में प्रयुक्त सुर को केवल सुर कहते हैं। जैसे, हिन्दी भाषा के गमला शब्द में सभी ध्वनियाँ घोष हैं इसलिए उनके उच्चारण में सुर का प्रयोग होता है। इस प्रकार के सुर को शब्द सुर कहते हैं।

अर्थ के आधार पर :—अर्थ के आधार पर सुर के २ भेद हैं—सार्थक तथा निरर्थक। अर्थ-भेद के सुर को सार्थक सुर या तान कहते हैं। जहाँ सुर अर्थभेदक न हो उसे निरर्थक सुर कहते हैं। हिन्दी के गमला शब्द में निरर्थक सुर का प्रयोग है। चीनी भाषा में सार्थक सुर का प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ, चीनी भाषा में ब पर धीर सुर होने से महिला अर्थ होता है। उच्च सुर होने से उमेठना और तीक्ष्ण सुर होने से राजा का कृपापात्र होता है स्थिति के आधार पर सुर के दो भेद होते हैं :—चल तथा अचल। आरोही और अवरोही सुर चल होते हैं तथा उच्च एवं निम्न सुर अचल कोटि के होते हैं। संगीतज्ञ जब आ SS का स्वर अलापता हुआ सरगम का अभ्यास करता है तब सुरों में उतार चढ़ाव के कारण वहाँ चल स्वर का प्रयोग होता है। जब एक ध्वनि में एक ही स्थिर सुर सुनाई पड़ता है तब वहाँ अचल सुर का प्रयोग होता है।

सुर या सुर-लहर के कार्य—

सुर या सुर लहर द्वारा वक्ता की भावुकता, स्वीकृति, आश्चर्य, संभावना, प्रश्न, आशा, रीझ, खीझ, घृणा, सन्तोष, सम्बोधन मिलन; वियोग, क्रोध, विवशता, सहानुभूति आदि मानसिक स्थितियों की सूचना मिलती है। उदाहरणार्थ कृष्ण शब्द को यदि हम विभिन्न सुर-लहरों में कहें तो इसके विभिन्न अर्थ होंगे। सामान्य रूप से भगवान का नाम लेना, (२) कृष्ण नामक व्यक्ति को बुलाना। कृष्ण नामक व्यक्ति से प्रश्न करना, हरे कृष्ण, आदि। हिन्दी में जी का प्रयोग विभिन्न सुर-लहरों में स्वीकृति, घृणा, धमकी, प्रश्न, आश्चर्य, आदि के लिए हो सकता है। मिलन तथा बिदा-काल के नमस्कार में सुर-लहर का अन्तर स्पष्ट सुनाई पड़ता है। अर्थात् अतान भाषाओं में भी सुर-लहर द्वारा शब्दों तथा वाक्यों के अर्थों में नाना प्रकार की विशेषतायें आ जाती हैं। इस प्रकार अर्थगत विशेषता उत्पन्न करने में सुर या सुर-लहर का कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

बलाघात

बलाघात किसी शब्द या वाक्य में किसी अक्षर, स्वर, शब्द अथवा वाक्यांश पर अपेक्षाकृत अधिक प्राणशक्ति व्यय करने से अर्थात् अपेक्षाकृत अधिक बल के साथ उच्चारण करने से उत्पन्न होता है। इसलिए शब्द या वाक्य के जिस अंश पर बलात्मक स्वराघात प्रयुक्त होता है उसकी आवाज कुछ जोर से सुनाई पड़ती है। फुसफुसों से आती हुई श्वास वायु

शब्द के जिस अंश पर अधिक बल रखती है वहीं आघात पड़ता है। बलात्मक स्वराघात बल के साथ उच्चारण के कारण होता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए किसी शब्द या वाक्य में भाषा की कोई भी उच्चारित ध्वनि पूर्णतः बलाघात-शून्य नहीं होती। ध्वनियों के आघात में अन्तर केवल अधिक या कम का होता है। व्यावहारिक रूप से अक्षर तथा स्वर का बलाघात अधिक दिखाई पड़ता है। बलाघात के लिए अंग्रेजी में एक्सेण्ट (aceent) शब्द चलता है, हिन्दी में पहले इसके लिए स्वराघात और बलाघात दोनों शब्दों का प्रयोग होता है। बलाघात अङ्कित करने का सङ्केत शब्द कोशों में इस प्रकार के (′) चिन्ह द्वारा दिखाया जाता है। यदि किसी भाषा में दो प्रकार के बलाघात प्रयुक्त होते हैं तो मध्यम बलाघात में अक्षर या स्वर के नीचे (͵) चिन्ह लगाते हैं और प्रमुख बलाघात के ऊपर चिन्ह (′) लगाते हैं। उदाहरणार्थ, Examina′tion में पहले ͵a पर मध्यम बलाघात है और दूसरे ′a′ पर प्रमुख बलाघात है। जिन ध्वनियों को अपेक्षाकृत कम बल लगा कर बोलते हैं उन्हें स्वल्प बलाघात युक्त या बलाघात हीन कहते हैं।

बलाघात भाषा के अन्य तत्वों की तरह एक मानसिक क्रिया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शब्द या वाक्य का जो अंश हमें अधिक महत्वपूर्ण या प्रभावशाली बनाना अभिप्रेत होता है उसके प्रकटीकरण के लिए हम उसे उस शब्द या वाक्य के आस-पास की अन्य ध्वनियों से अधिक जोर, बल या आघात से उच्चारित करते हैं। मैं दिल्ली जाऊँगा' इस वाक्य में यदि बलाघात मैं' पर होगा तो इसका अर्थ होगा कि और कोई दिल्ली नहीं जायगा केवल मैं जाऊँगा। यदि बलाघात 'मैं' पर न होकर 'दिल्ली' पर हो तो इसका अर्थ होगा-अन्यत्र कहीं नहीं जाऊँगा, केवल दिल्ली जाऊँगा। यदि बलाघात 'जाऊँगा' पर हो तो इसका अर्थ होगा इस समय मेरा काम दिल्ली जाने का है और कुछ नहीं। बलाघात के प्रकटीकरण के लिए निम्नाङ्कित शारीरिक प्रयत्नों का सहारा लेना पड़ता है—

१. बलाघात युक्त अंश का उच्चारण अधिक शक्ति से होता है जिसके कारण वह अपेक्षाकृत अधिक श्रवणीय हो जाता है।
२. बलाघात युक्त शब्दांश अथवा वाक्यांश के उच्चारण में ध्वनि उत्पन्न करने के लिए फेफड़ों से अपेक्षाकृत अधिक प्रश्वास वायु बाहर फेंकी जाती है और वह अधिक तीव्रता से बाहर आती है।
३. बलाघात युक्त ध्वनियों के उच्चारण में उच्चारण कर्ता की मांसपेशियाँ अधिक दृढ़ हो जाती हैं।

४. बलाघात ध्वनि के उच्चारण-काल में आँख, पलक, भौं, सिर, हाथ, उँगली, कन्धा, आदि में कुछ विशिष्ट कोटि का परिचालन दिखाई पड़ता है। जैसे, बलाघात युक्त ध्वनि के उच्चारण के समय उच्चारण की तीव्रता से आँखें चढ़ जाती हैं, पलकें तन जाती हैं, हाथों और उँगलियों में विशिष्ट गति आ जाती है। इसी प्रकार कन्धे और पैर में भी कुछ विशिष्ट नृत्य की झलक रहती है। इसीलिए भारतीय ध्वनिविदों ने सबल, समबल, निर्बल ध्वनियों के उच्चारण के समय हाथ के विशिष्ट इङ्गितों का वर्णन किया है। संसार की सभी भाषाओं में उसके बोलने वाले अपनी बात में शक्ति लाने के लिए अधिक मुखर उच्चारण के साथ किसी न किसी आङ्गिक संकेत का भी प्रयोग करते है। यह प्रवृत्ति भावुक लोगों में अधिक होती है।

बलाघात के वर्गीकरण के मुख्य पाँच आधार दिखाई पड़ते हैं—

(१) भाषा के विभिन्न स्तरों के आधार पर

(२) आघात के आधार पर

(३) अर्थ के आधार पर

(४) निश्चय अनिश्चय के आधार पर

(५) श्रवणीयता के आधार पर

भाषा के विभिन्न स्तरों के आधार पर बलाघात के चार भेद हैं—

(१) ध्वनि बलाघात

(२) अक्षर बलाघात

(३) शब्द बलाघात

(४) वाक्य बलाघात

१. **ध्वनि बलाघात**—यह बलाघात किसी स्वर या व्यन्जन के उच्चारण में रहता है। जैसे 'सब' में 'स' के 'अ' पर बलाघात हैं कमल में 'क' के 'अ' पर बलाघात है।

अक्षर बलाघात—वह बलाघात जो किसी शब्द में उसके किसी अक्षर पर हो। जैसे, अंग्रेजी शब्द 'फादर' (Father) में प्रथम अक्षर 'फ' पर मुख्य बलाघात है, द पर गौण। यदि एक शब्द में कई स्वर या व्यन्जन होते हैं तो एक पर प्रमुख बलाघात होता है अन्यों पर गौण और उनके बलाघातों को क्रमशः सबल, निर्बल, निर्बलतर, निर्बलतम अथवा उच्च, उच्चार्द्ध, निम्न, निम्नार्द्ध, सामान्य आदि भेद किए जाते है। जैसे, अंग्रेजी

के Extraordinory शब्द में (र) 'r' के बाद अ (a) पर सबल या उच्च अथवा मुख्य बलाघात है, इसके बाद प्रथम ओ (o) पर है जो 'a' से निर्बलतर या उच्चार्द्ध कोटि का है। फिर इ (E) पर बलाघात है, E का बलघात 'O' से भी निर्बलतर अथवा निम्न कोटि का है पुनश्च 'i' उस से भी निर्बल या निम्नार्द्ध है और 'y' सब से निर्बलतम या सामान्य कोटि का है।

हिन्दी में संयुक्त व्यञ्जन के पूर्ववर्ती स्वर पर मुख्य बल पड़ता है अन्तिम स्वर पर गौण बलाघात पड़ता है। जैसे, 'लज्जा' में 'ल' के भीतर 'अ' पर मुख्य बलाघात है, 'ज' के भीतर निहित 'अ' पर गौण बलाघात है।

शब्द बलाघात—वाक्य में किसी शब्द पर अधिक बलाघात पड़ने से सामान्य वाक्यसे उसका अर्थ बदल जाता है। जैसे मैं दिल्ली जाऊँगा में यदि 'मैं' पर मुख्य बलाघात है तो उसका अर्थ होगा मैं दिल्ली जाऊँगा और कोई नहीं। यदि 'दिल्ली' पर बलाघात है तो इसका अर्थ होगा मैं केवल दिल्ली जाऊँगा और कहीं नहीं।

वाक्य बलाघात—किसी वाक्य या वाक्यांश पर बलाघात पड़ने से वह वाक्य या वाक्यांश अपने पड़ोसी वाक्य या वाक्यांश की तुलना में अधिक जोर से बोला जाता है। जैसे, आप चाहें रुकें मैं तो जाऊँगा' में यदि 'मैं तो जाऊँगा' पर बलाघात पड़ता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि 'मैं किसी प्रकार भी नहीं रुक सकता।' और मैं अकेले ही जाऊँगा किसी को साथ नहीं ले जाऊँगा; और यदि प्रथम वाक्यांश पर बलाघात पड़ता है तो उसका अर्थ होगा कि आप को रुकने की आवश्यकता है, उसमें मैं हस्तक्षेप नहीं करूँगा।

२. आघात के आधार पर बलाघात के भेद—अक्षर बलाघात के विवेचन के अवसर पर इसके कुछ भेद बताए गए हैं। जैसे, (१) सबल या उच्च, (२) निर्बल या निम्न (३) समबल या उच्चार्द्ध, (४) निर्बलतर या निम्नार्द्ध (५) सामान्य। बलाघात के सापेक्षिक बल को लेकर आवश्यकतानुसार इसके और भी भेद किए जा सकते हैं किन्तु भाषा-विज्ञान में प्रायः दो प्रकार के बलाघातों का अधिक प्रयोग होता है—(१) मुख्य बलाघात तथा (२) गौण बलाघात।

३. अर्थ के आधार पर बलाघात के दो भेद हैं—

(१) सार्थक

(२) निरर्थक

भाषा शिक्षण में बलाघात युक्त पाठ इसी लिए अनिवार्य माना जाता है कि इस से अभीप्सित अर्थ ठीक ठीक स्पष्ट हो जाता है ।

सार्थक बलाघात का सम्बन्ध अर्थ से होता है, अर्थात् बलाघात से अर्थ परिवर्तन हो जाता हैं । जैसे, यदि 'की' पर बलाघात होगा तो उसका अर्थ होगा 'क्रिया' जैसे, 'उसने रचना की' यदि की पर बलाघात नहीं है तो उसका अर्थ होगा परसर्ग (जैसे, राम की घोड़ी)

पर हिन्दी में निरर्थक कोटि के बलाघात अधिक मिलते है । जैसे, प्रेरणार्थक क्रियाओं में, 'आ' पर बलाघात पड़ता है किन्तु उससे अर्थ नहीं बदलता, जैसे कराना, बुलवाना आदि ।

तात्पर्य यह कि निरर्थक बलाघात से अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता ।

४. निश्चय अनिश्चय के आधार पर बलाघात के भेद—

(१) निश्चित

(२) अनिश्चित

बलाघात प्रधान भाषाओं में उनके कोशों में निश्चित बलाघात का स्पष्ट उल्लेख रहता है, जैसे अंग्रेजी तथा वैदिक संस्कृत में । बलाघात हीन भाषाओं में वाक्य के शब्दों अथवा शब्द के स्वरों या व्यंजनों पर बलाघात प्रायः अनिश्चित कोटि का होता है । वक्ता अपनी आवश्यकतानुसार महत्त्वपूर्ण अर्थ पर बल देने के लिए उससे सम्बन्धित शब्द को बलाघात युक्त कर देता है ।

५. श्रवणीयता के आधार पर—

(१) स्पष्ट

(२) अस्पष्ट

स्पष्ट बलाघात श्रवणीय होता है, अस्पष्ट बलाघात अश्रवणीय होता है । प्रत्यक्ष उच्चारण से इसका सम्बन्ध नहीं होता । यह वक्ता की मानसिक क्रिया मात्र को व्यक्त करता है । इसे सभी लोग नहीं पहचान सकते । जो भाषा की प्रकृति से परिचित हैं वे ही इसका पता लगा सकते हैं । दक्षिणी अफ्रिका की 'त्स्वाना' भाषा में इस प्रकार का अस्पष्ट बलाघात मिलता है । अंग्रेजी के 'थेङ्क् यू' के एक विशेष प्रकार के उच्चारण (KKyu) में अस्पष्ट बलाघात दिखाई पड़ता है ।

६. बलाघात का ध्वनियों पर प्रभाव—

बल से उच्चारित होने वाला स्वर श्वास की सम्पूर्ण शक्ति अपने ऊपर व्यय कर देता है, अतः पड़ोसी स्वर के लिए बहुत ही न्यून शक्ति बचती है। परिणामतः आस-पास की ध्वनियाँ कमजोर होकर धीरे धीरे बहुत परिवर्तित हो जाती हैं। ह्रस्व से ह्रस्वार्द्ध, दीर्घ से ह्रस्व हो जाती हैं। जैसे, Station में 'a' पर बलाघात है, इसलिए पूर्व का 'E' ह्रस्वार्द्ध हो गया है।

'अवधे'स के द्वा'रे सका'रे गई' सुत गो'द कै भू'पति लै' निकसे' में धे, द्वा, का, ई, गो, भू, लै, से पर बलात्मक स्वराघात पड़ने से उनके पास की दीर्घ मात्रायें के, रे, कै आदि दीर्घार्द्ध हो गई हैं।

'Sa'ught में a' पर बलात्मक स्वराघात (Stress 'accent) है, अतः 'ugh' मौन हो गए। इसी प्रकार 'पिसान' में 'सा' पर बलाघात है, अतः 'न' का 'अ' मौन हो गया। अर्थात् बलाघात हीन स्वर प्रायः दीर्घ से दीर्घार्द्ध, ह्रस्व से ह्रस्वार्द्ध या उदासीन हो जाते हैं। बलाघात युक्त स्वर तथा व्यंजन मात्रा की दृष्टि से कुछ बड़े हो जाते हैं। बलाघातयुक्त ह्रस्व ध्वनि कुछ दीर्घ और दीर्घ ध्वनि कुछ दीर्घतर हो जाती है। जैसे, विद्या' में 'वि' पर बलाघात है इसलिए ह्रस्व 'ि' (इ) कुछ दीर्घ हो गई। 'आदमी' में 'आ' पर बलाघात है, अतः 'आ' ध्वनि अपेक्षाकृत कुछ दीर्घतर हो गई गई है।

बलाघात पड़ने के कारण अल्प प्राणध्वनि कभी कभी महाप्राण ध्वनि के रूप में सुनाई पड़ती है। जैसे, अंग्रेजी बोलने वाले लोग 'Style' में 'I' पर बलाघात पड़ने के कारण उसका उच्चारण 'स्ठाइल' करते हैं। कभी कभी महाप्राणध्वनि बलाघात पड़ने के कारण अल्पप्राणध्वनि में भी परिवर्तित हो जाती है। जैसे, प्रान्तीय भाषा बुन्देली में 'धाई' का दाई' हो गया है।

व्यञ्जन कभी कभी बलाघात के कारण द्वित्त्व हो जाते हैं। जैसे, पचीस में 'च"' पर बलाघात पड़ने पर वह द्वित्त्व (पच्चीस) हो जाता है। बलाघात के कारण धर्म का 'धम्म' हो जाता है। जैसे, अचानक वह मकान धम्म से गिरा।

जिस ध्वनि पर बलाघात रहता है वह ध्वनि अधिक मुखर, श्रवणीय तथा शक्तिशाली हो जाती है। जैसे, 'वह शेर था' वाक्य को लीजिए। इस वाक्य में यदि बलाघात 'वह' पर है तो 'वह' सर्वाधिक जोर से उच्चारित होगा और

उसका अर्थ होगा वह अकेले शेर था और कोई नहीं। यदि 'शेर' पर बलाघात पड़ेगा तो शेर शब्द सर्वाधिक जोर से श्रवणीय होगा और उसका अर्थ होगा वह शेर था स्यार नहीं। यदि बलाघात 'था' पर पड़ेगा तो 'था' सर्वाधिक जोर से उच्चरित होगा और अर्थ होगा कि वह पहले शेर था, किन्तु अब नहीं है।

बलाघात युक्त होने पर शिथिल ध्वनि कुछ दृढ़ और दृढ़ ध्वनि कुछ दृढ़तर हो जाती है। जैसे 'भूख' शब्द में यदि बलाघात 'ऊ' पर प्रयुक्त होगा तो वह अपेक्षाकृत दृढ़ हो जायगा। इसी प्रकार 'की' शब्द जब क्रिया का बोधक होता है तब परसर्ग बोधक की तुलना में अधिक जोर से बोला जाता है। उसमें लगी 'ई' की मात्रा दीर्घतर हो जाती है। इसका कारण 'की' में 'ई' के ऊपर प्रयुक्त बलाघात ही है।

प्रत्येक भाषा में उसकी प्रकृति के अनुसार बलाघात-प्रयोग के विभिन्न नियम होते हैं—

हिन्दी तथा उड़िया की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा के शब्दों में बलाघात होने पर आपेक्षिक मुखरता अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती है। पर हिन्दी भाषा-भाषियों के मुख से अंग्रेजी बोलते समय बलाघात की आपेक्षिक मुखरता स्पष्ट उच्चरित नहीं होती। इसीलिए भारतीयों की बलाघातहीन अंग्रेजी को यूरोपीय लोगों को समझना कठिन हो जाता है। अंग्रेज़ी भाषा के 'शब्दकोशों' में भी बलाघात स्पष्ट रूप से अङ्कित होता है। प्रत्येक भाषा-भाषी अपनी भाषा को अपनी आदत के अनुसार अलग प्रकार के बलाघात के साथ बोलता है। उदाहरणार्थ, फ्रांसीसी लोग समाघात के साथ तथा जर्मन भाषाभाषी अन्त्याक्षर पर प्रमुख बलाघात के साथ उच्चारण करते हैं। कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिनके शब्दों में बलाघात का स्थान बदल देने से अर्थ परिवर्तित हो जाता है। जैसे, संस्कृत भाषा में कृपण शब्द में यदि बलाघात 'कृ' पर है तो अर्थ होगा 'कंजूस और यदि बलाघात 'प' पर होगा तो अर्थ होगा 'कष्ट।' अंग्रेजी भाषा में भी इसके बहुत से उदाहरण मिलते हैं। Conduct में यदि बलाघात c पर है तो उसका अर्थ 'चालचलन' होगा यदि बलाघात 'd' पर है तो उस का अर्थ होगा 'क्रिया'। जिन भाषाओं में बलाघात के परिवर्तन से अर्थ बदल जाता है उन्हें बलाघात प्रधान भाषा कहते हैं। बलाघात युक्त भाषा में अंग्रेजी, रूसी, स्पेनिश, जर्मन, डेनिश, वेल्स, सोहाली, हंगेरियन, प्रोवेन्सल का नाम उल्लेखनीय है। जिन भाषाओं

में बलाघात के परिवर्तन से अर्थं पविर्तित नहीं होता उन्हें बलाघातहीन भाषा कहते हैं। जैसे, हिन्दी, उड़िया, मराठी। संसार में कुछ ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें बलाघात शब्दों पर नहीं वाक्यों पर पड़ता है। जैसे, फ्रांसीसी भाषा। इसमें शब्दों के अक्षरों पर तो समान बलाघात पड़ता है किन्तु वाक्य के अन्तिम शब्द पर सबल बलाघात का प्रयोग होता है।

हिन्दी में बलात्मक स्वराघात के कुछ नियम

१. यदि शब्द में केवल एक महाप्राण ध्वनि (ह) हो तो उस पर अन्य अक्षरों की अपेक्षा अधिक बलाघात होगा। जैसे 'वह' में ह पर 'हवा में ह पर, गहन में ह पर, राही में 'ही' पर बलाघात अन्य अक्षरों की अपेक्षा अधिक पड़ता है।

२. यदि शब्द साधारणतः एक अक्षर वाला हो तो उस पर बलाघात पड़ता है। जैसे, आ, कि, ना, मा आदि।

३. यदि किसी शब्द में ह्रस्व तथा दीर्घ मात्रा वाले दो अक्षर हों तो सदा दीर्घ स्वर वाले अक्षर पर बलाघात पड़ता है। जैसे, रीति, नीति, खेल में दीर्घ मात्रा वाले अक्षरों पर ही मुख्य बलाघात का प्रयोग है।

४. तीन अक्षर वाले शब्दों में बलाघात की स्थिति कभी पहले में तथा कभी दूसरे में और कभी तीसरे में आती है।
बाँसुरी में पहले पर, विसाती में दूसरे पर तथा फिसड्डी में तीसरे पर बलाघात पड़ता है।

५. चार अक्षर वाले शब्दों में बलाघात अधिकतर पहले अक्षर पर पड़ता है। जैसे चपरासी में च पर, तरंङ्गिणी में त पर तथा कमलिनी में क पर बलाघात पड़ता है।

६. यदि शब्द या शब्दांश के अन्त में रहने वाले 'अ' का उच्चारण में लोप हो जाय और वह शब्द या शब्दांश व्यञ्जनांत रूप में उच्चारित हो तो उपान्त स्वर पर बलाघात पड़ता है।
जैसे, सब् आद्मी, कमल् शब्दों में हलन्त व्यंजनों के पूर्व स्वर पर बलाघात है।

७. संयुक्त व्यञ्जन के पूर्ववर्ती स्वर पर बल पड़ता है। जैसे,
चन्दा, लज्जा, विद्या।

८. विसर्गयुक्त स्वर के उच्चारण पर बल पड़ता है। जैसे,
प्रायः, अन्तःकरण।

९. प्रेरणार्थक क्रियाओं में, मध्य के 'आ' पर बलाघात पड़ता है। जैसे, करांना, बुलवांना, चुरांना आदि।

१०. इ, उ, ऋ से अन्त होनेवाले शब्दों के पूर्व स्वर पर भी बल पड़ता है। जैसे, हंरि, सांधु, पिंतृ।

११. कभी कभी तीन या चार अक्षरवाले शब्दों में उपान्त्य स्वर पर बलाघात पड़ता है। जैसे, पिसांन, पचींस, बहनोंई, अढ़ांई, करिहौंउ, कचेंहरी आदि।

१२. एकाक्षरी शब्दों में स्वराघात तब पाया जाता है जब उनका प्रयोग वाक्य रूप में होता है। जैसे, हाँ, जी आदि।

उपर्युक्त सभी उदाहरण निरर्थक बलाघात के हैं, क्योंकि उनसे किसी प्रकार का अर्थ परिवर्तन नहीं होता। हिन्दी में कुछ ऐसे बलाघात हैं जो सार्थक कहे जा सकते हैं। जैसे जब की पर बलाघात पड़ता है तब उसका अर्थ क्रिया (Did) है और जब की पर बलाघात नहीं पड़ता तब अर्थ होगा सम्बन्ध कारक का चिह्न।

'वह मर गया है' में किसी शब्द पर बलाघात न हो तो अर्थ मरने की सूचना मात्र का सूचक होगा। यदि अन्तिम शब्द गया पर बलाघात हो तो अर्थ होगा कि वह मरने योग्य नहीं था किन्तु मर गया और सुननेवाला भी इस सम्वाद को सुनकर चकित हो जाता है, उसे सहसा इस सूचना पर विश्वास नहीं होता। वह चकपकाहट के भाव से उस वाक्य को प्रश्न वाचक के रूप में दुहराते हुए, 'गया' को बलाघात के साथ बोलता है। यदि बलाघात 'वह' पर हो तो अर्थ होगा कि उस मुहल्ले या गाँव में कई आदमी बीमार थे, जिनमें और कोई नहीं मरा, केवल वही मर गया। इसी वाक्य में यदि बलाघात 'मंर' पर पड़ता है तो अर्थ होगा कि उसको मरे हुए तो पर्याप्त समय हो गया।

'वह बहुत अच्छा है'। पहले वाक्य में किसी पर बलाघात नहीं है। 'वह बहुंत अच्छा है',। दूसरे में बहुंत पर बलाघात पड़ता है, इससे दोनों वाक्यों के अर्थों में अन्तर हो गया है। पहले वाक्य में 'बहुत' का अर्थ है सामान्य कोटि का बहुत, परन्तु दूसरे बहुत का अर्थ है पहले से बहुत ज्यादा, सामान्य से कई गुना।

तीसरा उदाहरण लीजिए—

मैंं दिल्ली जाऊँगा

मैं दिंल्ली जाऊँगा

मैं दिल्ली जाऊँंगा

मैं पर बलाघात होने के कारण पहले वाक्य का अर्थ है—और कोई दिल्ली नहीं जायगा, अकेले मैं दिल्ली जाऊँगा।

दूसरे वाक्य में 'दिल्ली' पर बलाघात होने के कारण उसका अर्थ है—मैं अन्यत्र नहीं जाऊँगा, केवल दिल्ली जाऊँगा।

तीसरे वाक्य में जाऊँगा पर बलाघात है, इसलिए उसका अर्थ है—मैं इस समय दिल्ली जाने के सिवाय अन्य कार्य नहीं करूँगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दी में सार्थक तथा निरर्थक दोनों प्रकार के बलाघात पाये जाते हैं, किन्तु सार्थक बलाघात प्रायः वाक्य बलाघात या वाक्यांश बलाघात में पाए जाते हैं। हिन्दी शब्दों में सार्थक बलाघात बहुत ही कम मिलता है।

———

ध्वनि-यंत्र का चित्र
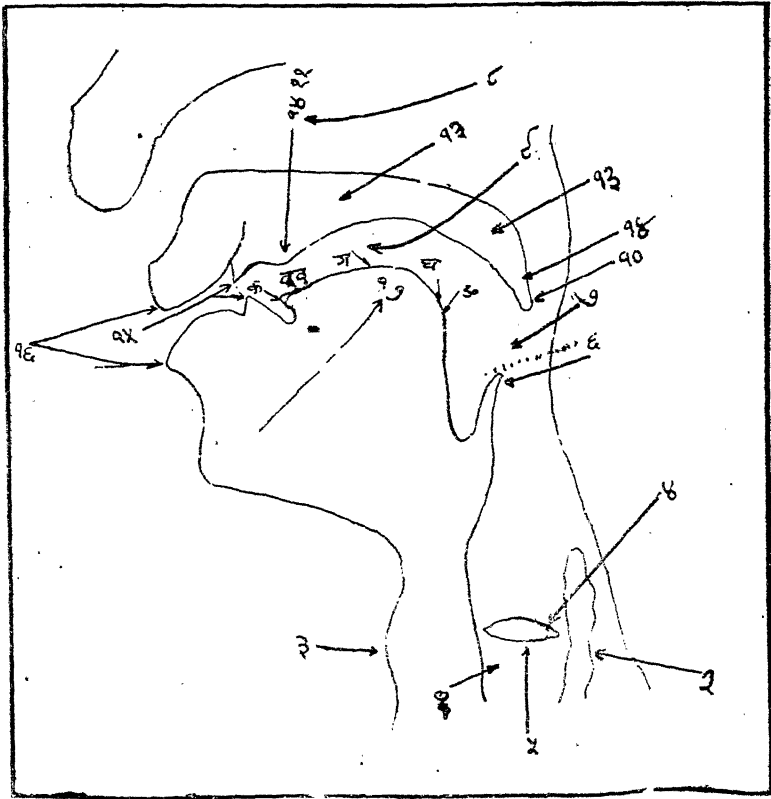
१. श्वास-नलिका
२. भोजन-नलिका
३. स्वरयंत्र या कराठपिटक
४. स्वरतंत्री
५. काकल
६. स्वरयंत्रावरण
७. गलविल
८. नासिका-विवर
९. मुख-विवर
१०. अलिजिह्वा
११. तालु
१२. कठोर तालु
१३. मूर्द्धा
१४, कोमल तालु
१५. दाँत
१६. ओठ
१७. जिह्वा
क. जिह्वाग्र
ग. जिह्वामध्य
ख. जिह्वोपाग्र
ङ. जिह्वामूल
घ. जिह्वापश्च

वाग् यन्त्र तथा उसकी कार्यकारिता

ध्वनि शिक्षा के प्रधान अंग हैं उच्चारण-स्थान और प्रयत्न। स्थान और प्रयत्न का उच्चारण-अवयव से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः ध्वनि-तत्त्व के सम्यक् परिशीलनार्थ—उच्चारणावययों का ज्ञान आवश्यक है।

फेफड़ा भाषण-ध्वनियों का मूल आधार प्रश्वास वायु है, जो उच्चारण-काल में फेफड़ों से मुखरन्ध्र में होकर वाग्यन्त्र के विभिन्न अंगों द्वारा आघात प्राप्त कर ध्वनि में परिवर्तित होती है। श्वास का मूल फेफड़ा है। उच्चारण काल में फेफड़े से ही प्रश्वास वायु आरंभ होती है। अतः ध्वनि-प्रक्रिया की दृष्टि से ध्वनि उत्पन्न करने में प्रथम स्थान फेफड़े का आता है। फेफड़ों से आनेवाली हवा से समस्त भाषा-ध्वनियाँ बनती हैं। संसार की अधिकांश भाषाओं की ध्वनियाँ अन्दर से निर्गत—होनेवाली प्रश्वास वायु से, और अफ्रीकी तथा आदिम भाषाओं की कुछ ध्वनियाँ अन्दर ली जानेवाली निःश्वास वायु से बनती हैं। प्रश्वास वायु फेफड़ों से निकलकर श्वास-नली में सर्वप्रथम स्वरयन्त्र के पास रोकी जाती है। अतः ध्वनि-निर्माण में फेफड़े के पश्चात् द्वितीयस्थान श्वास-नलिका का है। किन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि फेफड़ा कोई उच्चारणावयव नहीं है केवल ध्वनि उत्पन्न करने वाली प्रश्वास वायु का उद्गम स्थान है।

१ श्वास-नलिका—यह फेफड़ों से कण्ठपर्यंत लम्बी एक नली है। प्रश्वास वायु फेफड़ों से चलकर श्वास-नलिका द्वारा कण्ठ-पिटक या स्वर यंत्र में आती है। स्वरयंत्र के पास यह रोकी जाती है। इसके बाद गलबिल-प्रदेश से नासारंध्र या मुखरंध्र या दोनों से निकलती है। मुखरंध्र में प्रवेश करने पर उसे कई प्रकार की बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार की बाधाओं से नाना ध्वनियों की सृष्टि होती है। श्वास नालिका भी कोई स्वतंत्र ध्वनि उत्पन्न नहीं करती वरन ध्वनि निर्मित करनेवाली प्रश्वास वायु को स्वरयंत्र में भेजती है।

२ भोजन-नलिका—श्वास-नलिका के पीछे भोजन-नलिका है जो आमाशय तक जाती है। श्वास-नलिका तथा भोजन-नलिकाओं के बीच में दोनों को पृथक् करने के लिए एक दीवाल है। भोजन-नलिका के विवर के साथ श्वास-नलिका की ओर झुकी हुई एक छोटी सी जीभ है जिसे अभिका-कल या स्वरयंत्रमुखावरण कहते हैं।

स्वरयंत्र के ऊपर यह ढक्कन का काम करता है। इसलिये इसे स्वरयंत्रावरण कहते हैं। अभिकाकल के पश्चात् एक चौराहा है जहाँ से चार मार्ग—श्वास-नलिका, भोजन-नलिका, मुख-विवर तथा नासिका विवर की ओर जाते हैं। चौराहे के पश्चात् अलिजिह्वा या घँटी है। इसके गिरे रहने से मुख-विवर और श्वास-नलिका का संबंध विच्छिन्न हो जाता है। भोजन या पानी जब मुंह के रास्ते से भोजन-नलिका के मुख के पास पहुँचता है तो अभिकाकल नीचे की ओर झुककर श्वास-नलिका के मार्ग को बन्दकर देता है और भोजन या पानी आगे सरककर भोजन-नलिका में चला जाता है। भोजन करते समय या पानी पीते समय अथवा बातचीत करने से श्वास-नलिका खुली रहती है, जिससे कभी कभी भोजन या पानी श्वास-नलिका में चला जाता है। उस समय फेफड़े की हवा शीघ्र ही अपनी पूरी शक्ति लगा कर अन्न के दाने या पानी को लौटाने का प्रयत्न करती है। यदि फेफड़े की हवा इस कार्य में असफल हुई और श्वास-नलिका में प्रविष्ट वस्तु नहीं निकली तो प्राणांत तक हो जाता है। अतः भोजन करते समय या पानी पीते समय बात करना इसीलिये वर्जित है क्योंकि बात करते समय श्वास-नलिका को खुला रहना पड़ता है। और उसमें खाद्यान्न या पानी चला जाता है। ध्वनि उत्पन्न करने में इसका भी कोई योग नहीं है।

३ स्वर-यंत्र या कण्ठपिटक—श्वास-नलिका के ऊपरी भाग में अभिकाकल से कुछ नीचे ध्वनि उत्पन्न करनेवाला प्रधान अवयव स्थित है जिसे स्वर-यंत्र कहते हैं। स्वरयंत्र भाषण अवयवों में एक प्रमुख अंग है। उसकार रसेल ने इसे मानवीय ध्वनि-प्रसारण केन्द्र कहा है। प्रत्येक प्रकार की ध्वनि की उत्पत्ति इस केन्द्र में निहित है। नेगस के मतानुसार इस यंत्र ने मनुष्य को भाषा-शक्ति देकर उसे मनुष्य के स्थान पर ला दिया। कण्ठपिटक इसका नाम इसीलिए पड़ा है कि इसकी आकृति अत्यंत छोटे बक्स के समान है। इसीलिये पण्डित सीताराम जी चतुर्वेदी ने इसे बोली की डिबिया नाम से अभिहित किया है। यह बोली की डिबिया मनुष्य के कण्ठ के भीतर टेंटुए की सीध में एक अण्डाकार पेटी के समान होती है। इसलिये इसे कण्ठ-पिटक कहते हैं।

४ स्वर तंत्री—इसमें दो पतली स्वरतंत्रियाँ होती हैं, जो आगे की ओर जुड़ी होती हैं, पीछे की ओर नहीं। ये दोनों तंत्रियाँ श्वास-नलिका के ढक्कन का काम करती हैं। इनको रंगमंच के दो पर्दों के समान समझना चाहिए। जिस प्रकार ये पर्दे संकुचित होकर रंगमंच के भीतरी दृश्य को ढक देते हैं

और खुल जाने पर उसे प्रदर्शित करते हैं, उसी प्रकार ये स्वर-तंत्रियाँ विस्तृत होकर श्वास मार्ग को रोक देती हैं और संकुचित होकर उसे उन्मुक्त कर देती हैं।

स्वरतंत्री के पर्दों की चार अवस्थायें होती हैं।

१ पहली अवस्था में दोनों पर्दे शिथिल रहते हैं, बीच में त्रिभुजाकार स्थान छूटा रहता है। इस अवस्था में हम ख, फ, छ, ठ, थ आदि अघोष ध्वनियों का उच्चारण करते हैं।
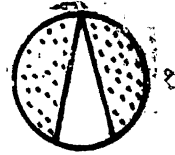
२ जब दोनों पर्दे समीप आ जाते हैं तब वायु को रगड़ खाकर निकलना पड़ता है। इस अवस्था में ज, ब, ग, ड, द आदि घोष ध्वनियों का उच्चारण होता है।
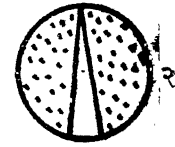
३ जब दोनों पर्दे तनकर, मिल जाते हैं तब स्वरतंत्री का रास्ता पूर्णतया बन्द हो जाता है। इस अवस्था में क्लिक ध्वनियों की आवाज निकलती है।
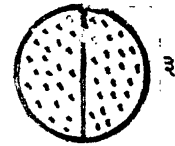
४ जब दोनों अधर मिलते हैं तब ये दोनों पर्दे मिल जाते हैं। पर नीचे पूरे का लगभग चतुर्थांश ($\frac{1}{4}$) भाग खुला रहता है। ऐसी अवस्था में फुस-फुसाहट की ध्वनियाँ निकलती हैं।
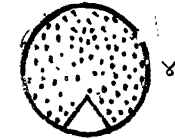
५ **काकल**—स्वरतंत्रियों के बीच के अवकाश अथवा स्वरयंत्र के मुख को काकल कहते हैं। प्राचीन ध्वनिविदों ने इसे कण्ठ नाम दिया है। भारतीय प्राचीन ध्वनि-शिक्षा के ग्रन्थों में इसका कंठविल या कंठगह्वर नाम भी मिलता है। हिन्दी में हम इसे काकल या कंठविल नाम से अभिहित करते हैं। संगीत-दर्पणकार ने इसे शरीर-वीणा की संज्ञा दी है। ह ध्वनि के उच्चारण में काकल का प्रयोग होता है इसलिए इसको काकल्य ध्वनि कहते हैं। जब स्वरतंत्रियाँ टकराकर एक झटके के साथ अलग होती हैं तब काकल्य स्पर्श ध्वनि उत्पन्न होती है। विवार और संवार प्रयत्नों का आधार काकल के विकास और संकोच पर अवलंबित है।

काकल से अर्थ कई विद्वान कंठ के उस उन्नत प्रदेश (उभरे हुए भाग) से लेते हैं जो किशोरावस्था बीतने पर स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में विशेष रूप से दीख पड़ता है। पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि काकल गले के उस आभ्यंतर प्रदेश को कहते हैं—जिसके आगे आस्य अथवा मुख की सीमा आरम्भ होती है। 'ओष्ठात् प्रभृति प्राक्काकलात् आस्यम्।'

६ **स्वरयंत्रावरण या अभिकाकल**—वस्तुतः यह अंग ध्वनि-उत्पादन में प्रत्यक्ष सहायता नहीं पहुँचाता तो भी स्वरयंत्र की रक्षा करने के कारण अप्रत्यक्ष रूप में ध्वनि-प्रक्रिया में सहायक सिद्ध होता है। कुछ ध्वनि-शास्त्रियों के मतानुसार यह अङ्ग कतिपय संगीतात्मक ध्वनियों में कुछ प्रभाव डालता है, कुछ स्वरों के उच्चारण में भी इसका प्रभाव पड़ता है। यह अंग जिह्वा-मूल के नीचे पेड़ के पत्ते के समान उठा हुआ एक मांसल भाग है जिसका आकार एक छोटी सी जीभ के समान है। यह अंग भोजन करते समय खाद्यसामग्री को श्वास-नलिका में जाने से रोकता है और भोजन-नलिका में प्रवेश कराने में सहायक होता है। इस प्रकार श्वास-नलिका तथा भोजन नलिका के बीच में दोनों को पृथक करने के लिए एक दीवाल का काम करता है। भोजन या पानी जब मुंह के रास्ते से भोजन नलिका के मुख के पास पहुँचता है तो यह अंग नीचे की ओर झुककर श्वास-नलिका को बन्द कर देता है और भोजन या पानी आगे सरक कर भोजन नलिका में चला जाता है। आ के उच्चारण में जिह्वा के साथ यह जितना पीछे हटता है इ के उच्चारण में उतना ही आगे बढ़ता है।

७ **गलबिल**—नासारन्ध्र और स्वरयंत्रावरण के बीच तथा जिह्वामूल के पीछे जो खाली स्थान है उसे **गलबिल** कहते हैं। गलबिल का स्थान काकल के ऊपर है। मुख-विवर से भोजन इसी गलबिल में जाता है। और वहाँ से अन्नमार्ग द्वारा आमाशय में पहुँचता है। इस गलबिल अथवा गले से लेकर कण्ठपिटक तक का श्वास मार्ग शब्दोत्पत्ति के समय खुला रहता है। परंतु भोज्य पदार्थ निगलने के समय यह श्वास-मार्ग एक पर्दे अथवा आवरण से बन्द हो जाता है, जिसे अभिकाकल कहते हैं, इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। जिह्वा के पिछले भाग को पीछे हटाकर गलबिल को विभिन्न रूपों में संकीर्ण करके विशेष प्रकार की ध्वनियाँ बनाई जा सकती हैं। मुखरन्ध्र में किसी ध्वनि का निर्माण करते समय गलबिल को संकीर्ण करके उस ध्वनि पर प्रभाव डाला जा सकता है। इसी प्रदेश में होकर कोमल तालु

की स्थिति के अनुसार अन्दर से निकलनेवाली हवा मुखरन्ध्र या नासारन्ध्र से निकल सकती है। गलबिल एक ओर नासिका-विवर से मिला है; तो दूसरी ओर मुख-विवर से।

८ **नासिका-विवर**—साधारण स्थिति में जब हम मुँह बन्द करके श्वास-प्रश्वास लेते और छोड़ते हैं, तो हवा मुख-विवर से न जाकर नासिका-विवर से आती जाती है। बातचीत करते समय कोमल तालु आवश्यकतानुसार कभी ऊपर कभी नीचे होकर, क्रमशः नासिका-विवर मार्ग को पूर्णतः बन्द कर देता है और खोल-देता है। कभी-कभी वह इस प्रकार की स्थिति में रहता है कि भीतर से निकलती हुई वायु विभाजित होकर नासिका-विवर तथा मुख-विवर से निसृत होती हैं। ञ, म्, ङ, ण, न आदि अनुनासिक ध्वनियों के उच्चारण में हवा नासिकारन्ध्र से निकलती है। परंतु आँ, इँ, ऊँ इत्यादि अनुनासिक स्वरों के उच्चारण में हवा दोनों मार्ग से निकलती हैं। इस प्रकार अनुनासिक ध्वनियों के उत्पादन में नासिका-विवर का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग है!

९ **मुख-विवर**—मुख-विवर में आकर ही ध्वनि प्रायः अपना स्वरूप धारण करती है। हवा कण्ठबिल से निकलकर या तो नासिका-विवर में जाती है, अथवा मुख-विवर में। जब कंठ की घंटी अथवा कौआ नासिका-विवर को बंद कर देता है तब ध्वनि मुख-विवर में से होकर आती है, और वह निरनुनासिक अथवा शुद्ध ध्वनि कहलाती है। मुख-विवर में तालु, दाँत, जिह्वा तथा ओठ की अवस्थिति है। जिह्वा के नीचे दाँतों की निचली पंक्ति तथा नीचे का ओठ स्थित है। जिह्वा के ऊपर तालु, ऊपर के दाँत तथा ऊपरी ओठ स्थित हैं। वस्तुतः अधिकांश ध्वनियाँ मुख-विवर के ऊपर नीचे के इन्हीं उच्चारणोपयोगी अवयवों से ही निकलती हैं। इसलिये मुख सर्वप्रधान वाग्यंत्र माना जाता है।

१० **अलिजिह्वा या कौआ**—अलिजिह्वा या कौआ कोमल तालु का अन्तिम भाग है, जो गले में लोलक या पूँछ की भाँति लटका रहता है। सम्पूर्णरूप में मुखरन्ध्र को उन्मुक्त कर के देखने से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि एक छोटा सा गोलाकार मांसपिण्ड लटक रहा है। इसे ही कौआ, घण्टी, घँटी, शुण्डिका, अलिजिह्वा अथवा ललरी कहते हैं। अलिजिह्वा उच्चारण-काल में तीन अवस्थाएँ ग्रहण करता है। पहली अवस्था में तनकर खड़ा हो जाता है और श्वासनलिका तथा नासिकाविवर के सम्बन्ध को रोक देता है।

परिणामतः सारी साँस मुख-विवर में ही आती है, नासिका विवर में नहीं जाती। इस स्थिति में निरनुनासिक ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। दूसरी अवस्था में अलिजिह्वा बिलकुल ढीला, शिथिल तथा गिरा हुआ रहता है और इस प्रकार श्वास-नलिका और मुख-विवर के सम्बन्ध को रोक रखता है। परिणामस्वरूप कुछ साँस नासिका-विवर से और कुछ साँस मुख-विवर से आती जाती है। इस अवस्था में अनुस्वार ध्वनि का उच्चारण होता है। तृतीय अवस्था में अलिजिह्वा मध्यम अवस्था में होता है जिसमें कुछ साँस नासिकाविवर तथा कुछ मुख-विवर से निकलती है। इस स्थिति में अनुनासिक व्यञ्जनों तथा सानुनासिक स्वरों का उच्चारण होता है।

११ तालु—(वर्त्स) मुख के अन्दर की छत को जो कंठबिल से लेकर ओठ तक फैली हुई है, तालु कहते हैं। यदि ओठ से चलें तो पहले दाँत मिलते हैं। ऊपर के दाँतों के मूल से कठोर तालु के प्रारम्भ तक का विस्तृत उभरा हुआ विषम भाग वर्त्स कहलाता है। बोलचाल की भाषा में वर्त्स को ही मसूड़ा कहते हैं। कुछ ध्वनि-शास्त्री जो तालु को कठोर तालु तथा कोमल तालु दो भागों में बाँटते हैं, वे लोग कठोर तालु के सबसे अगले भाग को जो दाँतों के पीछे उभरा हुआ है, वर्त्स कहते हैं। जीभ के विभिन्न भाग इसका स्पर्श करके या समीपवर्ती होकर या अभिमुख होकर र, न, न्ह, ल, ल्ह, र्ह, ज़ ध्वनियों को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

१२ कठोर तालु—वर्त्स के पश्चात् कठोर तालु का मध्य भाग आता है। इसे ही संस्कृतज्ञ तालु कहते हैं। जब जिह्वा मध्य तालु को स्पर्श करती है तब इ, ई, च, छ, ज, झ, ञ, य, श तालव्य ध्वनियाँ इसी प्रदेश में उत्पन्न होती हैं।

१३ मूर्द्धा—तालु-मध्य के पीछे का भाग अथवा कठोर तालु का सबसे पिछला भाग मूर्धा कहलाता है। जब जिह्वा इस स्थान को स्पर्श करती हैं तब ट, ठ, ड, ढ, ण, ष, ऋ, ॠ मूर्धन्य ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

१४ कोमल तालु—तालु के अन्तिम भाग को जो बहुत ही कोमल होता है, कोमल तालु कहते हैं। जहाँ कठोर तालु का अंत होता है, वहीं से कोमल तालु प्रारंभ होता है। यह भाग एक कोमल माँस खंड सा प्रतीत होता है। मुख को संपूर्ण रूप से उन्मुक्त करके दर्पण में देखने से यह सहज ही दिखाई देता है। अँगूठे के द्वारा इसकी कोमलता का अनुभव किया जा सकता है। यदि मुखरन्ध्र से हवा को भीतर लिया जाय और नासारन्ध्र मार्ग से निकाला जाय तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि हवा लेते समय कोमल तालु ऊपर उठता

है और निकालते समय नीचे झुक पड़ता है। इसी को संस्कृतशिक्षाकार कण्ठ कहते हैं। क, ख, ग, घ, अ, आ, कण्ठ ध्वनियाँ यहीं से उत्पन्न होती हैं। इन ध्वनियों के उच्चारण में यह कोमल तालु ऊपर उठकर नासारन्ध्र मार्ग को बन्द कर देता है। परिणामतः समस्त हवा मुखरन्ध्र से होकर प्रवाहित होती है। कोमल तालु वाग्यंत्र का एक महत्त्वपूर्ण विभाग है। यह मुखरन्ध्र और नासारन्ध्र के बीच में किवाड़ का काम करता है।

१५ दाँत—ध्वनि की सृष्टि में ऊपर की पंक्ति के दाँतो का विशेष रूप से व्यवहार होता है। नीचे के दाँतों का व्यवहार उतना नहीं होता। इसलिए ध्वनिशास्त्र में दाँत शब्द से अभिप्राय ऊपर के दाँतो से है। ये दाँत नीचे के ओठ और जिह्वा नोक़ के साथ मिलकर ध्वनि उत्पन्न करने में सहायक होते है। ऊपर के दाँतों के साथ जिह्वा के अग्रभाग के कम या अधिक सटने से या दूर रहने से दन्तस्थानीय स्पर्श, घर्षक तथा विवृत वर्णों का उच्चारण होता है। हिन्दी त, थ, द, ध ध्वनियाँ दन्त्य ध्वनियाँ मानी जाती हैं। प्राचीन वैदिक काल में पूरी तवर्ग ध्वनियाँ दन्त्यमानी जाती थी। किंतु अब न वर्त्स्य मानी जाती है। क्योंकि न के उच्चारण में जीभ की नोक ऊपरी मसूड़े को स्पर्श करती है। दन्त्य ध्वनियों के भी उपभेद होते हैं। हिन्दी की त ध्वनि पुरोदन्त्य है, थ अन्तर्दन्त्य, द पश्चात्दन्त्य तथा ध दन्त्यमूलीय है। हिन्दी ल का उच्चारण नीचे के ओठ और ऊपर के दाँतों द्वारा होता है। उर्दू की फ़ ध्वनि का उच्चारण भी इसी प्रकार होता है, इसलिए दोनों ध्वनियाँ दन्त्योष्ठ हैं।

१६ ओठ—वाग्यंत्र के विभिन्न विभागों में केवल ओठ ही बहिर्स्थित दृश्यमान विभाग है। दूसरे विभाग किसी न किसी रूप में ढँके रहते हैं। ऊपर और नीचे के ओठों में से नीचे का ओठ ध्वनि-उच्चारण में अधिक क्रियाशील रहता है, इसीलिये ध्वनि-शास्त्रियों में ओठ शब्द से अभिप्राय नीचे के ओठ से समझा जाता है। ध्वनियों के उत्पादन में ओठ का व्यवहार निम्नांकित रूपों में होता है। दोनों ओठ पूर्णतया उन्मुक्त रह सकते हैं। इस स्थिति में आ का उच्चारण होती है। दोनों ओठ संपूर्णतया बंद रहते हैं। इस स्थिति में प, फ, ब, भ, म, उ, ऊ का उच्चारण होता है। नीचे के ओठ ऊपर के दातों को जब छूते हैं तब व और फ का उच्चारण होता है। अंगरेजी (Fine) और उर्दू फौरन शब्द के उच्चारण में फ़ के लिये इसी प्रकार की स्थिति निर्मित होती है। ओठों के भिन्न-भिन्न आकार धारण करने के आधार पर भिन्न-भिन्न स्वर उत्पन्न होते हैं। ओठों की वृत्ताकार

स्थिति में उ, ऊ, ओ, औ, का उच्चारण होता है। ओठों की अवृत्ताकार स्थिति में अ, आ, इ, ई, ए, ऐ का उच्चारण होता है। ओष्ठ्य वर्णों के उच्चारण में दोनों ओठों में श्वास रोका जाता है। इसी कारण इन्हें ओष्ठ्य वर्ण कहते हैं।

१७ **जिह्वा**—ध्वनि-निर्माण में जिह्वा का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। भाषण-क्रिया में इसकी प्रधानता होने के कारण ही इसे भाषण यंत्र का प्रमुख अंग या करण माना जाता है। भाषण-क्रिया में जिह्वा जितने अधिक रूपों में सहायक होती है, उतना कोई अंग नहीं। भाषा-तत्त्व के क्षेत्र में जिह्वा का इतना प्राधान्य है कि इससे संबंधित Language और Linguistics शब्द जीभ के फ्रांसीसी नाम 'Langue' और लैटिन नाम Lingua से संबंधित हैं। जिह्वा ओठों से लेकर कठोर तालु के अन्त तक के प्रत्येक स्थान को स्पर्श कर विविध ध्वनियों के उच्चारण में समर्थ होती है। मुख के अन्दर जिह्वा भिन्न-भिन्न स्थानों को इस प्रकार स्पर्श करती है कि भीतर से आती हुई वायु का प्रवाह क्षण भर के लिए रुक जाता है फिर उस स्पर्श को दूर करने पर रुकी हुई वायु के निकलने से क से म तक की स्पर्श ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। भीतर की वायु को जब जिह्वा पूरा पूरा नहीं रोक पाती, थोड़ा थोड़ा खुला रखती है और वायु जब जिह्वा के दोनों ओर से घर्षण करती हुई निकलती है तो स, श, ष, ज, आदि घर्षक-ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। जिह्वा का अग्रतम भाग जिह्वानोक कहलाता है। जिह्वा का यह भाग सबसे अधिक गतिशील रहता है। ध्वनि-सृष्टि में इसका व्यवहार निम्न प्रकार से किया जाता है—जिह्वा नोक ऊपर की पंक्ति के सामने वाले दाँतों को स्पर्श करती हुई हिन्दी की त, थ, द, ध, ध्वनियों के उच्चारण में सहायक होती है। सामने के दाँत या वर्त्स के समीपवर्ती होकर यह संघर्षी ध्वनियों के उच्चारण में सहायक होती है। इस प्रकार की ध्वनि उड़िया स और हिन्दी स के उच्चारण में पाई जाती हैं। फेफड़ों से निकलनेवाली हवा द्वारा जिह्वा नोक विताड़ित होकर एकाधिक बार जोर से हिलकर हिन्दी र के उच्चारण में सहायक होती है। दाँत अथवा वर्त्स के मध्यबिन्दु का स्पर्श करके जिह्वानोक एक प्रकार की पार्श्विक ध्वनि निकालती है। इस प्रकार की ध्वनि हिन्दी लता शब्द के ल और अंगरेजी Love शब्द के उच्चारण में पाई जाती है। जिह्वा की नोक पीछे को ऊपर की ओर मुड़ती हुई मूर्धन्य ध्वनियों के उच्चारण में सहायता करती है। ये ध्वनियाँ हिन्दी ट और ठ में पाई जाती हैं। जिह्वा का अगला हिस्सा जिह्वाग्र कहलाता है। यह निष्क्रिय अवस्था

में कठोर तालु के विपरीत रहता है। यह भाग जिह्वानोक के अंत से लेकर लगभग १॥" लम्बा होता है। ध्वनि-उत्पादन में विशेषतः कठोर तालु के प्रदेश में व्यवहृत होता है। इस विभाग की सहायता से उत्पन्न होनेवाली ध्वनियों को मुख्यतः तालव्य ध्वनि कहते हैं। तथा इसकी सहायता से उत्पन्न होने वाले स्वर अग्रस्वर कहे जाते हैं। जैसे—इ, ई, ऋ, ॠ, ॡ। यह विभाग कठोर तालु से मिलकर वायु मार्ग को संपूर्णतः बंद कर देता है जिससे च, छ, ज, झ, य नामक तालव्य ध्वनियों के निर्माण में सहायता मिलती है। तालु और मूर्धा के सामने वाला भाग जिह्वोपाग्र कहलाता है। जिह्वोपाग्र जब कठोर तालु को स्पर्श करता है तब ड़, ढ़, नामक व्यंजन ध्वनियाँ तथा तथा ए ऐ नामक स्वर उत्पन्न होते हैं। कोमल तालु के सामने का जिह्वाभाग जिह्वामध्य कहलाता है। जिह्वापश्च कोमल तालु और कौआ के साथ मिलकर विभिन्न ध्वनियों के उत्पादन में सहायक होता है। हिन्दी की क, ख, ग, घ ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं। फेफड़ों से निकलनेवाली हवा को मुखरन्ध्र में विभिन्न रूपों में प्रभावित करकें ऊ, ओ, आ, औ आदि ध्वनियों के उत्पादन में यह विभाग सहायक होता है। भिन्न-भिन्न स्वरों के उच्चारण के लिए यह विभिन्न मात्रा में कोमल तालु की ओर उठता है, इस प्रकार से निर्मित स्वरों को पश्च-स्वर कहते हैं। कौआ अथवा घंटी जहाँ लटका करती है वहाँ से पीछे के जीभ का भाग जिह्वामूल कहलाता है। जिह्वामूल जब कोमल तालु को स्पर्श करता है तब क़, ख़, ग़, ज़, फ़, तथा अः नामक जिह्वामूलीय ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

प्रयत्न

बोलते हुए जीभ तथा ओठ के भीतर की साँस को रोककर उसे निकालने का ढंग प्रयत्न कहलाता है।[1] इसको और स्पष्ट रूप में हम निम्न प्रकार से कह सकते हैं। उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों के व्यापार को प्रयत्न कहते हैं। अर्थात् भाषणावयवों द्वारा ध्वनियाँ किस ढंग से उत्पन्न होती हैं—इसका विवेचन प्रयत्न में किया जाता है। फेफड़ों से निकलने वाली वायु वाग्यंत्र में कहीं रुक जाती है, कहीं रगड़ खाती है, कहीं जिह्वा के किसी पार्श्व से, कहीं नासारन्ध्र में होकर गुजरती है—ये सब बातें प्रयत्न के अन्तर्गत विवेचित होती हैं। जिह्वा, ओठ, कोमल तालु, स्वरतंत्रियाँ आदि ध्वनि-उत्पादन में किस प्रकार प्रयत्न करती हैं—इन सबका अध्ययन इसी के अंतर्गत होता है।

प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं। (१) आभ्यन्तर, तथा (२) बाह्य[2]। जो प्रयत्न आस्य के भीतर होते हैं उन्हें आभ्यंतर प्रयत्न कहते हैं। जो प्रयत्न आस्य के बाहर हाते हैं उन्हें बाह्य प्रयत्न कहते। आभ्यंतर प्रयत्न संस्कृत भाषा में पाँच प्रकार के माने गये हैं। स्पृष्ट, इषत् स्पृष्ट, विवृत, इषत् विवृत तथा संवृत। हिन्दी भाषा-वैज्ञानिकों ने इषत् संवृत नामक एक और भेद स्वरों के प्रयत्न में बढ़ा दिया है। कतिपय हिन्दी भाषा-वैज्ञानिक व्यंजनों के उच्चारण संबंधी ८ आभ्यंतर प्रयत्न मानते हैं। स्पर्श, स्पर्श-संघर्षी, संघर्षी, पार्श्विक, लुण्ठित, उत्क्षिप्त, अनुनासिक और अर्द्धस्वर। बाबू श्यामसुन्दरदास व्यंजनों के आभ्यंतर प्रयत्न को उच्चारण की प्रकृति कह कर एक अलग नाम देते हैं।

आभ्यन्तर प्रयत्न में जीभ का अन्य उच्चारणोपयोगी अवयवों से पूर्ण स्पर्श, कम स्पर्श, मुँह का कम तथा अधिक खुलना, मुँह का पूर्ण या न्यून रूप में बन्द होना, वायु मार्ग का संकीर्ण तथा विस्तृत होना, हवा का मुख से रगड़ खाकर निकलना, हवा का जीभ के अगल-बगल से निकलना, हवा का नासिका-विवर से निकलना आदि उच्चारणावयव-व्यापार सम्मिलित हैं।

आभ्यन्तर प्रयत्न के अनुसार व्यंजनों के ८ भेद हैं।

---

१. जिह्वौष्ठरोधनं प्रयत्नम्। भाषा-लोचन-सीताराम चतुर्वेदी। पृष्ठ २२७।

२. यत्नो द्विधा। आभ्यन्तरो बाह्यश्च।

१. स्पर्श २. घर्ष ३. स्पर्शघर्ष ४. पार्श्विक ५. लुंठित ६. उत्क्षिप्त ७. अनुनासिक ८. अर्द्धस्वर ।

१. **स्पर्श**—इस प्रयत्न में जीभ का अन्य उच्चारणोपयोगी अवयवों से पूर्ण स्पर्श होता है। पहले, मुख में हवा विलकुल रुक जाती है और फिर एक झोंके में वह धक्का देकर बाहर निकलती है इसलिए कुछ विद्वान् इसे स्फोट प्रयत्न कहते हैं। स्पर्श या स्फोट प्रयत्न से क् से लेकर म् तक के व्यंजन उच्चारित होते हैं। किन्तु च् छ् ज्, झ् व्यंजन स्पर्श के साथ घर्ष भी हैं जिनका उल्लेख आगे स्पर्श घर्ष के प्रसंग में किया गया है।

२. **इषत् स्पृष्ट**—इस प्रयत्न में जीभ अन्य उच्चारणोपयोगी अवयवों को हल्के ढंग से छूती है। संस्कृत भाषा शास्त्रियों ने य् व् र् ल् को इषत् स्पृष्ट माना है। किन्तु हिन्दी भाषा-वैज्ञानिक य् व् को अर्द्धस्वर, र् को लुंठित तथा ल् को पार्श्विक प्रयत्न के भीतर परिगणित करते हैं।

३. **घर्ष**—इस प्रयत्न में वायु-मार्ग किसी एक स्थान पर इतना संकीर्ण हो जाता है कि हवा के बाहर निकलने में सर्प जैसी शीत्कर ध्वनि निकलती है। इस प्रयत्न से उच्चरित वर्णों के उच्चारण-काल में, जिह्वा, दन्तमूल, अथवा वर्त्स्य के बीच का मार्ग खुला रहता है। इससे हवा रगड़ खा कर निकलती है। इसी से इस प्रयत्न से उच्चरित वर्णों को घर्ष व्यंजन कहते हैं। इन वर्णों के उच्चारण-काल में मुँह खुला रहता है, इसलिए इन्हें विवृत व्यंजन, कहते हैं। इनके उच्चारण-काल में हवा कहीं रुकती नहीं। इसी से इन वर्णों को सप्रवाह अव्याहत अथवा अनवरुद्ध भी कहते हैं। इस प्रयत्न द्वारा स् श् ष् ज् फ् ख़् ग़्, ह, तथा व्ह (V) व्यंजन उच्चरित होते हैं। इनको संघर्षी व्यंजन भी कहते हैं।

३. **स्पर्श-घर्ष**—इस प्रयत्न में अवयवों के पारस्परिक स्पर्श के साथ हवा थोड़ी रगड़ खा कर निकलती है। जिससे उच्चारण में थोड़ी उष्म ध्वनि भी सुनाई पड़ती है। इस प्रयत्न द्वारा हिन्दी के च् छ्, ज् झ् व्यंजन उच्चरित होते हैं।

४. **पार्श्विक**—इस प्रयत्न में हवा मुख के मध्य में रुक जाने से जीभ के अगल-बगल से निकलती है। इस प्रयत्न द्वारा हिन्दी का ल् अंग्रेजी का (L) उच्चारित होता है।

५. **लुंठित**—इस प्रयत्न में जीभ बेलन की तरह लोटती हुई तालु को छूती है। इस प्रयत्न द्वारा हिन्दी का र् व्यंजन उच्चरित होता है।

६. उत्क्षिप्त—इस प्रयत्न में जीभ की नोक उठकर फेंकने की गति से कठोर तालु को झटके से छूकर मुख द्वार को झटके से खोलती है। इस प्रयत्न द्वारा हिन्दी के ड़् ढ़् उच्चरित होते है।

७—अनुनासिक-इस प्रयत्न में मुख किसी एक स्थान पर बन्द हो जाता है और कोमल तालु या कंठ इतना झुक जाता है कि हवा नासिकाविवर में से निकलती है। इस प्रयत्न द्वारा ङ् ञ् ण् न् म् न्ह, म्ह व्यंजन उच्चरित होते हैं।

८—अर्द्धस्वर—इन वर्णों के उच्चारण-प्रयत्न में मुख द्वार बहुत संकरा हो जाता है और हवा इनके उच्चारण में स्वर की भाँति बीच से निकल जाती है। इसलिए य् व् वर्ण साधारणतया व्यंजनवत व्यवहृत होते हुए भी कभी कभी स्वर का भी काम करते हैं।

आभ्यन्तर प्रयत्न के आधार पर व्यंजनों का वर्गीकरण

स्पर्श	घर्ष	स्पर्श घर्श	पार्श्विक	लुंठित	उत्क्षिप्त	अनुनासिक	अर्द्धस्वर
क् ख् ग् घ् ट् ठ् ड् ढ् त् थ् द् ध् प् फ् ब् भ् क़्	स् श् ष् ज़् फ़् ख़् ग़् ह् व्ह् (:)	च् छ् ज् झ्	ल् ल्ह	र् र् ह्	ड़् ढ़्	ङ् ञ् ण् न् म् न्ह् म्ह्	य् व्

आभ्यन्तर प्रयत्न के अनुसार स्वरों के ४ भेद हैं। विवृत, इषत् विवृत, संवृत तथा ईषत् संवृत।

१. विवृत प्रयत्न में मुख द्वार पूर्णतः खुला रहता है। जैसे, आ के उच्चारण में।

२. इषत् या अर्द्ध विवृत, में मुखद्वार कुछ-कुछ खुला या कभी-कभी आधा खुला रहता है। जैसे अ, ऍ, ऑ, ऐ, औ के उच्चारण में

३. संवृत प्रयत्न में मुंह करीब करीब बन्द सा रहता है। जैसे अ, इ, ई, उ, ऊ के उच्चारण में।

४. इषत् या अर्द्ध संवृत। इस प्रयत्न में मुँह कुछ कुछ खुला रहता है। जैसे ए, ओ, के उच्चारण में।

आभ्यन्तर प्रयत्न के आधार पर स्वरों का वर्गीकरण

विवृत	इषत् विवृत	संवृत	या अर्द्ध संवृत
आ	अ ऍ, ऑ ऐ औ अ	इ उ ई, ऊ अॅ	ए, ओ

बाह्य प्रयत्न के ११ भेद हैं।

विवारः संवारः श्वासोनादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राणो उदात्तोऽनुदात्तःस्वरितश्चेति ।*

बाह्य प्रयत्न में उच्चारण करने में स्वर तंत्रियों का संकोच तथा विस्तार, गले तथा मुँह का पूरा तथा कम खुलना, साँस की धौंक तथा धमक, साँस का वेग तथा धीमापन, श्वास का संघर्ष तथा बिना संघर्ष के निकलना, साँस की कम ठसक तथा भारी ठसक, सुराघात की उच्चता, निम्नता तथा समस्थिति सम्मिलित है।

विवार-संवार, श्वास-नाद, अघोष-घोष अल्पप्राण तथा महाप्राण की पहचान के लिए यहाँ पाणिनी का सूत्र उद्धृत किया जाता है—

खरोविवाराः श्वासा अघोषाश्च ।

हशो संवारा नादा घोषाश्च ।

वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः ।

वर्गाणां द्वितीयचतुर्थो शलश्च महाप्राणाः ।

पाणिनी के खर सूत्र के भीतर ख् फ् छ् ठ् थ् च् ट् त् क् प् श् ष् स्

---

* विवार और संवार का भेद गले की स्थिति के कारण है। विवार प्रयत्न में मुँह खुलता है, तथा संवार में संकरा हो जाता है। श्वास और नाद भेद साँस के वेग के कारण है। श्वास प्रयत्न में साँस की धौक अधिक रहती है। नाद प्रयत्न में साँस की धौंक कम, पर ध्वनियों की धमक अधिक रहती है।

अघोष और घोष भेद ध्वनि के कारण है। ध्वनि को गम्भीर करके बोलने में घोष प्रयत्न और ध्वनि को धीमा करके बोलने में अघोष प्रयत्न प्रयुक्त होता है। अल्प प्राण में वायु का प्रदान कम तथा महाप्राण में अधिक होता है, स्वर ऊँचा चढ़ा कर बोलना उदात्त, स्वर नीचा करके बोलना अनुदात्त तथा बीच के स्वर (ऊँच न नीच) से बोलना स्वरित प्रयत्न है।

व्यंजन आते हैं। अतः इनके उच्चारण में विवार, श्वास तथा अघोष प्रयत्न निहित हैं।

पाणिनी के हश सूत्र के भीतर ह् य् व् र् ल् ञ् म् ङ् ण् न् झ् भ् घ् ढ ध् ज् ब् ग् ड् द् व्यंजन आते हैं। अतः इनके उच्चारण में संवार, नाद तथा घोष प्रयत्न निहित हैं।

वर्गों के प्रथम, तृतीय तथा पंचम व्यंजन तथा पाणिनी के यण सूत्र के व्यंजनों में अल्पप्राण प्रयत्न निहित है—

इस सिद्धान्त के अनुसार क् ग् ङ् च् ज् ञ् ट् ड् ण् त द् न् प् ब् म् य् व् र् ल् ध्वनियाँ अल्प प्राण हैं।

वर्गों के द्वितीय चतुर्थ तथा पाणिनी के शल सूत्र के व्यंजनों में महाप्राण प्रयत्न निहित है।

ख् घ् छ् झ् ठ् ढ् थ् ध् फ् भ् श् ष् स् ह् व्यंजनों में महाप्राण प्रयत्न प्रयुक्त होता है।

उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित प्रयत्नों का विवेचन-ध्वनि-गुणों के विवेचन के अवसर पर सुराघात के प्रसंग में हो चुका है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इन प्रयत्नों का प्रयोग प्रायः वैदिक भाषा के उच्चारण में ही मिलता है।

वाह्य प्रयत्न

विवार तथा संवार प्रयत्नों का आधार उच्चारण-काल में स्वरतंत्रियों का संकोच तथा विस्तार है। इसीलिये इन्हें स्वरतंत्रीय प्रयत्न भी कहते हैं। जिन व्यंजनों के उच्चारण में मुँह चौड़ा करना पड़े या पूरा खोलना पड़े तथा स्वरतंत्रियाँ दूर-दूर हो जाँय उनके उच्चारण-प्रयत्न को विवार प्रयत्न कहते हैं। तात्पर्य यह कि स्वरतंत्रियों की दूरी तथा मुँह खुलनेसे विवार प्रयत्न उत्पन्न होता है। जैसे, ख् फ् छ् ठ् थ् आदि ध्वनियों के उच्चारण में विवार प्रयत्न प्रयुक्त होता है। संवार प्रयत्न में मुँह सँकरा करना पड़ता है तथागले का विस्तार कम हो जाता है एवं स्वरतंत्रियाँ समीप आ जाती हैं। ह् य् व् र् ल् आदि ध्वनियों के उच्चारण में यह प्रयत्न प्रयुक्त होता है।

श्वास और नाद भेद ध्वनियों के उच्चारण-काल में साँस की धौंक तथा धमक एवं वायु-वेग की प्रबलता तथा निर्बलता के आधार पर किया गया

वर्गाणांप्रथमद्वितीयौशषसाश्चाघोषा :।
शेषव्यंजनाःस्वराश्च घोषाः। सीताराम चतुर्वेदी (भाषालोचन)

है। जिन ध्वनियों के उच्चारण में साँस की धौंक देनी पड़े तथा वायु वेग प्रबल हो जाय उनमें श्वास प्रयत्न लगता है। जैसे, क् प् स् ष् श् व्यंजनों के उच्चारण में श्वास प्रयत्न लगता है, जिन ध्वनियों के उच्चारण में ध्वनि में धमक देकर बोलना पड़े तथा वायु वेग कुछ निर्बल हो जाय, उनमें नाद प्रयत्न लगते है। जैसे, भ् भ् घ् ढ् ध् के उच्चारण में नाद प्रयत्न लगता है।

घोष और अघोष प्रयत्नो का भेद उच्चारण-काल में श्वास-संघर्ष तथा श्वास संघर्ष के अभाव पर; फलतः ध्वनियों की गंभीरता तथा धीमेपन पर आधारित है। घोष प्रयत्न के समय स्वर तंत्रियाँ कड़ी होकर श्वास को रोकती हैं फलतः श्वास को संघर्ष करके निकलना पड़ता है। अतः ध्वनि में भारीपन या गंभीरता आ जाती है। ध्वनि के भारीपन के कारण ही इस प्रयत्न से उच्चरित ध्वनियों को घोष ध्वनि कहते हैं। जैसे— ज् ब् ग् ड् द् व्यञ्जनों के उच्चारण में घोष प्रयत्न निहित है।

अघोष प्रयत्न के समय स्वर-तंत्रियाँ ढीली रहती हैं, श्वास बिना रुकावट के निकल जाता है, उसको किसी प्रकार का संघर्ष नहीं करना पड़ता। श्वास-संघर्ष के अभाव में ध्वनि में धीमापन आ जाता है। सभी स्वर घोष हैं। उनका फुसफुसाहट वाला रूप अघोष है। व्यंजनों में ख् फ् छ् ठ् थ् च् ट् त् क् प् स् श् ष् अघोष व्यंजन हैं।

अल्पप्राण तथा महाप्राण प्रयत्नों का भेद साँस की कम ठसक तथा अधिक ठसक के आधार पर प्रतिष्ठित है। अल्पप्राण-प्रयत्न के समय साँस की ठसक कम रहती है। महाप्राण प्रयत्न के समय प्राण ध्वनि के उच्चारण के कारण महाप्राण प्रयत्न में साँस की ठसक अधिक हो जाती है। अल्पप्राण तथा महाप्राण ध्वनियों का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है।

अ—स्वर तंत्रीय बाह्य प्रयत्नों के आधार पर व्यंजनों का वर्गीकरण

संवार, नाद तथा घोष प्रयत्न-जनित व्यंजन—	विवार, श्वास, तथा अघोष-प्रयत्न जनित व्यंजन—
ह् य् व् र् ल्	ख् फ् छ ठ् थ्
ञ् म् ङ् ण् न्	च् ट् त् क् प्
भ् भ् घ् ढ् ध्	श् ष् स् ह्
ज् ब् ग् ड् द् म्ह् न्ह् ल्ह् ग़् ज़् रह्	क़् ख़् फ़्
ह् ड़् ढ़्	(..)

शब्द के अन्त में आनेवाला ह् घोष रहता है आदि में आने वाला अघोष।

ब—प्राणत्त्व युक्त बाह्य प्रयत्नों के आधार पर हिन्दी-व्यंजनों का वर्गीकरण ।

अल्प प्राण व्यंजन	महाप्राण व्यंजन
क् ग् ङ् च् ज्	ख् घ् छ् झ् ठ्
ञ् ट् ड् ण् त्	ढ् थ् ध् फ् भ्
द् न् प् ब् म्	श् ष् स् ह्
य् व् र् ल्	

स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न की दृष्टि से हिन्दी-व्यञ्जनों का वर्गीकरण

प्रयत्न	द्वयोष्ठ्य	दन्त्योष्ठ्य	दन्त्य	वर्त्स्य	तालव्य	मूर्धन्य	कण्ठ्य	जिह्वा-मूलीय	काकल्य या [illegible]
१. स्पर्श (अथवा स्फोट)	प् ब् फ् भ्		त् द् थ ध्			ट् ड् ठ् ढ्	क् ग् ख् घ्	क़्	
२. घर्ष (अथवा संघर्ष)		फ़्, व्		स् ज़्	श्	ष्		ख़् ग़्	ह ह्
३. स्पर्श संघर्ष					च् ज् छ् झ्				
४. अनुनासिक	म् म्ह्			न् न्ह्	[ञ्]	ण्	ङ्		
५. पार्श्विक				ल् [ल्ह्]					
६. लुण्ठित				र् [र्ह्]					
७. अर्द्धस्वर		व्			य्				
८. उत्क्षिप्त						ड़् ढ़्			

स्वर-विवेचन

स्वर की परिभाषा—स्वर उस सघोष ध्वनि-समुदाय को कहते हैं जिनके उच्चारण में उच्चारण-स्थानों का स्पर्श नहीं होता, केवल जिह्वा की अवस्था में परिवर्तन होने से ही ध्वनि मुख से बाहर निकल कर उच्चरित हो जाती है तथा जिनके उच्चारण में प्रश्वास वायु फेफड़ों से निकल कर मुख के खोखले के बीच से ही अबाध रूप में बाहर निकल जाती है; कहीं स्पर्श या घर्ष नहीं होती। इसीलिए इनके उच्चारण में प्रश्वास वायु को कहीं बाधा उपस्थित नहीं होती। फलतः इनका उच्चारण एक झटके से ही हो जाता है। इसीलिए कुछ भाषा शास्त्री स्वर की परिभाषा इस प्रकार करते हैं :—स्वर वह ध्वनि समुदाय है जो एक झटके में किसी अन्य ध्वनि की सहायता के बिना बोली जा सके तथा जिनके उच्चारण में प्रश्वास वायु को मुख-विवर में कोई बाधा न मिले।

स्वर और व्यंजन का अन्तर—यहाँ विवेचन की स्पष्टता के लिए स्वर और व्यंजन का अन्तर अपेक्षित है। व्यंजन के उच्चारण में वायु-प्रवाह निर्बाध रूप से मुख में से नहीं निकलता, किन्तु स्वर के उच्चारण में निर्बाध रूप से निःसृत होता है। स्वरों की मुखरता व्यंजनों की मुखरता से कहीं अधिक है, इसलिये व्यंजनों की अपेक्षा स्वर अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं; बधिर बच्चों की परीक्षा से भी यही ज्ञात होता है। स्वर-ध्वनि के उच्चारण में मुख-विवर अच्छी तरह उन्मक्त रहने के कारण साँस के अन्त तक इसका निरंतर उच्चारण किया जा सकता है। परन्तु व्यंजनों में इसकी संभावना नहीं। इसीलिए संगीत-साधना करते समय गायक आ—आ—१—२—३ करके अभ्यास करते हैं, क—क—१—२—३ करके नहीं। मुखरता के कारण ही स्वर-ध्वनियाँ आक्षरिक मानी जाती हैं। इसीलिए तो वे बलाघात वहन कर सकती हैं, पर व्यंजन ध्वनियाँ सामान्यतः नहीं। व्यंजनों के उच्चारण में वायु-प्रवाह में संघर्ष उत्पन्न होता है, किन्तु स्वर के उच्चारण में संघर्ष का अभाव रहता है। व्यंजन ध्वनियाँ अघोष और घोष दोनों प्रकार की होती हैं। किंतु स्वर-ध्वनि मलतः सघोष ध्वनि मानी जाती है, व्यंजनों के उच्चारण में वायु-प्रवाह मुख-रंध्र के अतिरिक्त नासिका-विवर से भी निकलता है। किन्तु स्वरों

के उच्चारण में मुख-रंध्र से ही निकलता है। स्वरों के उच्चारण में जिह्वा के विभिन्न भाग विभिन्न मात्रा में ऊपर उठते हैं, किन्तु जिह्वा के विभिन्न भागों के ऊपर उठने की भी एक निर्दिष्ट सीमा होती है। यदि जिह्वा इस सीमा से बाहर जायगी तो स्पर्श या घर्षण उत्पन्न होगा। किन्तु व्यंजनों के उच्चारण में जिह्वा स्वर सीमा से बाहर जाती है।

स्वर का विभिन्न अर्थों में प्रयोग—संस्कृत भाषा में वर्ण का अर्थ स्वर और व्यंजन दोनों है। परन्तु अक्षर का अर्थ केवल स्वरों से होता है। हिंदी में कहीं-कहीं वर्ण और अक्षर का पर्याय जैसा प्रयोग होता है पर हिंदी में भी कहीं-कहीं स्वर अक्षर का पर्याय ही माना जाता है। इसीलिए किसी स्वरके उच्चारण करते समय जिह्वा की विशिष्ट अवस्थिति को स्वरावस्थिति या अक्षरावस्थिति कहते हैं। स्वर का प्रयोग कभी कभी मात्रा के अर्थ में भी होता है। इसीलिए मात्रा के भेद ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत हैं। स्वर के भी ३ भेद माने गये हैं। संगीत-शास्त्र में स्वर का प्रयोग सुर के लिए भी होता है। शिक्षाशास्त्र में स्वर का प्रयोग ध्वनि-बल के लिए होता है। जैसे, सस्वर पाठ से कविता शिक्षण आरम्भ होना चाहिए।

स्वर-सृष्टि में वागयंत्र का काम

जिह्वा—स्वरों के उच्चारण में सबसे अधिक योग जिह्वा का होता है स्वर-सृष्टि में जिह्वा के मुख्य दो भाग जिह्वाग्र और जिह्वापश्च ऊपर-नीचे होते हैं। जिह्वानोक साधारणतः नीचे के दाँतों के पीछे निष्क्रिय अवस्था में रहती है। विभिन्न स्वरों के उच्चारण में मुख-विवर विभिन्न रूप धारण करता है, इस काम में जीभ का अग्र, मध्य तथा पश्च भाग ऊपर उठ कर मुख की सहायता करता है। कुछ स्वरों के उच्चारण में मुँह की माँस-पेशियाँ कड़ी हो जाती हैं और कुछ में शिथिल।

२ **ओठ**—स्वरों के उच्चारण में दोनों ओठ विभिन्न रूप धारण करते हैं:—कभी वृत्ताकार हो जाते हैं, कभी अवृत्ताकार।

३ **कोमल तालु**—अनुनासिक-स्वरों को छोड़कर शेष समस्त स्वरों के उच्चारण में इसका महत्वपूर्ण योग है। निरनुनासिक स्वरों के उच्चारण में कोमल तालु नासा-रंध्र-मार्ग को पूर्णतः बन्द कर देता है, जिससे समस्त-वायु मुख-रंध्र से ही निकलती है।

४ **स्वर-यंत्र**—स्वरों को सघोष बनाने का श्रेय स्वरयंत्र को है। स्वरयंत्र में प्रतिष्ठित स्वरतंत्रियों में कम्पन उत्पन्न होने से स्वरध्वनियाँ सघोष बन जाती हैं।

अलिजिह्वा—अनुनासिक स्वरों के उच्चारण में अलिजिह्वा मध्यम अवस्था ग्रहण करता है अर्थात् न तो वह तनकर बिल्कुल खड़ा रहता है और न बिल्कुल शिथिल, जिससे कुछ साँस नासिका-विवर से निकलती है और कुछ मुख-विवर से। इस स्थिति में सानुनासिक स्वरों का उच्चारण होता है।

स्वर-वर्गीकरण के प्रकार तथा आधार :—स्वरों का वर्गीकरण छः प्रकार से किया जा सकता है—

१—जिह्वा के प्रधान भागों के अनुसार।

२—ओठों की स्थिति तथा अवस्था के अनुसार।

३—जिह्वा की मांसपेशियों की शिथिलता तथा दृढ़ता के अनुसार।

४—उच्चारण-प्रयत्न के अनुसार।

५—ध्वनि-उच्चारण-काल की मात्रानुसार।

६—उच्चारण-स्थान के अनुसार।

अब इनमें से प्रत्येक प्रकार के वर्गीकरण पर नीचे विचार किया जाता है—

१—जिह्वा :—स्वरों की सृष्टि में साधारणतया जिह्वाग्र, जिह्वामध्य तथा जिह्वापश्च का उपयोग किया जाता है। इसलिये स्वरों का एक प्रकार का वर्गीकरण स्वरोच्चारण में प्रयुक्त जिह्वा की उपर्युक्त तीनों स्थितियों के अनुसार किया जाता है। इस प्रकार जिह्वा की स्थिति के अनुसार स्वर के अग्र, मध्य एवं पश्च तीन भेद किये जाते हैं।

जिह्वा-स्थिति के अनुसार स्वरों का वर्गीकरण

अग्र	मध्य	पश्च
इ, ई, ए, ऐ, ऍ	अ	उ, ऊ, ओ, ओ॑, औ, ऑ, आ।

२—ओठ :—स्वर-ध्वनियों की सृष्टि में केवल जिह्वा की स्थिति पर ही विचार नहीं होता वरन् ओठों की स्थितियों पर भी विचार करना पड़ता है। अग्रस्वरों के उच्चारण में दोनों ओठ बहुत विस्तृत हो जाते हैं, अर्थात् अवृत्ताकार हो जाते हैं। और पश्च-स्वरों के उच्चारण में दोनों ओठ थोड़े बहुत गोलाकार रहते हैं। गोलाकृति की पूर्णता तब होती है, जब संवृत पश्चमान-स्वर का उच्चारण किया जाता है। ओठों के विकार के सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि पश्च स्वरों के उच्चारण में जिह्वा ज्यों-ज्यों

विवृत से संवृत स्थिति की ओर जाती है त्यों त्यों ओठ की गोलाकृति बढ़ती जाती है, और संवृत से विवृत की ओर जाते समय ओठों की दशा इसके ठीक प्रतिकूल हो जाती है। अग्र-स्वरों के उच्चारण में ज्यों ज्यों जिह्वा विवृत से संवृत अवस्था की ओर जाती है, त्यों त्यों ओठ विस्तीर्ण होते जाते हैं और संवृत से विवृत की ओर जाते समय दशा इसके ठीक विपरीत होती है। इस प्रकार ओठों की स्थिति की दृष्टि से स्वरों के २ विभाग हो सकते हैं—वृत्ताकार तथा अवृत्ताकार। जिन स्वरों के उच्चारण में ओठों की आकृति गोल सी हो जाती है वे वृत्ताकार स्वर कहलाते हैं और शेष अवृत्ताकार कहलाते हैं।

ओठ की स्थिति के आधार पर स्वरों का वर्गीकरण

वृत्ताकार	अवृत्ताकार
उ ऊ ओ औ ॲ	अॅ अ इ ई ए ऐ

३—कुछ स्वरों के उच्चारण में जिह्वा की मांसपेशियाँ ढीली रहती हैं और कुछ में तनी हुई। इस प्रक्रिया के आधार पर स्वरों को दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है। यथा, दृढ़ और शिथिल। seat की ई sit की इ की अपेक्षा दृढ़तर है। इसकी परीक्षा के लिए अंगूठे को चिबुक तथा कंठ के बीच रखना चाहिए। दृढ़ ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की मांस-पेशियों में जो तनाव ज्ञात होता है वह शिथिल ध्वनियों में नहीं।

जिह्वा की मांसपेशियों के आधार पर स्वरों का वर्गीकरण

दृढ़ स्वर	शिथिल स्वर
ई, ऊ, आ, ए	अ, इ, उ, ऐ, ओ, औ, अः

४—उच्चारण-प्रयत्न के अनुसार स्वरों के उच्चारण में कभी मुख पूर्ण खुलता है और कभी आधा। इस प्रकार बन्द मुख की अवस्था संवृत, अर्द्ध-बन्द होने पर अर्द्ध संवृत, पूरा खुलने पर विवृत और आधा खुलने पर अर्द्ध विवृत होती है। प्राचीन संस्कृत-भाषा वैज्ञानिकों ने, उच्चारण प्रयत्न के अनुसार स्वरों को विवृत ही माना था[1] किन्तु ध्वनियंत्रों की परीक्षा द्वारा यह तथ्य गलत सिद्ध हो चुका है। और उच्चारण प्रयत्न की दृष्टि से स्वरों के चार भेद विवृत, अर्द्धविवृत, संवृत और अर्द्ध संवृत माने जाते हैं।

[1] विवृतं तु स्वराणाम्

आभ्यन्तर प्रयत्न के आधार पर स्वरों का वर्गीकरण

विवृत	अर्द्ध विवृत	संवृत	अर्द्ध संवृत
आ	ऑ अ ऍ, ओं, ऐ, औ,	इ, उ, ई, ऊ अें,	ए, ओ

(५) ध्वनि-उच्चारण के परिमाण या मात्रा की दृष्टि से स्वरों के ४ भेद किये जाते हैं—ह्रस्वार्द्ध ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत। ह्रस्व अउदासीन स्वर कहा जाता है। एक मात्रिक ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ, तथा त्रिमात्रिक प्लुत कहलाता है।

सामान्यतः प्लुत का प्रयोग भाषा में नहीं होता, संगीत तथा पुकारने में ही वह काम में आता है।

उच्चारण-काल की मात्रानुसार स्वरों का वर्गीकरण

ह्रस्वार्द्ध अें	ह्रस्व	दीर्घ	प्लुत ओउम्
	अ, इ, उ,	ई, ऊ, आ, ए, ऐ, ओ, औ	ओउम् में ओ में प्लुत स्वर है।

(६) उच्चारण-स्थान के आधार पर हिन्दी-स्वरों का वर्गीकरण

कंठ	तालु	ओष्ठ्य	कंठतालु	दन्त्य	कंठ ओष्ठ्य	जिह्वा-मूल	कंठ, मुख विवर तथा नासिका गुंजन	कंठ नासिका
अ आ ऑ	इ ई	उ ऊ	ए, ऐ,		ओ औ	अः	अँ	अं

हिन्दी ऋ का प्रयोग केवल लिखने में होता है पर इसका उच्चारण प्रायः रि की तरह किया जाता है।

अर्द्ध स्वर :—स्वर और व्यंजनों के बीच एक प्रकार की विशिष्ट ध्वनियाँ हैं जिन्हें अर्द्ध स्वर कहते हैं। इनमें स्वर तथा व्यंजन दोनों की विशेषताएँ पाई जाती हैं। इनके उच्चारण में जिह्वा एक संवृत स्वर स्थान से विवृत स्वर-स्थान की ओर अग्रसर होती है। संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार अर्द्ध स्वर अन्तस्थ माने जाते हैं, क्योंकि वे स्वर तथा व्यंजनों के बीच में हैं और इनमें व्यंजनात्मक प्रकृति दिखाई देती है। अंग्रेजी में y w और संस्कृत में य, व इसलिए अर्द्धस्वर माने जाते हैं क्योंकि उनके उच्चारण स्वरों की तरह मुखर न होकर व्यंजनों की भांति स्वल्प मुखर हैं तथा वे स्वर की भांति बलाघात वहन न करके व्यंजनों की भांति बलाघातहीन रहते हैं। इस प्रकार इनमें स्वर की अपेक्षा व्यंजन के गुण अधिक हैं। अतः ये अधिक मात्रा में व्यंजन ही माने जाते हैं।

य :—तालव्य सघोष अर्द्धस्वर है। जैसे, यह, नियम्।

व :—द्वयोष्ठ्य अघोष अर्द्धस्वर है। जैसे, वह, क्वार, हवा।

समानाक्षर—हिन्दी के अधिकांश भाषा-वैज्ञानिकों ने हिन्दी के मूल स्वरों को ही समानाक्षर कहा है। समानाक्षर वह स्वर है जो एक झटके में बोला जाता है। इनके २ भेद हैं। ह्रस्व समानाक्षर—जैसे, अ, इ, उ, अॅ।

दीर्घ समानाक्षर—जैसे, आ, ई, ऊ, ए, ओ,। हिन्दी में कुछ ऐसे भी समानाक्षर हैं जिनमें दो ध्वनियां है पर उच्चारण में उनकी प्रतीति नहीं होती जैसे ए और ओ में। ए में अ+इ तथा ओ में अ+उ दो अलग-अलग ध्वनियां मिली हुई हैं पर उच्चारण में ये दोनों स्वर एक ही झटके में बोले जाते हैं। अतः एक ही ध्वनि सुनाई पड़ती है। इसी कारण ए तथा ओ भी हिन्दी में समानाक्षर माने जाते हैं। किन्तु संस्कृत भाषा के ध्वनिशास्त्र में ए तथा ओ की गणना संध्यक्षरों में की गई है। इसका कारण यही है कि संस्कृत भाषा के उस काल में जब संस्कृत भाषा के ध्वनिविदों ने ए तथा ओ ध्वनियों का विश्लेषण किया उस समय संस्कृत भाषा-भाषी कदाचित ए तथा ओ का उच्चारण ai तथा au के रूप में संध्यक्षरों के ढंग से करते थे। किन्तु अब हिंदी-भाषा-भाषियों के मुख से ए तथा ओ का उच्चारण पहले से बदल गया है। यद्यपि इन दोनों स्वरों में दो भिन्न भिन्न स्वर मिले हुए हैं किंतु उच्चारण में वे सन्ध्यक्षर से प्रतीत नहीं होते। इसीलिए ये समानाक्षर माने जाते हैं। डा० बाबू श्यामसुन्दर दास के मतानुसार हिन्दी में समानाक्षर आठ हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ।

संध्यक्षर या संयुक्त स्वर :—जब दो या दो से अधिक स्वर संयुक्त होकर उच्चारण में भी उन अलग ध्वनियों की प्रतीति अलग-अलग कराएँ तो उन्हें संध्यक्षर कहते हैं। ध्वनि वैज्ञानिक दृष्टि से संध्यक्षर उन असवर्ण स्वरों के समूह को कहते हैं जिनका उच्चारण श्वास के एक ही वेग में होता है। संध्यक्षर के उच्चारण में मुखावयव एक स्वर के उच्चारण-स्थान से दूसरे स्वर के उच्चारण-स्थान की ओर बड़ी शीघ्रता से जाते हैं जिससे सांस के एक ही झोंके में ध्वनि का उच्चारण होता है। संध्यक्षर में विभिन्न संयुक्त स्वरों की ध्वनि; उच्चारण में स्पष्ट हो जाती है। हिन्दी स्वरों में सच्चे संध्यक्षर दो ही हैं। ऐ और औ। किंतु संस्कृत भाषा से हिन्दी में इनका उच्चारण कुछ परिवर्तित हो गया है। संस्कृत में ऐ का उच्चारण आ+इ के मिलने से और औ का उच्चारण आ+उ के मिलने से बना है, किंतु हिंदी में ऐ ह्रस्व अ+ह्रस्व ए की संधि से तथा औ ह्रस्व अ एवं ह्रस्व ओ की संधि से बना है। हिन्दी की कुछ बोलियों में ऐ और औ का उच्चारण अइ तथा अउ के समान होता है। कभी दो या दो से अधिक स्वरों का भी संयोग हो सकता है। जैसे—बुलउआ, लाइये, अइआ में तीन तीन स्वर एक साथ मिले हुए हैं। यह त्रिवर्णज सन्ध्यक्षर का उदाहरण है।

अनुनासिक स्वर

कोमल तालु की स्थिति की दृष्टि से ध्वनियों को अनुनासिक और निरनुनासिक इन दो बिभागों में बाँटा जा सकता है। जब किसी स्वर के उच्चारण में कोमल तालु कुछ नीचे झुककर हवा के कुछ भाग को नासारन्ध्र में से जाने देता है तो परिणामतः वह ध्वनि अनुनासिक हो जाती है। किन्हीं स्थलों पर अनुनासिकता क्षीण रूप में और किन्हीं स्थलों पर पूर्ण रूप में सुनाई पड़ती हैं। जैसे—'मन' शब्द के उच्चारण में म और न के बीच के स्वर में क्षीण काटि की अनुनासिकता है। बाँस शब्द में 'बा' पर पूर्ण रूप से अनुनासिकता है।

मूर्धन्य-स्वर

यदि किसी स्वर का उच्चारण करते समय जिह्वानोक तालु की ओर उठ जाती है तो उसमें मूर्धन्यता आ जाती है। इस प्रकार के स्वर संस्कृत भाषा में पाये जाते हैं। संस्कृत के ऋ और ॠ दोनों मूर्धन्य स्वर माने गये हैं।

अघोष-स्वर

ध्वनियों के उच्चारण में स्वर-यंत्र में कभी कंपन होता है और कभी नहीं। सभी साधारण-स्वरों के उच्चारण में कम्पन होता है। इसलिये वे सघोष माने जाते हैं। परन्तु कुछ भाषाओं में कुछ स्वरों के उच्चारण में स्वर-यंत्र में कम्पन नहीं होता। जिन भाषाओं में सामान्यतया स्वर-ध्वनियाँ सघोष कोटि की हैं, उनमें फुसफुसाहट की ध्वनि लाकर उन्हें अघोष किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वर-ध्वनियाँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं। यहाँ तो केवल हिन्दी के प्रमुख-स्वरों का विवेचन और वर्गीकरण किया गया है।

मूलस्वर (Cordinal Vowel)

डैनियल जोन्स ने मुँह तथा जीभ की अवस्थाओं का विचार करके विश्व की अनेक भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् ८ मूल या मान स्वर स्थिर किये हैं। इनके उच्चारण में भाषणावयव उच्चारण के आरम्भ से अन्त तक एक निश्चित स्थिति में रहते हैं। ये स्वर संसार भर की भिन्न भिन्न भाषाओं के स्वरों के अध्ययन तथा माप के लिए बटखरों का काम करते हैं। उच्चारण-काल में प्रयत्न की दृष्टि से ओठों के फैलाव या खिंचाव के ढंग से ओठ चौड़ा या मुँह खोल कर बोला जाने वाला मूल स्वर विवृत, मुँह आधा या कम चौड़ा करके बोला जाने वाला अर्द्ध विवृत, मुँह कम सँकरा करके बोला जाने वाला स्वर अर्द्ध संवृत और मुँह या ओठ बहुत सँकरा करके बोला जाने वाला संवृत स्वर के नाम से अभिहित होता है। उपर्युक्त दृष्टि से विवृत के भीतर आ, ॲ ; अर्द्ध विवृत के भीतर—ऑ ऍ ; अर्द्ध संवृत के भीतर—ओ, ए, तथा संवृत के भीतर—ई , ऊ मान स्वर आते हैं।

जब जिह्वा का अग्र भाग कठोर तालु की ओर थोड़ा सा उठकर भीतर की साँस कठोर तालु पर थोड़ा संघर्षित कर ध्वनि उच्चारित करता है तब ॲ, ऍ, ए, ई नामक अग्रमूल स्वर उत्पन्न होते हैं।

जब हम जिह्वा का पश्च भाग कोमल तालु की ओर थोड़ा बढ़ा कर बोलते हैं तब आ, ऑ, ओ, ऊ नामक पश्चमूल स्वरों की सृष्टि होती है।

मूलस्वर
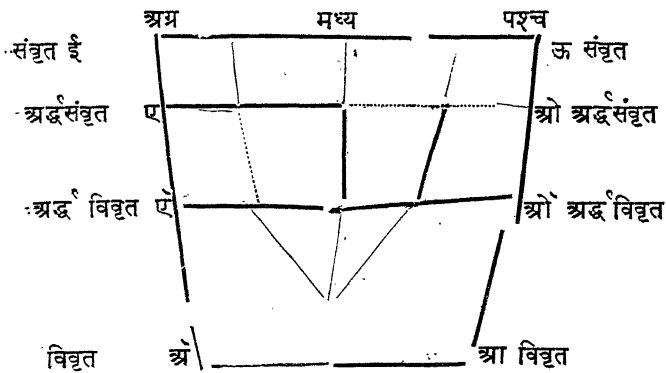
हिन्दी के प्रमुख स्वरः—हिन्दी के भाषा-वैज्ञानिक निम्न स्वरों को हिन्दी भाषा का मूल स्वर मानते हैं।

ह्रस्वमूल स्वर—अ, इ, उ अॅ ।

दीर्घ मूल स्वर—आ ई ऊ ए ओ ।

इन मूल स्वरों के ह्रस्वार्द्ध, अनुनासिक तथा संयुक्त रूप भी हिन्दी भाषा तथा उसकी बोलियों में पाये जाते हैं। ह्रस्वार्द्ध, दीर्घार्द्ध, अनुनासिक तथा संयुक्त रूप हिन्दी की बोलियों में अधिक मिलते हैं।

ह्रस्वार्द्ध स्वर—इस्टेशन, इस्कूल में इ में ह्रस्वार्द्ध स्वर है। यह विदेशी भाषा से आया है। पंजाबी भाषा भाषी इसका उच्चारण अधिक करते हैं। व्रज तथा अवधी भाषा में भी इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं। जैसे, अवतइ (व्रज) सोरहि (व्रज) गोलि (अवधी) भारेउ (अवधी) में इ, र, लि, ये में प्रयुक्त इ तथा उ ह्रस्वार्द्ध हैं।

दीर्घार्द्ध स्वर—व्रज भाषा में अधिक मिलते हैं। जैसे, नीचे के शब्दों में गयो, भयो, चढ़ाइहौं, अवलोकिहौं, धोएहौं, (सुत गोद) कै, ऐसो कैसो।

अनुनासिक स्वर—बुन्देली भाषा में सर्वाधिक मात्रा में मिलते हैं। जैसे, अंगरखा, बिंदिया, साँचा, इंगुर, ऐंचा।

संयुक्त स्वर—भोजपुरी में अधिक मिलते हैं। जैसे, **बुलउआ, अइआ, पढ़ैया, तरोइया**। तीन स्वरों के संयोग हिन्दी में भी मिलते हैं। जैसे, **कउआ, सइआँ**, जाइए, सोइए। संयुक्त स्वर हिन्दी में विदेशी भाषा से आये हुए शब्दों में भी मिलते हैं। जैसे, लाइसैन्स में (आइ) टाउनहाल में (आउ) कुनाइन में (आइ)।

हिन्दी में प्रचलित विदेशी स्वर—हिन्दी में प्रचलित विदेशी भाषा के स्वर ३ प्रकार के हैं। १—दीर्घार्द्ध स्वरः,—जैसे, कॉन्ग्रेस, लॉर्ड तथा कॉलिज में कॉ, लॉ तथा कॉ पर दीर्घ आ का अर्द्ध रूप प्रयुक्त है।

२—ह्रस्वार्द्ध स्वर—जैसे, स्टेशन, स्कूल का उच्चारण जब कोई पंजाबी भाषा-भाषी अथवा भाषा बोलने वाला कोई अन्य अनपढ़ देहाती करता है तब संयुक्त वर्णों के पूर्व ह्रस्व इ का उच्चारण कर उन्हें इ़स्टेशन तथा इ़स्कूल रूप में बोलता है।

३—कतिपय विदेशी शब्दों के उच्चारण में संयुक्त स्वर प्रयुक्त दिखाई पड़ते हैं। जैसे कुनाइन में आइ, शइतान में अइ, टाउनहाल में आउ, लाइसैन्स में आइ, फौरन में अऔ, टैप में एइ, लाइन में आइ, पाउन्ड में आउ, कन्पाउन्डर में आउ संयुक्त स्वर हैं।

———

अपश्रुति

मूल धातु से निर्मित या निष्पन्न शब्दों की रचना में बल कभी प्रकृति से प्रत्यय पर और कभी प्रत्यय से प्रकृति पर जाया करता है अर्थात् बल कभी मूल धातु के व्यंजन पर या कभी स्वर पर पड़ता है, इससे उन धातुओं से बने शब्दों के स्वरों में भिन्न-भिन्न रीति से परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन बल-प्रवृत्ति की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जिस भाषा में मूल धातु के स्वरों पर बल रहता है, उसमें उसकी धातुओं से बने शब्दों में विजातीय कोटि का स्वर परिवर्तन (Qualitative Vowel gradation) होता है; जैसे, अंग्रेजी में, Sing धातु में स्वर पर बल है, इसीलिए उससे बने शब्दों—Sang, Sung में विजातीय कोटि का स्वर परिवर्तन हुआ है, किन्तु जिस भाषा में मूल धातु के व्यंजनों पर बल रहता है, उसमें उसकी धातुओं से बने शब्दों में स्वर-परिवर्तन सजातीय कोटि का (Quantitative Vowel gradation) होता है, जैसे, संस्कृत भाषा में 'चल' में च नामक व्यंजन पर बल है, इसलिए उससे निर्मित शब्द—'चाल' में सजातीय कोटि का स्वर परिवर्तन हुआ है। मूल धातु से निष्पन्न शब्दों में स्वर-परिवर्तन की विभिन्न श्रेणियाँ ही अपश्रुति (Vowel gradation) के नाम से अभिहित होती हैं। अपश्रुति के लिए अंग्रेजी में Vowel gradation के अतिरिक्त दो और नाम प्रचलित हैं Ablaut और Umlaut। Ablaut जर्मन शब्द है। इसी को अंग्रेजी में Umlaut कहते हैं। Ablaut शब्द क्लुतोस नामक ग्रीक शब्द से बना है। क्लुतोस से लुतोस बना। लुतोस से laut बना। laut का अर्थ है—sound। उसमें A प्रत्यय लगाने से Ablaut बना जिसका अर्थ हो गया Change of Sound अर्थात् ध्वनि-परिवर्तन। श्री तारापुर वाला ने अपनी पुस्तक Elements and Science of language में विजातीय स्वर-परिवर्तन gualitative Vowel gradateion को Ablaut नाम दिया है तथा सजातीय स्वर परिवर्तन quantitative vowel gradation को vowel gradation नाम से अभिहित किया है। डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने इसका नाम अपश्रुति रखा है। स्वंर्गीय आचार्य पं० केशव प्रसाद मिश्र जी ने इसका नाम अभिश्रुति रखा है।

अपश्रुति (Vowel gradation) में एक स्वर के स्थान पर दूसरा स्वर आता है। इसलिए इसे स्वर-विकार या वर्ण-विकार कहते हैं। ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से इसका समावेश वर्णविकार के भीतर किया जायगा।

अपश्रुति का कारण :—मूलधातु में बल की प्रवृत्ति की भिन्नता। अर्थात् धातु में बल का; व्यंजन से स्वर पर तथा स्वर से व्यंजन पर जाना।

प्रयोजन—धातुओं से भिन्न-भिन्न शब्दों का निर्माण ही अपश्रुति का मूल प्रयोजन है।

अपश्रुति या धातु से बने शब्दों में स्वर-परिवर्तन की छ श्रेणियाँ मानी गई हैं।

इ श्रेणी, अ श्रेणी, ओ श्रेणी।
ई श्रेणी, आ श्रेणी, औ श्रेणी।

इन्हीं में से प्रथम तीन श्रेणियों को ह्रस्व स्वर श्रेणी तथा द्वितीय तीन श्रेणियों को दीर्घ स्वर-श्रेणी कहते हैं।

प्रस्तार के अनुसार इनमें से प्रत्येक के साथ दूसरी ध्वनि लगी रह सकती है। अतः इनके अन्य उपभेद भी हो सकते हैं। ह्रस्व स्वर-माला में लगने वाली ध्वनियाँ अर्द्धस्वर (य् व्), द्रव (र् ल्) और अनुनासिक (न् म्) होती हैं। प्रत्येक उपभेद में पहला तो केवल वह स्वर होता है, और शेष उपभेद उस स्वर से इन छः में से प्रत्येक के मिलने से बनते हैं। अतः कुल सात उपभेद हो जाते हैं। दीर्घ स्वर-माला में लगने वाली ध्वनियाँ अर्द्धस्वर (य् और व्) हैं। इनमें निर्बल, सबल और विस्तृत तीनों श्रेणियाँ होती हैं। धातु में स्वर बल-निर्बल पड़ने पर, तथा बल के अभाव में निर्बल श्रेणी का स्वर-परिवर्तन होता है जिसके दो भेद हैं—दीर्घ तथा सम्प्रसारण।

दीर्घकोटि का स्वर परिवर्तन। जैसे, चल से चाल, वच से वाचा में दीर्घकोटि का स्वरपरिवर्तन है। तथा वचन से उक्ति, यज्ञ से इष्टि में सम्प्रसारण कोटि का स्वर परिवर्तन है। चल में च पर स्वर-बल निर्बल (Secondary accent) कोटि का है। अतः उसमें दीर्घ कोटि का परिवर्तन हो गया है। वचन तथा यज्ञ में बल का अभाव है। अतः उनमें सम्प्रसारण कोटि का स्वर-परिवर्तन हुआ है।

धातु में स्वर-बल सबल होने से सबल कोटि का स्वर परिवर्तन होता है सबल कोटि के स्वर परिवर्तन में गुण संधि कोटि का स्वर-परिवर्तन होता है। जैसे, भू से भवति, भृ से भरति, नी से न्याय में गुण कोटि का स्वर परिवर्तन

इसलिए हुआ है कि धातुओं में उ, ऋ, ई पर बलाघात सबल कोटि का है। धातु में स्वर बल सुदीर्घ होने से विस्तृत या सुदीर्घ कोटि का स्वर-परिवर्तन होता है। सुदीर्घ या विस्तृत कोटि का स्वर बल होने से वृद्धि कोटि का स्वर परिवर्तन होता है। जैसे, बोध से बौद्ध। बोध में बो पर स्वर बल सुदीर्घ या लम्बे कोटि का है इसलिए स्वर-परिवर्तन सुदीर्घ कोटि का हुआ है।

पश्चिम के आधुनिक भाषा-विज्ञानी सबल श्रेणी (Strong grade) को मूल मान कर चलते हैं और एक सीढ़ी ऊपर विस्तृत या सुदीर्घ श्रेणी (Lenthened grade) मानते हैं तथा एक सीढ़ी नीचे निर्बल श्रेणी (weak grade)। पर संस्कृत के प्राचीन वैयाकरण निर्बल श्रेणी को ही मूलाधार मान कर चलते हैं; इसलिए उन लोगों ने दो सीढ़ियाँ क्रमशः ऊपर की ही मानी हैं। निर्बल श्रेणी के २ विभाग हैं। एक तो लगभग स्वराघात हीन स्थिति और दूसरी आनुषंगिक या निर्बल स्वराघात युक्त (Secondary accent) स्थिति।

संस्कृत भाषा में सजातीय कोटि के स्वर-परिवर्तन की अधिकता है। इसमें विजातीय कोटि के स्वर परिवर्तन कम मिलते हैं। किन्तु अंग्रेजी तथा ग्रीक भाषा में विजातीय कोटि के स्वर परिवर्तनों का बाहुल्य है। अपश्रुति भारोपीय भाषा-परिवार की एक प्रमुख विशेषता मानी जाती है।

———
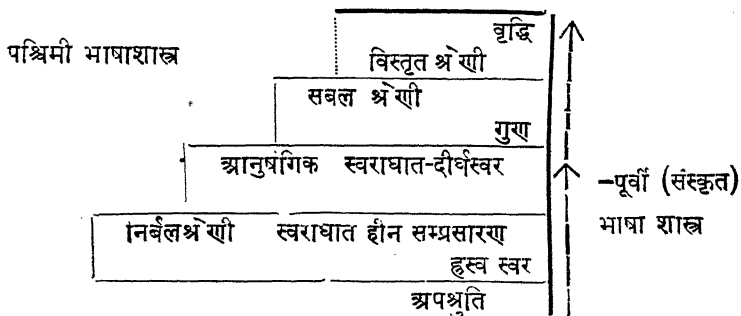
ध्वनि परिवर्तन के प्रकार

जैसे, किसी मनुष्य के चरित्र का वर्णन केवल उसकी शिक्षा तथा व्यवहार की एक रूपता से ही नहीं होता बल्कि उसके लिए परिवार तथा समाज की विभिन्न परिस्थितियों में उसकी दशा, व्यवहार, रूप, क्रिया, प्रतिक्रिया आदि को देखना आवश्यक हो जाता है। उसी प्रकार किसी भाषा के बाह्य स्वरूप की व्याख्या करने का लक्ष्य केवल उसके स्वरों और व्यंजनों के विवेचन से पूर्ण नहीं होता वरन् मानव की विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में उसके विभिन्न प्रकार के ध्वनि-विकारों को जानना आवश्यक हो जाता है।

कतिपय आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने विश्व की प्राचीन तथा नवीन भाषाओं एवं बोलियों की छानबीन करके १५ प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन या ध्वनि-विकार बताये हैं—(१) वर्णलोप (२) वर्णागम (३) वर्णविपर्यय (४) समीकरण (५) विषमीकरण (६) संधीकरण (७) ऊष्मीकरण (८) अनुनासीकरण (९) मात्राभेदीकरण (१०) घोषीकरण (११) अघोषीकरण (१२) महाप्राणीकरण (१३) अल्पप्राणीकरण (१४) अभिश्रुति (१५) अपश्रुति। कुछ ने इनकी संख्या बढ़ाकर २२ या २३ तक पहुँचा दी है। जैसे; (१) वर्णलोप (२) वर्णागम (३) वर्ण-विपर्यय (४) सावर्णीकरण (५) असावर्णीकरण (६) प्राणीकरण (७) महाप्राणीकरण (८) संधिज विकार (९) अभिमात्रण (१०) ऊष्मीकरण (११) घोषीकरण (१२) अघोषीकरण (१३) अनुनासीकरण (१४) दीर्घीकरण (१५) ह्रस्वीकरण (१६) अपश्रुति (१७) स्वर-ढलाव (१८) मूर्धन्यीकरण (१९) दन्त्यीकरण (२०) तालव्यीकरण (२१) (२२) सम्प्रसारण।

भारत के प्राचीन भाषा-वैज्ञानिकों ने इनकी संख्या चार ही मानी है।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्॥

अर्थात् निरुक्तकार ने चार प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन बताये हैं—

१. वर्णागम—किसी शब्द में नवीन व्यंजन, स्वर तथा अक्षर का आगमन।

२. वर्ण-विपर्यय—किसी शब्द में किसी स्वर, व्यंजन, अक्षर तथा लयान्विति की उलट-फेर।

३. वर्ण-विकार—शब्द में किसी स्वर, व्यंजन, अक्षर अथवा अक्षर के स्थान पर किसी दूसरे स्वर, व्यंजन या अक्षर का आगमन।

४. वर्ण-लोप—किसी शब्द में से व्यंजन, स्वर, अक्षर तथा लयान्विति का लोप।

यदि ध्वनि-विकार के विभिन्न भेदों पर सम्यक् दृष्टि से विचार किया जाय और भेदों की संख्या बढ़ाने के प्रयत्न से बचा जाय तो सब भेद गिने-चुने चार भेदों के भीतर आ जाते हैं। ध्वनि-विकार के ये प्रमुख भेद हैं। (१) वर्णागम, (२) वर्णलोप (३) वर्ण विपर्यय और (४) वर्ण-विकार। वर्ण-विकार के अंतर्गत ही सावर्णीकरण, असावर्णीकरण, संधिज विकार, सम्प्रसारण, ऊष्मीकरण, अनुनासीकरण, ह्रस्वीकरण, दीर्घीकरण, अभिमात्रण, घोषीकरण, अघोषीकरण, महाप्राणीकरण, अल्पप्राणीकरण, अपश्रुति, स्वर-ढलाव,मूर्धन्यी-करण, दन्त्यीकरण, तालव्यीकरण, कंठीकरण का समावेश हो जाता है।

अब ध्वनि-विकार के इन प्रमुख चार भेदों पर क्रमशः आगे विचार किया जायगा।

वर्णागम—प्रकृति में जैसा स्थान लोप का है वैसा ही आगमन का भी। जो स्थान कभी रिक्त हो जाता है, वह समय-क्रम में फिर से पूर्ण भी हो जाता है। परन्तु भाषा में बिना स्थान रिक्त हुए भी कुछ अन्य कारणों से कई ध्वनियों का आगम हो जाता है। जिनपर नीचे विचार किया जायगा।

किसी शब्द के आदि, मध्य तथा अन्त में किसी नवीन व्यंजन, स्वर अथवा अक्षर के आगमन से वर्णागम कोटि का ध्वनि-विकार उत्पन्न होता है। इस प्रकार इसके तीन प्रमुख भेद हैं—व्यंजनागम, स्वरागम तथा अक्षरागम। अब इनमें से प्रत्येक की परिभाषा, उदाहरण, कारण तथा उपभेदों पर नीचे विचार किया जायगा।

आदि व्यंजनागम्—किसी शब्द में नये व्यंजन का आगमन व्यंजनागम कहलाता है। नये व्यंजन शब्द में तीन ढंग से आते हैं। (१) शब्द के पहले (२) शब्द के बीच में (३) शब्द के अन्त में। इस प्रकार व्यंज-नागम के भी तीन भेद हैं। (१) आदि व्यंजनागम, (२) मध्य व्यंज-नागम। तथा (३) अंत व्यंजनागम।

आदि व्यंजनागम—किसी शब्द के पहले नये व्यंजन का आना आदि व्यंजनागम है। जैसे ओठ से होठ, अस्थि से हड्डी, औरंगाबाद से नौरंगाबाद।

कारण—उक्त शब्दों में आदि व्यंजनागम का कारण मुख-सुख है। उपर्युक्त तीनों शब्दों में संयुक्त स्वर के प्रयोग के कारण हिन्दी भाषा-भाषी साधारण जनता को उच्चारण में कुछ कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इस उच्चारण की कठिनाई को दूर करने के लिए नये व्यंजन का आगमन हो जाता है। उच्चारण की कठिनाई का अपसारण मुख-सुख के लिये ही किया जाता है।

मध्य व्यंजनागम—किसी शब्द के बीच में नये व्यंजन का आना मध्य व्यंजनागम है। जैसे रख से रक्ख, डेढ़ा से डेव्ढ़ा, जेल से जेह्ल, शाप से श्राप।

कारण—रख से रक्ख में मध्य व्यंजनागम क् सादृश्य के कारण आया है। कुछ शब्द किसी दूसरे शब्द के सादृश्य के कारण अपनी ध्वनियों का परिवर्तन कर लेते हैं। जैसे, संस्कृत के द्वादश के सादृश्य पर एकादश हो गया। इसी प्रकार हिन्दी में दुक्ख के सादृश्य पर रख से रक्ख, मुख से मुक्ख, लिख से लिक्ख (इसी से लिक्खाड़ बना) हुआ। वस्तुतः सादृश्य नामक कारण से अधिक बलशाली कार्य सुगमता है, पर यहाँ सुगमता की प्राप्ति किसी दूसरे शब्द के सादृश्य के आधार पर होती है। अतः सादृश्य को अलग कारण माना गया है।

डेढ़ा से डेव्ढ़ा तथा जेल से जेह्ल में व् तथा ह् श्रुति का आगमन मुख-सुख के कारण हुआ है। शाप में मध्य व्यंजनागम का कारण अज्ञान है। अज्ञान के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ लोग शाप को अधिक शुद्ध न समझ मिथ्या ज्ञान से श्राप बोलने लगते हैं। कवि लोग शब्दों में मनमाना ध्वनि-परिवर्तन मात्रा-पूर्ति अथवा तुक मिलाने के लिये कर देते हैं। जैसे, नीचे के एक छन्द में कई शब्दों में मध्य व्यंजनागम मात्रा-पूर्ति के कारण हुआ है।

कुट्टिल केस सुदेस पोह परिच्चियत पिक्क सद (पृथ्वीराज रासौ) कुटिल के मध्य में ट् का आगम मात्रा पूर्त्यर्थ है।

अंत व्यंजनागम—किसी शब्द के अंत में नये व्यंजन का आना अन्त व्यंजनागम है। जैसे, स्वामिनाथ का स्वामिनाथन्, रंगनाथ का रंगनाथन्। उत्तर भारत में कछु से कछुक, तनि से तनिक, कम्प से कम्पन, उमरा से उमराव।

कारण–दक्षिण की कुछ भाषाओंमें–जैसे, तामिल तथा तेलगू में व्यंजनागम की स्वाभाविक प्रवृत्ति पायी जाती है। भाषागत् इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण स्वामिनाथ तथा रंगनाथ शब्दों में अन्त व्यंजनागम हुआ है।

मात्रिक छन्दों में मात्रा की पूर्ति के निमित्त भी छन्दगत शब्दों में अन्त व्यंजनागम हो जाता है।

'कछुक दिवस बीते यहि भाँती।'

कछु में क व्यंजनागम मात्रा पूर्त्यर्थ हुआ है। रीति-काल के कवियों में यह बात अधिक पायी जाती है। यों संत साहित्य में भी इसकी कमी नहीं है। मात्रा ठीक करने के लिए किम्मति (कीमत), सत्थ (साथ) आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है; जिनमें मध्य व्यंजनागम का उदाहरण वर्तमान है। उमराव में व् के आगमन का कारण अरबी भाषा का अज्ञान ही है। कम्प से कम्पन में न के आगम का कारण मिथ्या सादृश्य है। कम्पन शब्द की रचना चलन-गढ़न आदि शब्दों के आधार पर हुई है।

कल से कल्ह में ह के आगम का कारण क् पर बलाघात है, इसलिए ल् निर्बल पड़ गया। अतएव उसकी सहायता के लिए ह् व्यंजन का अन्त में आगम हुआ।

कभी कभी अभ्यास-पटुता के कारण भी अन्त व्यंजनागम की सृष्टि हो जाती है। जैसे, प्राकृत भाषा में सेव्वा, एक्कं, निहित्तो आदि में अंत व्यंजनागम का कारण प्राकृत भाषा-भाषियों की संयुक्त व्यंजन बोलने की अभ्यास-पटुता ही है।

स्वरागम—नये स्वर शब्द में तीन ढंग से आते हैं। शब्द के पहले, शब्द के मध्य में तथा शब्द के अन्त में। इस प्रकार स्वरागम के भी तीन भेद हैं। आदि स्वरागम, मध्य स्वरागम तथा अन्त स्वरागम।

आदि स्वरागम—किसी शब्द के पहले नये स्वर का आगम आदि स्वरागम कहलाता है। जैसे, स्त्री से इस्त्री, स्थिति से इस्थिति स्टाम्प से इस्टाम्प। कुछ लोग आदि स्वरागम को हिन्दी में पुरोहिति अंग्रेजी में Prothesis कहते हैं।

(१) **कारण**—बहुत सी भाषाओं में तो आदि स्वरागम एक स्वाभाविक प्रवृत्ति बन गयी है। तमिल भाषा के शिष्ट प्रयोगों में उच्चारण की सरलता तथा स्वर-सौन्दर्य के लिए स्वरागम बहुलता से पाया जाता है। जैसे, रक्तम को ये लोग इरत्तम तथा राम को इरामन् बोलते हैं।

किसी शब्द में जब कुछ ऐसे संयुक्त व्यंजन आते हैं कि उनके उच्चारण में साधारण जनता को कठिनाई प्रतीति होती है तब उस कठिनाई के निवारणार्थ प्रथम वर्ण के पूर्व नये स्वर जुड़ जाते हैं। जैसे स्त्री से इस्त्री, स्कूल से इस्कूल, स्नान से अस्नान।

मध्य स्वरागम—किसी शब्द के मध्य में नये स्वर का आगम मध्य स्वरागम कहलाता है। मध्य स्वरागम के भी दो भेद हैं। उनमें से एक का नाम स्वर भक्ति दूसरे का अपनिहिति है।

स्वरभक्ति (Anaptyxis)—जब दो संयुक्त व्यंजनों के बीच में नये स्वर का आगमन होता है तो उसे स्वर भक्ति कहते हैं। जैसे, धर्म से धरम, प्रसाद से परसाद, कर्म से करम, प्रकार से परकार, ग्रहण से गरहन, उम्र से उमर तथा भ्रम से भरम।

कारण—अज्ञान, आलस्य या उच्चारण-सुविधा ही मुख्य कारण है। (१) संयुक्त व्यंजनों के बोलने में 'उच्चारण-सुविधा के लिए शब्द के मध्य में प्रयुक्त श्रुति इतनी प्रबल पड़ जाती है कि वह एक स्वतंत्र ध्वनि ही बन जाती है। यह कारण अन्ततोगत्वा मुख-सुख ही माना जायगा। जैसे, धर्म से धरम, कर्म से करम।

(२) संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण में होने वाली असुविधा को हटाने के लिए बीच में नये स्वर का आगम होता है। जैसे, प्रसाद से परसाद, प्रकाश से परगास।

(३) सुनी हुई ध्वनि के उच्चारण में असमर्थता या आलस्य के कारण शब्द के मध्य में नये स्वर आ जाते हैं। जैसे, भक्त से भगत, युक्ति से जुगत।

(४) स्वर भक्ति का कारण कहीं-कहीं अज्ञान भी रहता है। जैसे, संस्कृत मनोर्थ का मनोरथ हो गया। इसका कारण संस्कृत भाषा का अज्ञान ही है।

अपनिहिति—जब असंयुक्त व्यंजनों के बीच में स्वर का आगम होता है तब इस आगम को अपहिनिति कहते हैं।

कारण—जिन शब्दों में अपनिहित कोटि का स्वरागम होता है ऐसे शब्दों में संयुक्त स्वर रहते हैं। संयुक्त स्वरों को बोलने में कठिनाई प्रतीत होती है। इसलिए उनके अलग होने से नया स्वर आता है।

जैसे, बैल से बइला।
बेलि से बइल्ली।

कभी-कभी किसी को बनाने की दृष्टि से पढ़े लिखे लोग भी शब्द को ऐसा मरोड़ कर बोलते हैं कि उसमें मध्य स्वरागम हो जाता है। जैसे, बहकाते से बहकावते, आते से आवते। पंडिताऊ भाषा का नकल उड़ाने के लिए भी लोग आवते भये का प्रयोग करते हैं।

अन्त स्वरागम—किसी शब्द के अन्त में नये स्वर का आगम अन्त स्वरागम कहलाता है। जैसे नाऊ से, नउआ, रामेश्वर से रमसुरा, नीबू से निबुआ, शुक्ल से शुक्ला, गुप्त से गुप्ता। नाऊ से नउआ में आ के आगम का कारण घृणा है। रामेश्वर से रमेसुरा में आ के आगम का कारण कभी क्रोध, कभी घृणा का भाव है।

शुक्ला, मिश्रा, गुप्ता में आ के आगमन का कारण अंग्रेजी भाषा का मिथ्यानुकरण या अन्धानुकरण है।

कभी-कभी मात्रिक छन्दों में मात्रा—पूर्ति के निमित्त भी अन्त स्वरागम हो जाता है। जैसे, 'भे प्रगट कृपाला, दीनदयाला, कौशल्या हितकारी' में कृपाला तथा दयाला में अन्त स्वरागम मात्रा-पूर्ति के निमित्त हुआ है।

अक्षरागम—नये अक्षर शब्द में ३ ढंग से आते हैं—शब्द के पहले, शब्द के मध्य में तथा शब्द के अन्त में। इस प्रकार अक्षरागम के ३ भेद हैं—आदि अक्षरागम, मध्य अक्षरागम तथा अन्त अक्षरागम।

आदि अक्षरागम—किसी शब्द के आदि में अक्षर का आना आदि अक्षरागम है, जैसे, कल्लस से चक्कलस, खालिस से निखालिस, फजूल से बेफजूल। कल्लस में च अक्षर के आगम का कारण भावुकता है या चिढ़ कर कहना है। बेफजूल तथा निखालिस में बे तथा नि के आगम का कारण अज्ञान अथवा मिथ्यानुकरण है।

मध्य अक्षरागम—शब्द के अन्त में अक्षर का आना अन्त अक्षरागम है। जैसे, हिय से हियरा, संदेस से संदेसड़ा। रा तथा ड़ा का प्रयोग शब्द के अन्त में स्वार्थिक प्रत्यय के रूप में कभी प्रेम कभी लघुता बताने के लिए होता है।

वर्णलोप—जिस प्रकार विश्व के अन्य सभी क्षेत्रों में मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अल्पातिअल्प शक्ति का व्यय करके अधिकाधिक लाभ चाहता है, उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी उसकी यही प्रवृत्ति कार्य करती हुई दिखाई पड़ती है। मूलतः इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप भाषा के क्षेत्र में वर्णलोप नामक ध्वनि-विकार की प्रक्रिया घटित होती है। क्या पढ़े-

लिखे, क्या सामान्य जन सभी इस प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ध्वनियों, अक्षरों, लयान्वितियों का लोप करते रहते हैं। यदि अन्धेरा से प्रकाश के विपरीत अर्थ की सूचना मिल जाती है तो अन्धकार जैसे लम्बे शब्द का प्रयोग करना कोई नहीं चाहता। भारत यूरोपीय का भारोपीय, युनाइटेड स्टेट ऑव अमेरिका का यू० एस० ए०, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का हि० सा० स०, काशी-विश्व-विद्यालय का का० वि० वि० इसी प्रवृत्ति का उदाहरण है। उपाध्याय का झा, उपविष्ठ का बैठ इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। बोलचाल की भाषा में तो यह प्रवृत्ति बहुत अधिक मात्रा में कार्य करती है। अधिक ध्वनियों के स्थान पर कम ध्वनियों का प्रयोग करना ध्वनि-लोप कहलाता है। व्यंजन, स्वर, अक्षर तथा लयान्विति चारों इस लोप-प्रक्रिया के वशीभूत हैं। इस प्रकार वर्ण-लोप के ४ प्रमुख भेद हैं। व्यञ्जन-लोप, स्वर-लोप, अक्षर-लोप तथा लयान्विति-लोप।

व्यंजन लोप—किसी शब्द में से किसी व्यञ्जन का लुप्त हो जाना व्यञ्जन-लोप है। व्यञ्जन-लोप शब्द में ३ ढंग से होता है। शब्द के आदि, मध्य तथा अन्त में। इस प्रकार व्यञ्जन-लोप के तीन भेद हुए। आदि व्यञ्जन-लोप, मध्य व्यञ्जन-लोप तथा अन्त व्यञ्जन-लोप।

आदि व्यंजन लोप—शब्द के आदि व्यंजन का लुप्त हो जाना आदि व्यंजन लोप है। जैसे, स्थाली से थाली, स्फोट का फोट, स्कंध से कंध, स्थल से थल, स्थान से थान, श्मशान से मशान आदि।

कारण : संयुक्त वर्णों को बोलने में कठिनाई होने के कारण मुख-सुख या उच्चारण में सुविधा लाने के लिए शब्द के आदि व्यंजन को साधारणतः लोग छोड़ देते हैं।

मध्य व्यंजन लोप—शब्द के बीच से व्यंजन का लुप्त हो जाना मध्य व्यंजन लोप है। जैसे, पिष्टान्न से पिशान, उत्तान से उतान, कहना से केना, रहना से रेना,

कारण : १ संयुक्त वर्णों के उच्चारण में जिह्वा को कठिनाई होती है, अतः उच्चारण में सुविधा लाने के लिए अथवा मुख-सुख के लिए लोग मध्य व्यंजन का लोप कर देते हैं।

२—कहना से केना तथा रहना से रेना में मध्य व्यंजन का लोप बनकर बोलने के कारण हुआ।

३—कभी-कभी जल्दी बोलने के कारण भी मध्य व्यंजन का लोप हो जाता है, यथा, मास्टर साहब को माँट साहब कहते हैं। यहाँ पर मध्य व्यंजन 'स' का लोप इसी कारण है।

४—कभी-कभी प्यार, क्रोध अथवा घृणा से बोलने के कारण भी मध्य मध्य व्यंजन का लोप हो जाता है। जैसे, नारायण का नरान, रामेश्वरी का रमेसरी।

अन्त व्यंजन लोप—शब्द के अंत से व्यंजन का लोप हो जाना अन्त व्यंजन लोप है। जैसे, आम्र से आम, निम्ब से नींम, निम्बुक से नीबू।

कारण : १—जहाँ अंत के संयुक्ताक्षरों में से किसी एक व्यंजन का लोप होता है, वहाँ मुख-सुख कारण होता है।

२—कभी-कभी जल्दी बोलने के कारण भी अंत-व्यंजन का लोप हो जाता है, जैसे पंडित जी का पंडी जी।

३—कभी-कभी प्यार से बोलने के कारण भी शब्द के अंत व्यंजन का लोप हो जाता है, जैसे कन्हैया से कनही; कान्हा; कान।

स्वर लोप—शब्द में किसी स्वर का लोप ३ ढंग से होता है। शब्द के आदि स्वर का लोप, मध्य स्वर का लोप तथा अन्त स्वर का लोप।

आदि स्वर लोप—शब्द के आदि स्वर का लुप्त होना आदि स्वर लोप है। जैसे, अनाज का नाज, अधेला का धेला, अमावस का मावस।

कारण—आदि स्वर-लोप के कारणों में शीघ्र बोलना, उच्चारण-सुविधा, प्रयत्न लाघव, स्वराघात आदि प्रमुख हैं।

(१) शीघ्रता से बोलने के कारण अमावस का मावस, अनाज का नाज हो जाता है।

(२) आभ्यन्तर से भीतर शब्द के बनने में आ नामक आदि स्वर का लोप शब्द के बीच में बल के कारण हैं।

(३) अतिसी से तीसी, उपविष्ठ से बैठ में आदि स्वर का लोप प्रयत्न-लाघव के कारण है।

(४) अपि से भी तथा अरघट्ट से रहट बनने में आदि स्वर का लोप बलाघात के कारण है। पि तथा र के स्वरों पर बलाघात है।

मध्य स्वर लोप—शब्द के बीच में से स्वर का लुप्त हो जाना मध्य स्वर-लोप है। जैसे, बलदेव का बल्देव, चलता का चल्ता, सकता का सक्ता, कपड़ा का कप्ड़ा, कृपया का कृप्या।

कारण—कभी-कभी शीघ्रता से बोलने के कारण शब्द के मध्य स्वर का लोप हो जाता है। जैसे बदरीदास का बद्रीदास, जियादह का ज्यादह, होटेल का होटल।

(२) कभी-कभी किसी शब्द में आखिरी या उपान्त्य स्वर पर बलाघात पड़ने के कारण उसके पूर्व का स्वर लुप्त हो जाता है। जैसे, चल्ता, सक्ता, तर्बूज़ में हलन्त व्यंजनों के स्वर उसके बाद के स्वर पर बलाघात पड़ने के कारण लुप्त हो गये हैं। चल्ता, सक्ता में आखिरी स्वर आ पर बलाघात है। इसलिये ल और क का स्वर लुप्त हो गया है। इसी प्रकार तरबूज़ में उपान्त्य स्वर पर बलाघात है। इसीलिये र का अ लुप्त हो गया है।

अन्त स्वर लोप—शब्द के अन्त का स्वर निकल जाना अन्तस्वर लोप कहलाता है। जैसे दूर्वा से दूब, चन्द्रभानु से चन्नरभान, रीति का रीत्, सब का सब्, चल का चल्, कलम का कलम्।

कारण—कभी-कभी मुख-सुख के लिये अन्त स्वर का लोप हो जाता है। जैसे दूर्वा से दूब, चन्द्रभानु से चन्नरभान में अन्तस्वर का लोप मुख-सुख के लिये हुआ है। रीति से रीत्, सब से सब्, चल से चल् में अन्त स्वर का लोप शब्द के आदि स्वर पर बलाघात पड़ने के कारण हुआ है। इसी प्रकार किसान में स पर बलाघात है। अतः उच्चारण में न् का अ लुप्त हो जाता है।

अक्षर-लोप—जैसे शब्द में से स्वर और व्यंजन का लोप होता है तदवत् शब्द में से अक्षर अथवा पूरी लयान्विति निकल जाती है।

अक्षर-लोप के चार भेद हैं—

(१) आदि अक्षर-लोप।

(२) मध्य अक्षर-लोप।

(३) अन्त अक्षर-लोप।

(४) समाक्षर-लोप।

आदि अक्षर-लोप—शब्द के आदि अक्षर का निकल जाना आदि अक्षर-लोप है। जैसे त्रिशूल का शूल। इसका कारण प्रयत्न-लाघव है। उच्चारण में प्रयत्न बचाने की दृष्टि ने ही त्रिशूल से 'त्रि' को गायब कर दिया।

मध्य अक्षर-लोप—शब्द के मध्य अक्षर का निकल जाना मध्य अक्षर-लोप है। जैसे, शादबाश से शाबाश, भंडागार से भंडार, राजपुत्र से राउर, गेहूँ-चना से गोचना। इसका मुख्य कारण किसी शब्द का शीघ्रता से

बोलना है। जल्दी से बोलने के कारण उपर्युक्त शब्दों के मध्य अक्षर लुप्त हो गये हैं।

अन्त अक्षर-लोप—किसी शब्द में से अन्त अक्षर का निकल जाना अन्त अक्षर-लोप है। जैसे, मौक्तिक से मोती। इसका कारण प्रयत्न-लाघव है।

समाक्षर लोप—जब किसी शब्द में एक स्थान से उच्चरित होने वाले दो व्यंजन एक ही स्थान पर आ जायें अथवा एक ही व्यंजन दो बार आ जाय तो उनमें से एक लुप्त हो जाता है। जैसे, नाककटा से नकटा, part time से partime। शेववृद्ध से शेवृद्ध, कृष्णनगर से कृष्नगर। इसका कारण उच्चारण की असुविधा ही है। इस असुविधा को दूर करने के लिए समाक्षर लुप्त कर दिया जाता है।

लयान्विति लोप के तीन भेद हैं। आदि लयान्विति-लोप, मध्य लयान्वित लोप तथा अन्त लयान्वित-लोप।

आदि लयान्वित-लोप—शब्द की आदि लयान्विति का निकल जाना आदि लयान्विति-लोप है। जैसे बदबू का बू, ऐरोप्लेन का प्लेन, बाइसिकिल का साइकिल, University का versity।

कारण—आदि लयान्विति के लोप का कारण प्रयत्न-लाघव है।

मध्य लयान्विति-लोप—मध्य लयान्विति का निकल जाना मध्य लयान्विति-लोप है। जैसे, मास्टर साहब का उच्चारण कुछ लोग जल्दी में मास्साब करते हैं। यहाँ मध्य लयान्विति 'टर' का लोप हो गया है और इस मध्य लयान्विति-लोप का कारण शीघ्रता से बोलना है।

अन्त लयान्विति-लोप—शब्द की अन्त लयान्विति का लुप्त हो जाना अन्त लयान्विति-लोप है। जैसे माता का माँ, पानीयम् का पानी। इसका कारण भी प्रयत्न लाघव ही जान पड़ता है।

वर्णविपर्यय—किसी शब्द में किसी स्वर, व्यंजन, अक्षर एवं लयान्विति के उलट-फेर को वर्ण-विपर्यय कहते हैं। जब कोई विपर्यय विशेष समाज द्वारा गृहीत हो जाता है तब वह भाषा का अंग बन जाता है। वर्णविपर्यय के कारणों में उच्चारण में शीघ्रता, असावधानी, अज्ञान, प्रमाद, हँसी-विनोद आदि प्रमुख हैं। विपर्यय के प्रमुख चार भेद हैं :—स्वर-विपर्यय, व्यंजन-विपर्यय, अक्षर-विपर्यय तथा लयान्विति-विपर्यय।

स्वर-विपर्यय—किसी शब्द में स्वर की अदला बदली अर्थात् आदि स्वर का अन्त में अन्त का आदि में अथवा लम्बे शब्दों में आदि के पार्श्ववर्ती स्वर का दूर जाना और दूर के स्वर का शब्द के बिल्कुल आरंभ में तो नहीं

वरन् उसके पास पहुँचना स्वर-विपर्यय कहा जाता है। इसके चारों भेद नीचे उदाहरण सहित दिये जाते हैं।

१—आदि स्वर-विपर्यय

कुछ का कछू। प्रथमतः इसका कारण असावधानी है। असावधानी से किसी ने कुछ का कछू उच्चारण किया। बाद में मिथ्यानुकरण होने लगा।

२—अन्त स्वर-विपर्यय

लज्जा से लाज, चन्दा से चाँद, इसका कारण अज्ञान या अनाडीपन है।

३—पास के स्वर में विपर्यय

ससुर से सुसर, इसका प्रथम कारण शीघ्रता है। जल्दी में किसी ने ससुर का सुसर उच्चारण कर दिया बाद में मिथ्यानुकरण होने लगा।

४—दूर के स्वर में विपर्यय

पागल से पगला, काजर से कजरा, दूर के स्वर-विपर्यय का कारण रीझ या खीझ है।

व्यंजन-विपर्यय—किसी शब्द में व्यंजन की अदला-बदली अर्थात् इधर का उधर हो जाना व्यंजन-विपर्यय है। शब्द के आदि व्यंजन-विपर्यय, मध्य व्यंजन-विपर्यय तथा अन्त व्यंजन-विपर्यय की दृष्टि से इसके ३ भेद हैं।

आदि व्यंजन-विपर्यय—कीचड़ से चीकड़, चाकू से काचू। इसका कारण उच्चारण में शीघ्रता है।

मध्यव्यंजन-विपर्यय—वाराणसी से बनारस, सिग्नल से सिन्गल, ब्राह्मण से बाम्हन। इसका कारण सुविधा या अज्ञान है। सिग्नल को सिंन्गल, ब्राह्मण को बाम्हन अनपढ़ लोग ही कहते हैं।

अन्त व्यंजन-विपर्यय—गृह से घर, चिह्न से चिन्ह, चिह्न से चिन्ह में विपर्यय का कारण अज्ञान है। गृह से घर में विपर्यय का कारण मुख-सुख या उच्चारण में सुविधा है।

अक्षर-विपर्यय—किसी शब्द में अक्षर की अदला-बदली अर्थात् इधर का उधर हो जाना अक्षर-विपर्यय है। इसके २ प्रमुख भेद हैं। पार्श्ववर्ती अक्षर-विपर्यय तथा दूरवर्ती अक्षर-विपर्यय।

पार्श्ववर्ती अक्षर-विपर्यय—किसी शब्द में पास के अक्षरों में अदला-बदली को पार्श्ववर्ती अक्षर-विपर्यय कहते हैं। जैसे, लखनऊ से नखलऊ, डूबना से बूड़ना, उसकाना से उकसाना, नुकसान से नुस्कान।

इसका कारण प्रथमतः जल्दी से बोलना रहा। बाद में अज्ञान से लोग मिथ्यानुकरण करने लगे। भोजपुरी में बूड़ना, उकसाना, नुस्कान बहुत बोला जाता है। आरंभ में इन शब्दों के विपर्यय का कारण तो जल्दी से बोलना था। बाद में अज्ञान या अन्धानुकरण हो गया।

दूरवर्ती अक्षर-विपर्यय—किसी शब्द में दूरवर्ती अक्षरों के विपर्यय को दूरवर्ती अक्षर-विपर्यय कहते हैं। मतलब से मतबल, तमगा से तगमा, डेस्क से डेक्स, जनरल से जरनैल।

इसका कारण भी जल्दी से बोलना तथा अज्ञान है। मतलब का मतबल तो उच्चारण की शीघ्रता से हुआ किन्तु डेस्क का डेक्स, जनरल का जरनैल अज्ञान के कारण हुआ।

लयान्विति विपर्यय—लयान्विति विपर्यय का उदाहरण कथित भाषा में ही प्रायः मिलता है। जैसे, दालभात का भातदाल, चौका-चूल्हा का चूला-चौका। इस प्रकार का विपर्यय भी प्रायः जल्दी से बोलने के कारण ही होता है।

बच्चे अक्षर विनोद से बोलते समय नामों की लयान्विति में विपर्यय कर देते हैं। राममूर्ति का मूर्तिराम, राजाराम का रामराजा कर देते हैं। हरिऔध जी ने अपने इस उपनाम में अर्थ की दृष्टि से पर्यायवाची शब्द लेकर अपने नाम की लयान्विति का विपर्यय कर दिया।

वर्ण विकार—किसी शब्द में जब एक वर्ण के बदले दूसरा वर्ण आ जाता है तो उसे वर्ण विकार कहते हैं। इसके भीतर सावर्ण्यीकरण, असावर्ण्यी-करण, संधिज विकार, अभिमात्रण, ह्रस्वीकरण, दीर्घीकरण, अल्पप्राणीकरण, अपश्रुति, अनुनासीकरण, ऊष्मीकरण, घोषीकरण, अघोषीकरण, मूर्धन्यीकरण, दन्त्यीकरण, तालव्यीकरण, कंठ्यीकरण का समावेश किया जाता है। बहुत से वर्ण विकार तो भाषा के प्रवाह में अपने आप काल के अन्तर से उत्पन्न हो जाते हैं। इनके लिए भाषा को विशेष परिस्थिति की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार के वर्ण विकार को स्वयंभू या अनकन्डिशनल (spontaneous) कहते हैं। उनके प्रमुख कारण निम्निलिखित हैं।

१—कभी कभी शब्द या अर्थ की ठीक जानकारी न होने के कारण वर्ण विकार हो जाता है। जैसे, छात्र को अज्ञान से लोग त्रात्र उच्चारित करते हैं।

२—मुख-सुख या उच्चारण-सुविधा से वर्ण विकार सबसे अधिक संख्या में उत्पन्न होते हैं। जैसे, शाक से साग।

३—सुनी हुई ध्वनि को मुँह से ठीक ठीक तरह से निकालने की क्षमता न रहने से। जैसे, प्रकाश को परगास, आर्टस कालिज से आठ कालिज।

४—कभी कभी उच्चारण सम्बन्धी अवयव में भिन्नता होने से वर्ण-विकार उत्पन्न होता है। जैसे, कुछ लोग उच्चारण सम्बन्धी किसी अवयव की विकृति के कारण ष् श् स् तीनों का उच्चारण स् के रूप में ही करते हैं। महाशय को महासय, श्रीमान को सीमान उच्चारित करते हैं। वाग्यंत्र की विकृति से कुछ लोगों के उच्चारण में अनुनासिकता आ जाती है।

५—जलवायु की भिन्नता से भी वर्ण-विकार उत्पन्न होता है। जैसे, मूल भारोपीय शब्दों में संस्कृत, अवस्ता, ग्रीक, लेटिन, गाथिक आदि भाषाओं के क्षेत्रों में जलवायु की भिन्नता से वर्ण-विकार भिन्न भिन्न प्रकार का हो गया है। यह वर्ण-विकार भारोपीय भाषाओं में ग्रीक नियम तथा तालव्यीकरण नियम सम्बन्धी अनेक ध्वनिपरिवर्तनों में दिखाई पड़ता है।

६—कविता में तुक बैठाने के लिए कवि लोग शब्दों में वर्ण-विकार उत्पन्न कर देते है। जैसे, 'पिता दीन मोहिं कानन राजू।' इसमें राज का ध्वनि परिवर्तन राजू हो गया है।

७—स्वराघात से भी कभी कभी ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। जैसे, अपश्रुति में बुध से बोध, बौद्ध।

८—प्यार, क्रोध या घृणा से भी वर्ण-विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे, राम को रामू तथा श्याम को सामू प्रेम से कह देते हैं। इसी प्रकार संजय को संजू में बदल देते हैं।

९—दूसरी भाषा के सम्पर्क से भी वर्ण-विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे, अंग्रेजी का राशन हिन्दी में रासन हो गया।

१०—लिखने में गड़बड़ी होने से भी धीरे धीरे वही शब्द गृहीत हो जाता है और लिखने में वर्ण-विन्यास की त्रुटि होने से उच्चारण में भी वर्ण-विकार उत्पन्न हो जाता है। मेरे बच्चों के प्राइमरी स्कूल के अध्यापक जिनकी मातृभाषा महाराष्ट्री है सिंह को सींग लिखते हैं, लिखने की इस गड़बड़ी के कारण वे इसका उच्चारण भी सींग करते हैं। मेरे बच्चे भी अपने अध्यापक का अनुकरण कर सिंह को सींग लिखने लगे। फलतः उनके उच्चारण में विकार आ गया। और वे प्रयत्न करने के बावजूद भी सिंह का उच्चारण सींग ही करते हैं। बनारस के दूकानदार जय राम जी को अपनी दकानों में जैराम जी लिखते हैं। फलतः उनके बच्चे जय का उच्चारण जै करते हैं।

११—सादृश्य के आधार पर अर्थात् एक सी ध्वनियों के साथ मेल बिठाने के कारण भी वर्ण-विकार उत्पन्न हो जाता है। पढ़न्त, गढ़न्त के आधार पर श्रीमान से श्रीमंत हो गया।

१२—दूसरी भाषा या बोली के शब्द का रूप अपनी बोली की ध्वनि पर ढाल कर बनाने से भी वर्ण विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे, गाँव के लोग आनरेरी कोर्ट को अँधेरी कचहरी, एडवांस को अठवांस कहते हैं।

१३—शब्द को ठीक ठीक जाने बिना पाण्डित्य-प्रदर्शन की वृत्ति से भी वर्ण विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे, जनाब को ज़नाब कहने में।

१४—हल्के व्यंजनों के निकलने से भी कभी-कभी वर्ण विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे पहला का पैला। हल्के व्यंजन ह् के निकल जाने से प के अ में विकार उत्पन्न होकर ऐ हो गया।

अब नीचे वर्ण-विकार के विभिन्न भेदों पर कारण सहित विचार किया जायगा—

सावर्ण्यीकरण—कभी-कभी जब दो ध्वनियाँ एक साथ मिलकर या पास पास आती हैं तो उनमें से एक अपने पास वाली ध्वनि से प्रभावित हो कर उसके सदृश हो जाती है। ध्वनि-परिवर्तन की इस प्रक्रिया को सावर्ण्यीकरण कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं पूर्व सावर्ण्यीकरण तथा पर सावर्ण्यीकरण।

पूर्वसावर्ण्यीकरण—जिसमें पूर्व वर्ण के अनुसार परवर्ण परिवर्तित हो जाय उसे पूर्व सावर्ण्यीकरण कहते हैं। जैसे, उज्वल से उज्जल, चक्र से चक्क, सपत्नी से सवत्तो, अग्नि से अग्गि, वैराग्य से वैराग्ग, तत्त्व से तत्त, योग्य से योग्ग, अश्व से अस्स।

पर सावर्ण्यीकरण—जिसमें पर वर्ण के अनुसार पूर्ववर्ण परिवर्तित हो जाय उसे परसावर्ण्यीकरण कहते हैं। जैसे कर्म से कम्म, रक्त से रत्त, शर्कर से शक्कर, खड्ग से खग्ग।

कारण—इसका कारण मुख सुख अथवा उच्चारण-सुविधा है। कभी कभी विभिन्न स्थानों से उच्चरित होने वाले दो संयुक्त व्यंजनों के बीच इतनी अल्प विवृत्ति रहती है कि उनके उच्चारण में असुविधा होती है। अतः सबल ध्वनि अपनी परध्वनि को तथा यदि परध्वनि सबल हुई तो अपनी निर्बल पूर्वध्वनि को अपने अनुसार परिवर्तित कर लेती है। चक्र में क सबलध्वनि है। इसलिए वह अपनी परध्वनि र को जो निर्बल कोटि की है अपने में अर्थात् क में परिवर्तित कर देती है। कर्म में परध्वनि 'म' सबल है। अतः वह अपनी पूर्व निर्बल ध्वनि र को अपने में बदल कर कम्म बना देती है।

असावर्ण्यीकरण या विषमीकरण—जब किसी शब्द में दो वर्ण समान या सजातीय होते हैं तो उनमें से निर्बल वर्ण लुप्त अथवा परिवर्तित हो जाता है। यह प्रक्रिया सावर्ण्यीकरण के ठीक विपरीत है। जिस प्रकार सावर्ण्यीकरण में ध्वनियाँ परस्पर सदृश तथा सहधर्मी होने की चेष्टा करती हैं उसी प्रकार असावर्ण्यीकरण में असदृश।

कारण :—इसका कारण यह है कि सदृश ध्वनियों का बार बार उच्चारण करने से असदृश ध्वनियों का उच्चारण करना सहज हो जाता है। एक ध्वनि के उत्पादन के लिए जो प्रयत्न अपेक्षित होता है उसे एक दम वैसे ही फिर करना कठिन हो जाता है। दो समान अथवा सजातीय ध्वनियों को एक साथ उच्चारण करने में भाषणावयवों को एक सा होने के कारण एक प्रकार की थकान सी प्रतीत होती है। अतः निर्बल वर्ण लुप्त या परिवर्तित हो जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि जब एक वाक्य के कई शब्दों में एक सी कई ध्वनियाँ होती हैं तो उनके उच्चारण में अशुद्धि हो जाती है। समान ध्वनियों की पुनरावृत्ति होने के कारण उच्चारण में उलझन होती है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह सिद्ध हुआ कि मुख-सुख या उच्चारण-सुविधा ही असावर्ण्यीकरण का मुख्य कारण है।

असावर्ण्यीकरण के दो मुख्य भेद हैं :—पूर्व असावर्ण्यीकरण तथा पर असावर्ण्यीकरण।

पूर्वअसावर्ण्यीकरण :—जब पूर्व वर्ण के अनुसार पर में विकार उत्पन्न हो कर असावर्ण्य उत्पन्न हो जाता है उसे पूर्व असावर्ण्यीकरण कहते हैं जैसे पिपासा से प्यासा, कंकण से कंगन, काक से काग, पुरुष से पुरिस।

परअसावर्ण्यीकरण :—जब पर वर्ण के अनुसार पूर्व में विकार उत्पन्न हो कर असावर्ण्य उत्पन्न हो जाता है उसे परअसावर्ण्यीकरण कहते हैं। जैसे, मुकुट से मउड, नुपुर से नेउर, लांगूल से नंगुल, प्राकृत दरिद्र से दलिद्र।

संधिज-विकार—प्रयत्न लाघव उच्चारण की सुविधा, भाषा के स्वाभाविक विकास अथवा जल्दी बोलने से जब एक शब्द के भीतर आने वाली दो ध्वनियाँ आपस में मिलकर अपने में से किसी स्वर या व्यंजन को निकाल फेंकती हैं या उनमें कुछ हेर फार कर देती हैं तो इस प्रकार के ध्वनि-विकार को संधिज विकार कहते हैं। नयन से नइन, नइन से नैन, चामर से चवँर, चँवर से चँउर, चँउर से चौंर। सपत्नी—सवत्ती—सवत—सउत—सौत।

कुछ व्यंजन उच्चारण में स्वर के समीप होने के कारण स्वर में परिवर्तित हो जाते हैं। और कभी कभी अपने पूर्व व्यंजन में भी मिल जाते हैं। जैसे, य और व क्रमशः इ और उ में बदल जाते हैं। इस प्रकार के विकार को सम्प्रसारण कहते हैं। जैसे शत—सअ—सव—सउ से सो फिर सौ।

सव से सउ के परिवर्तन में व का उ सम्प्रसारण की प्रक्रिया से घटित होता है। इसी प्रकार नयन से नइन के परिवर्तन में य का इ हो जाना सम्प्रसारण के ही कारण हैं। सम्प्रसारण की प्रक्रिया प्रायः भाषा के स्वाभाविक विकास में घटित होती है और कभी कभी इस प्रक्रिया में स्वराघात कार्य करता है।

कभी कभी एक शब्द की दो लयान्वितियाँ मिल कर संधिज विकार उत्पन्न करती हैं। संस्कृत व्याकरण में इस प्रकार की संधियों के ३ भेद हैं। स्वर संधि, व्यंजन संधि तथा विसर्ग संधि।

स्वर संधि के भी ४ भेद हैं। दीर्घ संधि, यण संधि, गुण संधि तथा वृद्धि संधि।

(१) **दीर्घ संधि**—यदि एक ही स्वर के ह्रस्व या दीर्घ रूप एक शब्द की दो लयान्वितियों के योग के कारण साथ साथ आजायँ तो दानों स्वरों के स्थान पर दीर्घ स्वर हो जाता है। जैसे, रत्न+आकर=रत्नाकर। महा+आशय =महाशय। गिरि+ईश=गिरीश। जानकी+ईश=जानकीश।

(२) **गुण संधि**—यदि इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, के आगे कोई विजातीय स्वर आवे तो वे क्रमशः य, व, र, ल, में परिणत हो जाते हैं। जैसे, इति+आदि=इत्यादि, सु+आगत=स्वागत, पितृ+आज्ञा=पित्राज्ञा।

(३) **गुण संधि**—अ या आ के आगे इ या ई हो तो दोनों मिलकर ए, उ या ऊ हो तो दोनों मिलकर ओ, ऋ हो तो अर हो जाता है।

जैसे, सुर+ईश=सुरेश, सूर्य+उदय=सूर्योदय, महा+उत्सव=महोत्सव, महा+ऋषि=महर्षि।

(४) **वृद्धि संधि**—यदि किसी शब्द में अ या आ के बाद ए या ऐ हो तो दोनों के स्थान पर ऐ; और ओ या औ हो तो दोनों के स्थान पर औ हो जाता है। इसे वृद्धि संधि कहते हैं। सदा+एव=सदैव, मत+ऐक्य= मतैक्य, महा+औषधि=महौषधि।

यदि ए, ऐ, ओ, औ के पश्चात् कोई भिन्न स्वर आवे तो इनके स्थान पर क्रमशः अय, आय्, अव, आव् हो जाता है। जैसे, ने+अन=नयन। गै+अन=गायन। पौ+अक=पावक, नौ+इक=नाविक।

व्यंजन संधि—यदि किसी शब्द में किसी व्यंजन ध्वनि के पश्चात् कोई दूसरी स्वर ध्वनि आवे तो दोनों के मिलने से प्रथम व्यंजन अपना रूप बदल देता है और स्वर ध्वनि उसमें मिल जाती है; और व्यंजन ध्वनि के पश्चात् यदि व्यंजनध्वनि ही आये तो प्रथम व्यंजनध्वनि परिवर्तित हो कर दूसरी व्यंजनध्वनि में मिल जाती है। जैसे, जगत्+ईश=जगदीश। जगत्+नाथ =जगन्नाथ।

व्यंजन संधि के कुछ नियम—(१) यदि क च ट प के बाद अनुनासिक के अतिरिक्त कोई दूसरी घोषध्वनि हो तो इनके स्थान पर क्रमशः ग, ज, ड, ब, हो जाता है। जैसे, दिक्+गज=दिग्गज। अच्+अन्त=अजन्त षट्+आनन=षडानन, अप्+ज=अब्ज।

(२) यदि शब्द में क च ट त प के बाद यदि कोई अनुनासिक व्यंजन हो तो इनके स्थान पर क्रमशः ङ, ञ, ण, न, म, हो जाता है। जैसे, वाक्मय =वाङ्मय, जगत+नाथ=जगन्नाथ।

यदि त या द के बाद च या छ हो, तो त या द के स्थान पर च ज; या झ हो तो ज्; ट या ठ हो तो ट्; ड या ढ हो तो ड और ल हो तो ल् हो जाता है।

जैसे उत्+चारण=उच्चारण, सत्+जन=सज्जन तत्+लीन= तल्लीन।

यदि त के बाद ग, घ, द, ध, ब, भ, य, र, व या कोई अन्य स्वर आवे तो त् का द् हो जाता है। जैसे, चित्+आनन्द=चिदानन्द, जगत्+ईश= जगदीश। उत्+गम्=उद्गम। तत+भव=तद्भव।

विसर्ग सन्धि—विसर्ग के पहले यदि अ हो और बाद में अ या कोई घोष व्यंजन हो तो विसर्ग और उसके पहले का अ दोनों मिल कर ओ हो जाते हैं। और बाद वाले अ का (यदि हो ता) लोप हो जाता है। जैसे, अधः +गति=अधोगति, मनः+योग=मनोयोग। मनः+अनुकूल=मनोनुकूल।

(२) विसर्ग के बाद यदि श, ष या स हो तो दोनों ज्यों के त्यों रहेंगे या विसर्ग का लोप हो जायगा और बाद वाले व्यंजन का द्वित्व हो जायगा। जैसे, दुः+शासन=दुश्शासन या दुःशासन। निः+सन्देह=निस्सन्देह या निःसन्देह।

(३) यदि विसर्ग के पहले अ आ को छोड़कर कोई अन्य स्वर हो और आगे कोई घोष ध्वनि हो तो विसर्ग के स्थान पर र् हो जाता है। जैसे निः+ आशा=निराशा। दुः+उपयोग=दुरुपयोग। निः+गुण=निर्गुण।

हिन्दी-सन्धि के कतिपय उदाहरण—संधि के कारण एक ध्वनि का परिवर्तन।

र्+ल=ल्ल =चोर ले गया =चोल्ले गया

र+ड=ड्ड =मार डालो =माड्डालो

ध+स=स्स =आध् सेर =आस्सेर

२—संधि के कारण दोनों ध्वनियों का मिलकर एक हो जाना।

सब+ही=सभी

अब+ही=अभी

कब+ही=कभी

जब+ही=जभी

३—संधि के कारण एक ध्वनि का लुप्त हो जाना।

यह+ही=यही

उस+ही=उसी

इस+ही=इसी

४—संधि के कारण कुछ विचित्र परिवर्तन।

मूसल+धार=मूसलाधार

यहाँ+ही=यहीं

कहाँ+ही=कहीं

जहाँ+ही=जहीं

वहाँ+ही=वहीं

ले+लो=ल्यो

दे+ऊँ=दूं।

दे+दो=द्यो। (भोजपुरी में)

अनुनासीकरण—किसी शब्द में जब किसी ध्वनि का उच्चारण नासिका-विवर से प्रश्वास निकालते हुये होता है तब उसमें अनुनासिकता आ जाती है। अर्थात् ध्वनियों को नकिया कर बोलना अनुनासीकरण है। अनुनासिक ध्वनियों से संयुक्त तद्भव शब्दों के तत्सम रूपों में अनुनासिकता नहीं रहती, पर उनके तद्भव रूपों में अथवा कुछ लोगों के बोलने में अनुनासिकता आ जाती है।

कारण—कुछ लोग अनुनासीकरण का कारण द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव मानते हैं, कुछ लोग स्वयंभू कारण बताते हैं। किन्तु ध्यान से विचार करने पर कुछ कारण मिल जाते हैं। जैसे, वंश से बाँस, ग्राम से गाँव, कंटक

से काँटा तथा चामर से चँवर, बिन्दी से बेंदी के तद्भव रूपों में अनुनासीकरण का कारण तत्सम रूपों में अनुस्वार या पंचम वर्ण की उपस्थिति है। उनके स्थान पर अनुनासिक ध्वनि का उपयोग अपेक्षाकृत सरल तथा सुविधाजनक होता है। इसीलिये हम देखते हैं कि कुछ ऐसे शब्द हैं जिनमें पंचम वर्ण की उपस्थिति के कारण उनके पार्श्ववर्ती स्वरों में बोलने में अनुनासिकता का प्रवेश हो रहा है। यह दूसरी बात है कि उनके लिखने में अभी अनुनासिकता का प्रयोग नहीं होता। जैसे, नाम, काम, राम तथा आम शब्दों के उच्चारण में आरम्भिक स्वर पर अनुनासिकता आ रही है। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनमें वर्ग का पंचम वर्ण या अनुस्वार नहीं है फिर भी उनके उच्चारण में अनुनासिकता का प्रवेश हो रहा है। जैसे, सर्प से साँप, सत्य से साँच, कूप से कुआँ। इसका कारण कभी कभी भाषा का स्वाभाविक विकास तथा कभी-कभी मुख-सुख रहता है। कभी-कभी उच्चारणावयव में दोष रहने के कारण भी कुछ लोग कुछ शब्दों के अन्तिम वर्ण को नकिया कर बोलते हैं। जैसे, मेरे एक परिचित मित्र चाहिए का चाहिएँ उच्चारण करते हैं। कभी-कभी अज्ञान या मिथ्यानुकरण के कारण भी ध्वनियों में अनुनासिकता आ जाती है।

अल्पप्राणीकरण :—किसी शब्द में महाप्राण वर्ण का अल्पप्राण वर्ण में परिणत हो जाना अल्पप्राणीकरण है। जैसे, सिन्धु का हिन्दु या हिन्द्।

कारण—इसका कारण कभी भाषा की निराली ध्वनि-प्रवृत्ति है तथा कभी मुख-सुख। जैसे, पंजाबी भाषा में महाप्राण वर्ण प्रायः अल्पप्राण वर्ण में परिणत हो जाते हैं। इसका मूल कारण पंजाबी भाषा की निराली ध्वनि-प्रवृत्ति है। उदाहरणार्थ, पंजाबी में धेनु का देनु, साँझ का साँज, बंध्या का बाँज हो जाता है। ग्रासमैन नियम के अनुसार भी कुछ आर्य भाषाओं में महाप्राण वर्ण की जगह अल्पप्राण वर्ण आ जाते हैं। जैसे, संस्कृत में धधामि का दधामि, भोधामि का बोधामि हो जाता है। कभी कभी मुख-सुख के लिये भी लोग महाप्राण वर्ण को अल्पप्राण करके बोलते हैं।

....

महाप्राणीकरण—अल्पप्राण ध्वनि के स्थान पर जब महाप्राण ध्वनि का प्रयोग होता है तब इस वर्ण-विकार को महाप्राणीकरण कहते हैं।

कारण—(१) ऊष्म ध्वनि के संसर्ग के कारण प्रायः अल्पप्राण ध्वनियाँ महाप्राण ध्वनियों में परिणत हो जाती हैं। जैसे, गृह से घर, हस्त से हाथ, पृष्ट से पीठ, धृष्ट से ढीठ, वेश से भेस।

(२) कहीं कहीं महाप्राणीकरण भाषा की ध्वनि संबंधी निराली प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होता है। जैसे, तामिल में सीताराम को सीथाराम कहते हैं।

(३) कुछ महाप्राणीकरण स्वयंभू कोटि के होते हैं, अर्थात् भाषा के विकास-प्रवाह में कालभेद से उत्पन्न हो जाते हैं।

जैसे—कल्य=काल=काल्ह।

(४) कभी कभी सावर्णीकरण की प्रक्रिया में मुखसुख के कारण महा-प्राणीकरण नामक ध्वनिविकार उत्पन्न हो जाता है।

जैसे, विभूत का भभूत।

घोषीकरण :—अघोष ध्वनियों के स्थान पर घोष ध्वनियों के प्रयोग को घोषीकरण कहते हैं। जैसे—शाक का साग, शती का सदी, बापू का बाबू, कीट का कीड, रचति का रजति फिर रजति का राजति।

कारण—(१) भाषा-विशेष की ध्वनि सम्बन्धी विशिष्ट प्रवृत्ति के कारण भी घोषीकरण नामक ध्वनि-विकार उत्पन्न होता है। जैसे—प्राकृत भाषा की यह निराली ध्वनि-प्रवृत्ति है कि—उसमें संस्कृत की क च ट त प ध्वनियाँ क्रमशः ग ज ड द ब का रूप धारण कर लेती हैं।

(२) कभी-कभी उच्चारण की सुविधा के लिये भी अघोष ध्वनियों के स्थान पर घोष ध्वनियाँ आ जाती हैं। जैसे—प्रकाश का उच्चारण साधारण जन परगास करते हैं।

(३) श्रुति मधुर बनाने की प्रवृत्ति के कारण भी कठोर वर्ण कोमल घोष वर्ण के रूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे—सकल का सिगरो, एकादश का ग्यारह।

अघोषीकरण—किसी शब्द में घोष ध्वनियों के स्थान पर अघोष ध्वनियों के प्रयोग को अघोषीकरण कहते हैं।

कारण—(१) भाषा की विशिष्ट ध्वनि-प्रवृत्ति के कारण भी घोष ध्वनियों के स्थान पर अघोष ध्वनियाँ आ जाती हैं। जैसे—पैशाची भाषा में यह प्रवृत्ति पाई जाती है। उदाहरणार्थ, पैशाची भाषा में वारिदः का वारितो, नगर का नकर' गगन का गकन और मेघ का मेख हो जाता है।

(२) कुछ बोलियों में भी कभी कभी कुछ शब्दों में घोष ध्वनियों के स्थान पर अघोष ध्वनियाँ आ जाती है। जैसे—खूबसूरत का खपसूरत मदद का मदत, परिषद का परिषत, मसजिद का मसीत। (भोजपुरी);

कारण—जब दो सजातीय ध्वनियाँ अति निकट हो जाती है तो शीघ्रता अथवा

असावधानी से उच्चारण करने के कारण एक के बदले दूसरी ध्वनि आ जाती है।

अतएव बोलियों में अघोषीकरण का कारण उपर्युक्त शब्दों के उच्चारण में शीघ्रता, असावधानी, या अन्धानुकरण दिखाई पड़ता है।

ह्रस्वीकरण—किसी शब्द में दीर्घ-स्वर के स्थान पर ह्रस्व स्वर का आना ह्रस्वीकरण है। जैसे—आकाश से अकास, बादाम का बदाम।

कारण (१) पहला कारण तो मुखसुख है। जब एक शब्द में दीर्घ स्वर दो बार आता है तो मुखसुख के लिये असावर्णीकरण की प्रक्रिया घटित होकर किसी एक दीर्घस्वर को ह्रस्व कर देती है। उपर्युक्त शब्दों में ह्रस्वीकरण का यही कारण है।

(२) कभी-कभी प्रयत्न लाघव के कारण भी ह्रस्वीकरण की प्रक्रिया घटित होती है। जैसे—बाहाङ्ग से बहँगी, तौल से तोल, दारोगा से दरोगा, बावर्ची से बवर्ची।

(३) स्वराघात के कारण भी कभी-कभी ह्रस्वीकरण की प्रक्रिया घटित होती है। किसी शब्द में जब किसी वर्ण का स्वर सबल हो जाता है तो वह दीर्घ हो जाता है तथा निर्बल स्वर ह्रस्व हो जाता है। अर्थात् ह्रस्वीकरण का एक प्रमुख कारण स्वर की निर्बलता है। जैसे, रमैया में र में ह्रस्व स्वर आ गया; इसका कारण स्वर का निर्बल होना है। जैसे—मीठा से मिठाई में मि में ह्रस्वीकरण का कारण म के स्वर का निर्बल पड़ना है।

दीर्घीकरण—किसी शब्द में किसी स्वर का ह्रस्वमात्रिक से दीर्घमात्रिक होना दीर्घीकरण है। जैसे—अधीन से आधीन, पुत्र से पूत, कश्मीर से काश्मीर, चिन्ह से चीन्ह।

कारण—किसी शब्द में स्वर के सबल होने के कारण ही ह्रस्वमात्रिक जाता है। शिक्षा से सीख, जिह्वा से दीर्घमात्रिक हो जीभ में ह्रस्व इ का दीर्घ रूप में परिणत हो जाना स्वर की सबलता के कारण है।

(२) कभी कभी अपढ़ लोग अनाड़ीपन के कारण जब किसी शब्द को बनकर बोलते हैं तो दीर्घीकरण हो जाता है। जैसे—चिह्न से चीन्ह

(३) कभी कभी भाषा के प्रवाह में भी ह्रस्व स्वर का दीर्घ स्वर हो जाता है। जैसे—पुत्र से पूत, नहीं से नाहीं, दवात से दावात।

(४) दूसरी भाषा के संपर्क से भी कभी कभी ह्रस्व का दीर्घ हो जाता है। जैसे, अँगरेजी मिल (Mill) शब्द हिन्दी में मील हो गया, अराजी अरबी शब्द हिन्दी में आराजी हो गया।

(५) लिखने की गड़बड़ी से भी कभी-कभी ह्रस्व का दीर्घ हो जाता है। जैसे, मराठी में सिंह को सींग लिखते हैं,.........।

अभिमात्रण—कभी कभी किसी शब्द में लुप्त हुए वर्ण के अभाव की पूर्ति के लिए स्वर का दीर्घीकरण हो जाता है। दीर्घीकरण की इस प्रक्रिया को अभिमात्रण नाम से अलग नाम दिया गया है। जैसे, अद्य से अज्ज फिर अज्ज का आज हो गया। अ का दीर्घीकरण ज के लोप के कारण हुआ है।

ऊष्मीकरण—इसका कारण भाषा की विशिष्ट ध्वनि-प्रवृत्ति है। इसी कारण कभी कभी किसी भाषा के किसी शब्द की कुछ ध्वनियाँ दूसरी भाषा में उष्मध्वनि बन जाती हैं। जैसे, लैटिन शब्द कैन्टुम् का संस्कृत में शतम् हो गया है। लैटिन की कंठ्यध्वनि क संस्कृत में ऊष्म ध्वनि श में परिवर्तित हो जाती है।

तालव्यीकरण—तालव्यीकरण की प्रक्रिया दूसरी भाषा के सम्पर्क में आने से विशिष्ट शब्दों की विशिष्ट ध्वनियों में घटित होती दिखाई पड़ती है। क्योंकि विदेशी भाषा बोलते समय लोग ध्वनियों की प्रकृति में परिवर्तन कर देते हैं। जैसे, खिदमत हिन्दी भाषा में खिजमत बन जाता है। द वर्ण का तालव्य ज वर्ण में परिणत होने का और कोई कारण नहीं है। केवल दूसरी भाषा का सम्पर्क है।

किसी किसी भाषा में तालव्य ध्वनियों की विशेष प्रवृत्ति होती है। जैसे, संस्कृत भाषा ने अपनी मूल भारोपीय भाषा की तुलना में तालव्य ध्वनियों के विकास की विशेष प्रवृत्ति दिखलाई। इस प्रकार के ध्वनि परिवर्तन के आधार पर एक प्रकार का विशेष ध्वनिनियम चला जिसे तालव्यीकरण का नियम कहते हैं। इसके अनुसार जब आदिम भाषा के कंठ्य वर्णों के बाद इ या ए स्वर आयेंगे तो संस्कृत में वे तालव्य वर्ण में बदल जायँगे। जैसे, मूल भाषा का क्वे सं० में च, मूलभाषा का ग्वीवोस संस्कृत में जीवः हो जाता है।

कंठ्यीकरण—शब्द में किसी विशिष्ट ध्वनि के स्थान पर कंठ्यध्वनि का आगमन कंठ्यीकरण है। जैसे, सं० षड़ानन का प्राकृत में खड़ानन हो गया है। इसका कारण प्राकृत भाषा की विशिष्ट ध्वनि-प्रवृत्ति है जिसके अनुसार संस्कृत की ष ध्वनि प्राकृत में ख ध्वनि में परिणत हो जाती है। यह दूसरी बात है कि प्राकृत भाषा की इस प्रवृत्ति के मूल में सरलीकरण या उच्चारण-सुविधा ही काम कर रही है।

मूर्धन्यीकरण—शब्द में किसी विशिष्ट ध्वनि के स्थान पर मूर्धन्य ध्वनि का आना मूर्धन्यीकरण है। जैसे, कैवर्त्त से केवत्त, केवट से केवट्ट केवट्ट से केवट

मूर्धन्यध्वनिका उच्चारण कठोरध्वनि होने के कारण अन्य ध्वनियों की अपेक्षाकृत कठिन है। अतः इसका कारण भाषा का स्वाभाविक प्रवाह ही माना जायगा।

दन्त्यीकरण—शब्द में किसी विशिष्ट ध्वनि के स्थान पर दन्त्य ध्वनि का आना दन्त्यीकरण है। जैसे, लवण-नवन,-नउन-नोन। ल के स्थान पर न का आना दन्त्यीकरण है। कुक्कुरः,-कुक्करः,-कुत्तरः यहाँ क ध्वनि के स्थान पर त ध्वनि का आना दन्त्यीकरण है; पर इसका कारण मुखसुख है। प्रक्रिया असावर्ण्यीकरण की है। कभी-कभी भाषा के स्वाभाविक प्रवाह के कारण भी दन्त्यीकरण की प्रक्रिया घटित होती है।

ध्वनि-परिवर्तन के कारण

भाषा के जीवन का लक्षण ही परिवर्तनशीलता है। भाषा की परिवर्तन-शीलता की प्रक्रिया से उसके सभी तत्त्वों—ध्वनि, शब्द, वाक्य तथा अर्थ में परिवर्तन होता रहता है। भाषा के ध्वनि-तत्त्व में परिवर्तन उसके अन्य तत्त्वों की अपेक्षा शीघ्रता से तथा अधिक मात्रा में होता रहता है। ध्वनि-परिवर्तन के विभिन्न भेदों तथा उसके स्वरूपों पर विचार करते समय उसके साथ ही प्रत्येक प्रकार के कारणों पर भी अलग-अलग विस्तार से विवेचन हो चुका है। अतः यहाँ ध्वनि-परिवर्तन के सभी कारणों पर सामूहिक रूप से विचार किया जायगा।

ध्वनि-परिवर्तन के मुख्यतः २ कारण होते हैं। पहले को स्वयंभू कारण कहते हैं जो भाषा के विकास-प्रवाह में काल-भेद से अपने आप उत्पन्न होता है। इसके लिए परिस्थिति जन्य आन्तरिक तथा बाह्य कारणों की आवश्यकता नहीं। दूसरे प्रकार के कारण परिस्थिति-जन्य होते हैं। परिस्थिति-जन्य कारणों को भी हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं। आन्तरिक कारण तथा बाह्य कारण। ध्वनि-परिवर्तन के वे कारण जो मनुष्य के मन में घटित होते हैं, जिनके लिए उनका मस्तिष्क उत्तरदायी है उन्हें आन्तरिक कहते हैं। इसके भीतर मुख-सुख, प्रयत्नलाघव, बोलने में जल्दी या हड़बड़ी, अपूर्ण अनुकरण, प्रमाद या असावधानी, अज्ञान या अशक्ति, सरलीकरण या कोमलीकरण की प्रवृत्ति, भावुकता, मिथ्यासादृश्य, बनकर बोलने की प्रवृत्ति, व्यंग्य-विनोद, मिथ्या-पांडित्य-प्रदर्शन आदि का समावेश किया जाता है।

ध्वनि-परिवर्तन के बाह्य कारण मनुष्य के मन के बाहर घटित होते हैं। इसके भीतर वागेन्द्रियों तथा श्रोत्रेन्द्रियों की भिन्नता, देश भेद, जाति-भेद, विजातीय सम्पर्क, राजनीतिक परिस्थिति, सांस्कृतिक क्रान्ति, सामाजिक सम्पर्क की विविधता, धार्मिक आन्दोलन, साहित्यिक प्रभाव, शब्द विशेष का अनावश्यक रूप से लम्बा होना, लिखने की गड़बड़ी, शब्दगत स्वराघात की भिन्नता, अलग अलग भौगोलिक परिस्थिति में पनपी भाषा की ध्वनि सम्बन्धी विशिष्ट प्रवृत्ति आदि का समावेश किया जाता है।

यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि ध्वनि-परिवर्तन के कारण अतीत कालीन भाषा की ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी सामग्री के अध्ययन के आधार पर

महासय, श्रीमान को स्रीमान उच्चारित करता था तो श्रोतागण हँस पड़ते थे और उसका सारा प्रभाव नष्ट हो जाता था। वह विद्यार्थी अपने इस दोष को जानता था, और मैंने भी उसके इस दोष को दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया किंतु उसके स्वरयंत्र में दोष होने के कारण उसका उच्चारण सम्बन्धी यह दोष कभी दूर नहीं हो सका।

राजसी तथा तामसी भोजन का भी मनुष्य के स्वरयंत्र पर काफी प्रभाव पड़ता है। इस तथ्य को दृष्टिपथ में रखते हुए प्राचीन आचार्यों ने वेद-पाठियों के लिये विशिष्ट भोजन का विधान किया है। जिससे उनके वेदपाठ में उच्चारण-दोष उत्पन्न न हो। भारतीय ध्वनि-शास्त्रियों ने ध्वनि-विकृति के कारण-रूप में शारीरिक विकृतियों का विस्तार से वर्णन किया है :—

न करालो न लम्बोष्ठो
नाऽव्यक्तो नानुनासिकः
गद्गदो बद्धजिह्वाश्च
न वर्णान वक्तुमर्हति।
अग्निपुराण — याज्ञ० शि० २४

बहुत चौड़े खुले मुँहवाला, लम्बे ओष्ठ वाला, बहुत लम्बे दाँत वाला, अस्पष्ट बोलनेवाला, नासिका दोष वाला, बँधी जिह्वा वाला-ध्वनियों का ठीक उच्चारण नहीं कर सकता।

वाग्यंत्र की भाँति श्रवणेन्द्रिय की विभिन्नता भी धीरे धीरे ध्वनि-परिवर्तन में सहायक होती हैं, क्योंकि कान से सुनने के पश्चात् ही कोई व्यक्ति सार्थक ध्वनियों का उच्चारण करता है। प्रायः श्रवणेन्द्रिय दूसरी भाषा की ध्वनियों को सुनने पर अपनी भाषा की ढलन पर उनका ग्रहण करती हैं। यही कारण है कि दूसरी भाषा की ध्वनियों का उच्चारण प्रायः लोग परिवर्तित ढंग से करते हैं। अंग्रेजी काफ़ी शब्द का उच्चारण सामान्य हिन्दुस्तानी काफी रूप में करता है। इसका कारण यह है कि उनके ध्वनि-यंत्र को स्पर्श ओष्ठ्य फ के उच्चारण की तथा श्रवणेन्द्रिय को उसके ग्रहण की आदत पड़ी हुई है। इसी कारण फारसी का बाज़ हिन्दी में बाज हो जाता है। सामान्य बंगाली में स को श तथा आकार को ओकाररूप में बोलने की प्रवृत्ति भी इसी का परिणाम है। यह कारण भी उपर्युक्त कारण की भाँति हास्यास्पद प्रतीत होता है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इसकी वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि यह कारण भी उपर्युक्त कारण के समान बहुत

कम अकेले कार्य करता है। प्रायः दोनों साथ चलते हैं, क्योंकि हम सुनकर ही सीखते और कहते हैं और फिर हमारा कहना सुनना सीख कर दूसरा बोलता है। इस प्रकार थोड़ा कहने में अन्तर, थोड़ा सुनने में अन्तर ध्वनियों में परिवर्तन ला देता है। स्वतंत्र रूप में भी श्रवणेन्द्रिय दोष का प्रभाव ध्वनि-परिवर्तन पर पड़ता है; जैसे, बहरे लोगों के उच्चारण प्रायः ठीक नहीं होते।

आनुवंशिक परम्परा (Heredity) में माता अथवा पिता में किसी प्रकार का उच्चारण दोष आ जाने के कारण उनके बच्चों के उच्चारण में भी वही दोष प्रायः आ जाता है।

जब शिक्षा का प्रभाव मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व पर अवश्यम्भावी कोटि का पड़ता है तब यह निश्चित है कि उच्चारण पर भी शिक्षा का प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि उच्चारण का ढंग भी तो मनुष्य के व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण अंश है। यदि शुद्ध उच्चारण करने वाला अध्यापक बच्चे को आरम्भिक कक्षाओं में मिला तब तो बच्चे का उच्चारण शुद्ध होगा, यदि अशुद्ध उच्चारण करने वाला अध्यापक मिला तो बच्चे का उच्चारण आरम्भ से ही अशुद्ध हो जायगा। इसीलिए कुतीर्थ से अध्ययन हमारे यहाँ वर्जित माना गया है। सकल शास्त्र विशारद किन्तु अशुद्ध उच्चारण करने वाले पुत्र को उसके वैयाकरण पिता की दी हुई सीख भी यही बताती है कि कुतीर्थ से पढ़ने वाले व्यक्ति की भाषा के उच्चारण में भी ध्वनि-परिवर्तन विचित्र कोटि का हो जाता है—यद्यपि बहुनाधीषे पठ पुत्र तथापि व्याकरणम्।

स्वजनः श्वजनो मा भूत सकलः शकलो सकृच्छकृतमपि।

तात्पर्य यह कि सकलशास्त्र विशारद होने पर भी कुतीर्थ से पढ़ने के कारण वह वैयाकरण पुत्र स का श उच्चारण करता था।

लिखने में गड़बड़ी होने के कारण अर्थात् वर्णविन्यास की अशुद्धि के कारण ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। जैसे—बनारस के व्यापारी जय राम जी को दुकानों में जै राम जी लिखने लगे। फलतः वहाँ जय का उच्चारण जै हो गया। लिखने की गड़बड़ी के कारण ही साहिब को हिन्दी वाले साहब लिखने लगे, किनारह किनारा हो गया, अवारह आवारा में बदल में गया। मराठी में हिन्दी शब्दों के ह्रस्व स्वरों का प्रायः दीर्घ स्वर हो जाता है। जैसे—वे लोग नागपुर को नागपूर, नीलगिरि को नीलगीरी लिखते हैं। फलतः कुछ दिनों में ह्रस्व स्वरों का उच्चारण उस शब्द के भीतर दीर्घ हो जाता है। मेरे बच्चों के

प्राइमरी स्कूल के अध्यापक जिनको मातृभाषा महाराष्ट्री है, सिंह को सींग लिखते हैं। फलतः उच्चारण भी वैसा ही करते हैं। इसका प्रभाव मेरे बच्चों के उच्चारण पर ऐसा पड़ा कि वे लाख समझाने पर भी सिंह का उच्चारण सींग रूप में ही करते हैं। इसी प्रकार कुछ शब्दों के दीर्घ स्वर महाराष्ट्री भाषा में ह्रस्व स्वर के रूप में लिखे जाते हैं। जैसे—मराठी लोग भरपूर को भरपुर लिखते हैं और बोलते भी हैं। उनके संपर्क में रहनेवाले सामान्य हिन्दी भाषा-भाषियों का उच्चारण भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। अनेक लिपियों में किसी दूसरी भाषा की सभी ध्वनियों को लिखने के लिए स्वतंत्र संकेत नहीं हैं। उन अल्प-ध्वनि वाली लिपियों में जब अधिक ध्वनियों वाली भाषा लिखी जाती है तब उन अधिक ध्वनियों का यथार्थ लेखन उनमें नहीं हो सकता। उस भाषा से अपरिचित व्यक्ति जब उस अशुद्ध लेख को पढ़ते हैं तो वे अशुद्ध उच्चारण भी करते हैं। वे अशुद्ध उच्चारण शनैः शनैः लोक में प्रसरित होकर ध्वनि-परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं। जैसे, अरबी में स और ज की बहुत सूक्ष्मातिसूक्ष्म ध्वनियाँ हैं। उन ध्वनियों से संबन्धित शब्द जब हिन्दी भाषा में लिखित या उच्चरित होते हैं तो हिन्दी में उपर्युक्त ध्वनियों के सूक्ष्म भेदों के अभाव के कारण प्रायः उच्चारण बदल जाता है। जैसे—इलज़ाम का इलजाम, जश्न का जस्न, क़ाग़ज़ का कागज। रोमन लिपि में राम और बुद्ध के अन्त में a (अ) अंकित होने के कारण कुछ लोगों द्वारा हिन्दी में भी ये शब्द रामा, बुद्धा उच्चरित होने लगे।

भौगोलिक परिस्थितियों से भी ध्वनि परिवर्तन उत्पन्न होता है। मनुष्य की शरीर रचना—विशेषतः गले की बनावट पर उस देश की जलवायु, प्राकृतिक दशा तथा उपज का बहुत प्रभाव पड़ता है। गले की बनावट में अंतर पड़ने से स्वरयंत्र के स्वरूप में भी अंतर पड़ जाता है। इसलिये भिन्न भिन्न देशों की भाषाओं में भिन्न भिन्न प्रकार की ध्वनियों की प्रधानता मिलती है। उदाहरणार्थ—शीत-प्रधान देशों के लोग शीताधिक्य के कारण अपने मुख अधिक नहीं खोल पाते इसलिये उनकी भाषा में विवृत ध्वनियों का विकास नहीं हो पाया। इसके ठीक विपरीत उष्ण प्रधान देशों में विवृत ध्वनियों का आधिक्य है। जैसे, भारत की भाषा में विवृत स्वरों की बहुलता है। इसी प्रकार शीत-प्रधान देशों की भाषाओं में संवृत स्वरों की अधिकता रहती है। उपजाऊ मैदानी भागों की भाषा पहाड़ी स्थानों की भाषाओं की तुलना में अधिक कोमल होती है। यदि इस तथ्य के उदाहरण के लिये मराठी

और बंगाली की तुलना की जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि मराठी जाति पहाड़ी तथा पठारी भागों में ज्यादातर रही इसलिये उसमें ध्वनियों को कठोर बनाने की प्रवृत्ति अधिक है। वे लोग प्रायः ल को ड़ के रूप में न को ण के रूप में, बोलते हैं। वे भवालकर को भवाड़कर, अडोनी को अडोणी सरलता से बोलते हैं। इसी प्रकार बंगाली लोग स ष श को श, अंग्रेज त को ट, स्कॉच लोग ट को ठ उच्चारित करते हैं। उक्त प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन स्थान-भेद के ही कारण होता है।

कभी कभी हम किसी मनुष्य विशेष की बोली सुनकर यह कह देते हैं—क्या आप असुक जिले अथवा प्रान्त के निवासी हैं? हम बिहारी, मराठी, बंगाली, मुरादाबादी, लखनवी, बनारसी, छत्तीसगढ़ी, बलियाटिक आदि मनुष्यों की बोली सुनते ही पहिचान लेते हैं कि वे कहाँ के निवासी हैं। यद्यपि भिन्न भिन्न स्थानों के शिक्षित मनुष्यों की भाषा में विशेष अन्तर नहीं होता तथापि उनके स्वर, लहजे आदि में कुछ भेद अवश्य होता है। यह स्थानीय स्वर-भेद अनपढ़ लोगों की बोली में अधिक स्पष्ट हो जाता है। यदि हम निकटवर्ती जिलों की प्राकृत भाषाओं की परस्पर तुलना करें तो यह स्वरभेद तथा ध्वनिभेद और अधिक स्पष्ट हो जायगा। इस स्थानानुगत ध्वनि-परिवर्तनशीलता का कारण यह है कि प्रत्येक स्थान अथवा देश की प्राकृतिक दशा, जलवायु तथा भोजन का वहाँ के निवासियों के शरीर-गठन और तदनुसार वाग्यंत्र पर एक विशेष प्रभाव पड़ता है, जो उनके उच्चारण में स्पष्ट प्रगट होता है। शब्दों की असाधारण लम्बाई, असाधारण लम्बे शब्दों को छोटा करने की चाह से भी शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता हैं। शब्दों की असाधारण लम्बाई नामक कारण अकेले नहीं कार्य करता। उसके साथ स्वराघात, शीघ्रता, सुविधा आदि कारण भी कार्य करते हैं। पर ये कारण तो अन्यत्र शब्दों की असाधारण लम्बाई के अभाव में भी कार्य करते हैं। इसलिए भारत योरोपीय से भारोपीय में, शुक्ल दिवस से सुदी में; यूनाइटेड स्टेट आफ् अमेरिका से यू०, एस० ए० में, चायगरम से चारम में जो ध्वनि-परिवर्तन हुआ है उसका सबसे मुख्य कारण शब्दों की असाधारण लम्बाई है।

विजातीय सम्पर्क :—जब विजातीय सम्पर्क से भाषा में परिवर्तन अनिवार्य रूप से होता ही है तब विजातीय सम्पर्क से शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन उपस्थित होना अवश्यम्भावी है। मैं जब देहाती लोगों के बीच जाता हूँ तब आकाश का उच्चारण बिना प्रयत्न के अकास हो जाता है। जब मौलाना से भेंट होती है तो तुरत आसमान कह देता हूं और फिर पढ़े-लिखे लोगों के बीच

तुरत मुँह से आकाश शब्द निकल आता है। जब कोई भाषा अपने बोलने वालों के साथ दूर देश में जाती है तो वहाँ की अन्य जातियों के सम्पर्क के कारण अपना व्यक्तित्व बदल देती है। व्यक्तित्व बदलने से उसकी ध्वनियों में भी परिवर्तन अपने आप हो जाता है। लैटिन भाषा रोम साम्राज्य के प्रभुत्व के साथ जब फ्रान्स, स्पेन, पुर्तगाल आदि देशों में पहुँची तो वहाँ की जातियों के सम्पर्क से भिन्न-भिन्न देशोंमें इसने भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व धारण किया जिससे एक लैटिन भाषा का स्वरूप उन भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न प्रकार का हो गया। उसकी ध्वनियों में भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न प्रकार का परिवर्तन हुआ। प्रभावशाली जाति या विजयी जाति द्वारा प्रयुक्त शब्दों के विकृत रूप भी पाराजित जाति में चालू हो जाते हैं। और इस प्रकार धीरे धीरे कई शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। जैसे, अंग्रेजों द्वारा मथुरा का Muttara, मुम्बापुरी का Bombey, हैदराबाद का हैडराबाड, दिल्ली का Delhi डेलही उच्चारण होने के कारण वही रूप अब भी अधिकांश मात्रा में व्यवहृत होता है। संस्कृत भाषा की अपेक्षा प्राकृत तथा अपभ्रंश में ध्वनि-विकारों की अधिकता, शब्द के अन्त में ड़ ड़ा लड़, आदि लम्बे प्रत्ययों का प्रयोग आभीर, गुर्जर आदि विदेशी आक्रमणकारियों के कारण है।

अफ्रीका के बुशमैन परिवार की भाषाओं की क्लिक ध्वनियाँ समीप के अन्य भाषा-वर्गों को प्रभावित कर रही हैं। भारोपीय भाषाओं में पहले ट वर्ग नहीं था। आर्यों के भारत में आने पर अनार्यों के प्रभाव से उनकी की वैदिक भाषा के ध्वनि समूह में उसका प्रवेश हुआ।

प्राचीनकाल में भारतवर्ष के पश्चिमी किनारे पर द्राविड़ों तथा अरबियों में अधिक व्यापार होता था। अतः अरबी तथा उसके द्वारा पाश्चात्य भाषाओं में जानेवाले अनेक द्राविड़ शब्द-विशेषतया भारत से बाहर जाने वाले पदार्थों के वाचक शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन हो गया है। जैसे, तामिल अरिसा अरबी में उर्ज तथा अंग्रेजी में rice हो गया है। ध्वनियों के विजातीय सम्पर्क-जनित उपयुक्त प्रभाव को कतिपय भाषा-वैज्ञानिकों ने विभाषा का प्रभाव बतलाया है।

कभी कभी भाषा की विशिष्ट ध्वनि-प्रवृत्ति के कारण भी ध्वनि-परिवतन हो जाता है। जैसे पैशाची भाषा में घोष ध्वनियों के स्थान पर अघोष ध्वनियों के प्रयोग की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस कारण पैशाची भाषा में वारिदः का वरितो, नगर का नकर, गगन का गकन हो जाता है। इस प्रकार की कुछ प्रवृत्ति भोजपुरी में भी पायी जाती है। जैसे, भोजपुरी में खूबसूरत का

खूपसूरत, मदद का मदत, परिषद का परिषत, मसजित का मसीत । उपर्युक्त सभी अघोष ध्वनियाँ जो उपर्युक्त शब्दों में घोष ध्वनियों के स्थान पर आई हैं प्रायः कर्णकटु ध्वनियाँ हैं । अतः यहाँ मुख-सुख या कोमलीकरण की प्रवृत्ति भी काम नहीं कर रही है । अतः यह निश्चित है कि उक्त भाषाओं में उपर्युक्त ध्वनिप्रवृत्ति किसी विशिष्ट कारण से आयी है । फलस्वरूप इस अघोषीकरण की प्रवृत्ति के कारण उक्त प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है । इसी प्रकार प्राकृत भाषा के शब्दों में संस्कृत की क,च,ट,त,प ध्वनियों के स्थान पर ग,ज,ड, द, ब ध्वनियाँ आ जाती हैं ।

सामाजिक सम्पर्क—आपस में मेल-जोल बढ़ने से गाँव के लोग रासन; मिलिश्टर कहने लगे । और इससे राशन का उच्चारण रासन, मिनिस्टर का मिलिश्टर हो गया । समाज की अवस्था के अनुसार भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है । यदि किसी समाज में किसी कमी के कारण अप्रसन्नता और दुःखपूर्ण वातावरण रहा तो उस समाज के लोग धीरे सेबोलते हैं, ऐसी दशा में विवृत ध्वनियाँ संवृत रूप में उच्चरित होने लगती हैं । इसी प्रकार यदि समाज में युद्ध का वातावरण रहा तो बोलने की गति में तीव्रता आ जाती है । फलतः शब्दों के कुछ ही भागों पर जोर पड़ता है और शेष भाग निर्बल रूप में उच्चरित होते हैं ।

राजनीतिक परिस्थिति से भाषा में परिवर्तन होता है, यह सभी भाषा-विदों को मान्य है । भाषा में यदि परिवर्तन होगा तो उसकी ध्वनि में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है । विशेषतः शासक वर्ग के उच्चारण का अनुकरण शासित-वर्ग करता है । अंग्रेजों के हिन्दी शब्दों के विकृत उच्चारण के अनुकरण का ध्वंसावशिष्ट स्वरूप अभी कुछ शब्दों में दिखाई पड़ता है । जैसे, शुक्ला, मिश्रा, तथा गुप्ता शब्दों के उच्चारण में । आधुनिक युग में बनारस का जो वाराणसी उच्चारण होने लगा है, उसका कारण उत्तरप्रदेश के तत्कालीन प्रधान मंत्री सम्पूर्णानन्द के राजनीतिक प्रभुत्व का पालन है । सेगाँव को सेवाग्राम, भेलसा को विदिशा उच्चारित करने का कारण राजनीति-पट-परिवर्तन है ।

धार्मिक भावना—भाषा के प्रति धार्मिक भावना रहने से उच्चारण की शुद्धता की ओर दृष्टि अधिक रहती है । भारत में आये हुए आर्यों की यह भावना थी कि जो लोग वैदिक मंत्रों का उच्चारण अशुद्ध रूप में करेंगे उनको पाप लगेगा । इसलिए उन लोगों ने उच्चारण की दृष्टि से अपने शब्दों के शुद्ध स्वरूप को बचाने के लिए नाना प्रकार के उपाय किये । किन्तु जिस

जाति में भाषा सम्बन्धी धार्मिक भावना की कमी रहती है उसकी भाषा का रूप दिन प्रतिदिन बिगड़ने लगता है और उस पर दूसरी भाषा का रंग चढ़ने लगता है। मध्य अफ्रीका की हौसा भाषा वस्तुतः हेमेटिक परिवार की भाषा है किन्तु उसके बोलने वाले भाषा के विषय में धार्मिक प्रवृत्ति नहीं रखते थे। इसलिए उस पर सूडानी भाषा का इतना अधिक गहरा रंग चढ़ा कि अब वह सूडानी परिवार की ज्ञात होने लगी है।

स्वराघात—कभी कभी स्वराघात के कारण भी शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। कल से कल्ह में ह के आगम का कारण क के अ पर बलाघात है। संगीतात्मक स्वराघात में जितना ही ऊँचा सुर देना पड़ता है उतना ही हमें मुँह फैलाना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि संवृत स्वरों का उच्चारण कभी कभी विवृत रूप में होने लगता है। बलात्मक स्वराघात से युक्त शब्दों में बलयुक्त ध्वनि के उच्चारण में श्वास का अधिक भाग खर्च हो जाता है। परिणामतः आस पास की ध्वनियों के उच्चारण के लिए श्वास की बहुत कम शक्ति शेष बचती है। अतएव या तो वे कमजोर ध्वनियाँ लुप्त हो जाती हैं अथवा बहुत कमजोर पड़ जाती हैं। आभ्यन्तर के बीच में बल है। अतः अभ्यन्तर का आ समाप्त हो गया और भीतर बन गया डाइरेक्टर और फाइनैन्स का उच्चारण बल के कारण ही डिरेक्टर और फिनैन्स हो गया। इसी प्रकार अहइ से है बना। अइ पर बल पड़ने से अ का लोप हो गया फिर संधिज-विकार से हइ का है बन गया। हिन्दी में चलना, चलाना, पिटना, पीटना शब्दों में तथा अंग्रेजी में Sing, Sang, Sung में अन्तर स्वराघात की भिन्नता के कारण हैं। इसका विस्तृत विवेचन अपश्रुति के प्रसंग में हो चुका है।

साहित्यिक कारण—कभी-कभी कवि लोग मात्रिक छन्दों में मात्रा-पूर्ति के निमित्त ह्रस्व का दीर्घ या दीर्घ का ह्रस्व करके शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं। जैसे, पिता दीन मोहिं कानन राजू। में मात्रा-पूर्ति के लिए 'राज' का 'राजू' हो गया। इसी प्रकार 'भे प्रगट कृपाला दीन दयाला कौशल्या हितकारी' में 'कृपाला' तथा 'दयाला' में अन्त स्वरागम मात्रा-पूर्ति के निमित्त हुआ है। 'हे जगदीश देव रघुराया' में तुक बिठाने के लिए राम का राया हो गया है।

सांस्कृतिक प्रभाव—ध्वनि-परिवर्तन में संस्कृति की कमी का बहुत बड़ा हाथ है। सामान्य जनता की भाषा में शिक्षा या संस्कृति की कमी के कारण सुसंस्कृत या सुशिक्षित जनता की भाषा की तुलना में ध्वनि-परिवर्तन अधिक

होता है। ध्वनि-परिवर्तन के अधिकांश उदाहरण प्राकृत भाषाओं में मिलते हैं। प्राकृत भाषायें सदा साधारण जनता की भाषायें रही हैं। जिनमें संस्कृति एवं शिक्षा की सदा कमी रही। जब आर्य लोग भारत में आये और उनका सम्पर्क अनार्यों से हुआ तब वे भारत के आदिवासी अनार्य संस्कृति से हीन होने के कारण आर्यों के शब्दों का ठीक उच्चारण करने में असमर्थ हो जाते थे। वे लोग क्षुद्रक का क्षुल्लक, पश्चात् का पश्च उच्चारण करते थे और इस प्रकार सांस्कृतिक कारण शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन कर देता था।

ध्वनि-विकार अधिकांश मात्रा में आन्तरिक कारणों से होता है। ध्वनि-परिवर्तन के आन्तरिक कारणों में जैस्पर्सन प्रयत्न-लाघव को ही मूल कारण मानते हैं, और वे आलस्य, शिथिलता, शक्तिहीनता, निश्चलता, मन्दता, सुस्ती आदि को प्रयत्न-लाघव का पर्याय मानते हैं। प्रो० ए० यच० सइस आलस्य, बल तथा अनुकरण को ध्वनि-विकार का मूलकारण मानते हैं। भारत के प्रसिद्ध ध्वनि-विज्ञानी ढल साहब प्रयत्न-लाघव तथा शीघ्रता से बोलने को ध्वनि-परिवर्तन का प्रमुख कारण मानते हैं। २ प्रसिद्ध भाषा शास्त्री आचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी अज्ञान, अपूर्ण अनुकरण, भावुकता तथा अपनी बोली की ढलन को सर्व प्रधान मानते हैं। किन्तु मेरी दृष्टि में जैसे सुख की प्राप्ति मनुष्य के सभी प्रयत्नों का कारण है तद्वत् मुख-सुख ही ध्वनि-विकार का भी सर्व प्रधान तथा सर्व व्यापक कारण है। इसी के भीतर प्रयत्न-लाघव, उच्चारण-सुविधा या सरलीकरण की प्रवृत्ति, कोमलीकरण की प्रवृत्ति, अपनी बोली की ढलन, सादृश्य आदि का समावेश हो जाता है। अतः सर्व प्रथम इसी आन्तरिक कारण पर विचार किया जायगा।

मुखसुख—मुख को सुख देने के प्रयास में हम यथास्थान किसी ध्वनि को कठिन होने के कारण कोमल कर देते हैं, कभी-कभी नई ध्वनि भी सुविधा के लिए जोड़ लेते हैं, कभी-कभी ध्वनियों का लोप कर देते हैं, और कभी-कभी ध्वनियों का स्थान ही परिवर्तित कर देते हैं। जैसे, वाराणसी से बनारस गृह से घर। और कभी ध्वनियों को काट-छाँट कर इतना साधारण बना देते हैं कि पहचानना भी कठिन हो जाता है, जैसे सपत्नी से सौत। बोलने की इस सुविधा के विषय में कुछ निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसका रूप कब, कहाँ, किस प्रकार का होगा। कहीं पर दो भिन्न ध्वनियों को अनुरूप करना पड़ता है, और कहीं पर अनुरूप ध्वनियों को भिन्न करना पड़ता है, जैसे,

साधारण कार्य-कलाप में भी हम कम प्रयत्न करके लक्ष्य की प्राप्ति करने में सुख का अनुभव करते हैं। इसी प्रवृत्ति के फल-स्वरूप हम ध्वनियों के उच्चारण में प्रयत्न लाघव का प्रयोग कर मुख-सुख का अनुभव करते हैं। यह प्रवृत्ति प्रायः लम्बे शब्दों को लघु करने में दिखाई पड़ती है। जैसे, प्रायः लोग वाइस चान्सलर के लिए वी० सी०, नेशनल केडेट कार्प्स के लिए एन० सी० सी०, भारत यूरोपीय को भारोपीय, नागरी प्रचारिणी सभा को ना० प्र० स० बोलते हैं। इसी प्रकार जब हम व्यक्तियों के नामों को भी छोटा करके बोलने लगते हैं तो प्रयत्नलाघव की ही प्रवृत्ति काम करती है। जैसे, राजदुलारी को राज, प्रेमलता को प्रेम, इन्दुमती को इन्दु रूप में सम्बोधित किया जाता है।

अपनी बोली की ढलन के अनुसार दूसरी भाषा या बोली के शब्दों को गढ़ने में जो ध्वनि-परिवर्तन होता है उसका कारण भी वस्तुतः मुख-सुख ही है। जब अपर भाषा के शब्दों के उच्चारण में वक्ता की जीभ को अभ्यास नहीं रहता तब उस अपर भाषा के शब्द को बोलने में उस वक्ता को कठिनाई प्रतीत होती है; इसलिए वह अपनी कठिनाई बचाने के लिए अर्थात् अपने मुख-सुख के लिए अपने मुख के अभ्यास के अनुसार अपर भाषा के शब्द की ध्वनि को अपनी भाषा की ध्वनि के ढलन के आधार पर गढ़ कर बोलता है। जैसे, बनारस यूनीवर्सिटी का अनपढ़ चपरासी आर्टस कालेज को आठ कालिज कहता है, बनारस का अनपढ़ आदमी आनरेरी कोर्ट को अन्धेरी कचहरी पुकारता है। कभी-कभी पढ़े-लिखे लोग भी जब अपर भाषा के नामों को अपनी बोली की ढलन के आधार पर गढ़ देते हैं तब उस ध्वनि-परिवर्तन में मुख सुख की ही प्रवृत्ति काम करती हुई दिखाई पड़ती है। जैसे, मैक्समूलर का मोक्षमूलर, एलेकज़ेन्डर का अलिकसुन्दर, अरिस्टाटिल का अरिस्तातल।

सादृश्य—सादृश्य ध्वनि-परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण कारण है। सादृश्य की प्रक्रिया में अभ्यास या ज्ञात ध्वनियों के आधार पर वक्ता शब्द के नये रूपों को उत्पन्न करता हैं जिसमें ध्वनियों का परिवर्तन पूर्व परिचित शब्दों की तद्वत् ध्वनियों के सदृश हो जाता है। जैसे, पैंतिस के सादृश्य पर सैंतीस में अनुनासिकता आ गई है। पंचम तथा सप्तम के सादृश्य पर कुछ लोग षष्ठ को षष्ठम् कहते हैं। देहाती के सादृश्य पर शहर से शहराती बना है। संस्कृत के दयालु, कृपालु, निद्रालु आदि शब्दों के आधार पर झगड़ा से झगड़ालु बना। वस्तुतः सादृश्य का प्रधान कारण प्रयत्न लाघव या उच्चारण-सुगमता ही है। जिसके

द्वारा स्मृति अपने ऊपर व्यर्थ सामग्री का भार नहीं लादना चाहती अथवा जिह्वा व्यर्थ परिश्रम नहीं करना चाहती; इसीलिए इसका भी समावेश मैंने मुख-सुख के भीतर किया है।

अज्ञान—वर्णों के यथार्थ उच्चारण को न जानने से अनपढ़ व्यक्ति वर्णों का अन्यथा उच्चारण करते हुए प्रायः देखे जाते हैं। जैसे, शब्द या अर्थ की ठीक जानकारी न होने से लोग छात्र का त्रात्र उच्चारण कर देते हैं; अनुकरण की अपूर्णता तथा भ्रामक-व्युत्पत्ति नामक ध्वनिपरिवर्तन के कारण वस्तुतः अज्ञान के ही भीतर आ जाते हैं। किसी का बोलना सुन कर हम अनुकरण करके बोलना सीखते हैं। यह अनुकरण कभी कभी वागेन्द्रियों तथा श्रोत्रेन्द्रियों में दोष उत्पन्न होने के कारण पूर्ण नहीं हो पाता जिसका विवेचन ध्वनि-परिवर्तन के बाह्य कारणों के भीतर किया गया है। यहाँ अनुकरण की उस अपूर्णता का विवेचन किया जा रहा है जिसका कारण मानसिक है; इस प्रकार इसका सम्बन्ध अज्ञान से है। बच्चा माँ-बाप से रोटी सुन कर जो लोटी कहता है उसका कारण अनुकरण की अपूर्णता है किन्तु इसका मूलाधार अज्ञान ही है। इसी प्रकार भोजपुरी भाषा क्षेत्र के देहाती लोग कनेक्शन को कनस्कन या ब्राह्मण को बाह्मन, हास्पिटल को अस्पताल, होटेल को होटल, स्टेशन को टेसन कहते हैं—उसका मूल कारण अज्ञान है।

भ्रमपूर्ण व्युत्पत्ति नामक कारण भी अज्ञान पर ही आधारित है। इसीलिये यह भी ध्वनिपरिवर्तन का कोई स्वतंत्र कारण नहीं है। अन्तर इतना ही है कि कुछ मिलते जुलते ज्ञात शब्दों के आधार पर जब किसी शब्द की भ्रामक व्युत्पत्ति निकाली जाती है, तब उस शब्द में ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। फारसी के इन्तकाल को हमारे यहाँ के अनपढ़ लोगों ने अपनी भ्रमपूर्ण व्युत्पत्ति के आधार पर अन्तकाल कर दिया। युक्तप्रान्त के विश्वविद्यालय के या कालिज के चपरासी लाइब्रेरी को रायबरेली नामक नगर के आधार पर रायबरेली कहते हैं। इसी प्रकार हमारी मिडल कक्षा के साथी लार्ड चेम्सफोर्ड को चिलमफोड़ कहा करते थे। एडवांस (Advance) की व्युत्पत्ति ठीक-ठीक न जानने के कारण चपरासी उसका उच्चारण अठवांस करते हैं।

प्रमाद:—कभी कभी असावधानी या आलस्य से भी कुछ लोग कतिपय शब्दों का उच्चारण अन्यथा रूप में कर देते हैं। वस्तुतः इस कारण का सम्बन्ध भी अज्ञान से ही है। जैसे, पढ़े लिखे लोग भी प्रमाद या असावधानी के कारण स्वादिष्ठ का स्वादिष्ट, पृष्ठ का पृष्ट, घनिष्ठ का घनिष्ट, कर्मनिष्ठ का कर्मनिष्ट उच्चारण करते हुए देखे जाते हैं। इसी प्रकार व की जगह ब का

उच्चारण असावधानी से स्नातकोत्तर विद्यार्थी भी करते हैं। जैसे, वे वक्रोक्ति बक्रोक्ति कहते हैं। इसी तरह प्रमाद से वे लोग ब की जगह व बोलते हैं। बिन्दु को विन्दु, बाह्य को वाह्य रूप में उच्चारित करते हैं।

बोलने में शीघ्रता :—जल्दी से बोलने के कारण ध्वनियों का उच्चारण पूर्ण रूप से नहीं हो पाता। बोलने की हड़बड़ी में कुछ ध्वनियों का उच्चारण नहीं हो पाता और कुछ का विपर्यय हो जाता है; शब्दों में इस प्रकार शीघ्रता से बोलने के कारण स्वर लोप, व्यंजन लोप, अक्षरलोप, लयान्वितिलोप, स्वर-विपर्यय, व्यंजन-विपर्यय, अक्षर-विपर्यय, लयान्विति विपर्यय तक हो जाता है। संस्कृत की बहुत सी सन्धियाँ भी शीघ्रता से बोलने के कारण घटित हो जाती हैं। अमावस का मावस, अनाज का नाज, बलदेव का बल्देव, कृपया का कृप्या, पंडित जी की पंडी जी, मास्टर साहब का माट साब, अंग्रेजी के डूनाट (Do not) के स्थान पर डोन्ट (Do n't) और बुडनाट (Would not) के स्थान पर वोन्ट (W'ont) का उच्चारण बोलने में शीघ्रता के कारण होता है। इसी प्रकार उन्होंने, जिन्होंने, किन्होंने के स्थान पर उन्ने, जिन्ने, किन्ने का प्रयोग जल्दी से बोलने के कारण होने लगा है। जैनेन्द्र जी अपनी कहानियों में इसका प्रयोग भी करने लगे हैं। जल्दी से बोलने के कारण स्वर तथा व्यंजन का ही नहीं वरन् अक्षर तथा लयान्विति का भी लोप हो जाता है। जैसे, भंडागार से भंडार, गेहूँचना से गोचना' तथा शादबाश से शाबाश का प्रयोग जल्दी से बोलने के कारण होता है। अंग्रेजी भाषा भाषी लोग जीवन की अतिशय व्यस्तता के कारण जल्दी में (Thankyou) की जगह क्यू का प्रयोग करने लगे हैं। बोलने में हड़बड़ी के कारण शब्दों के उचारण में स्वर तथा व्यंजन-विपर्यय बहुत अधिक हो जाता है। जैसे, मध्य-प्रदेश में ससुर की जगह सामान्य लोग सुसर बोलते हैं। इस स्वर-विपर्यय का कारण बोलने में शीघ्रता है। इसी प्रकार चाकू से काचू, कीचड़ से चीकड़, बोलने में शीघ्रता के कारण हो जाता है। लखनऊ से नखलऊ तथा मतलब से मतबल में अक्षर-विपर्यय; तथा चौका चूल्हा से चूलाचौका में लयान्विति विपर्यय जल्दी से बोलने के कारण हुआ है। जल्दी से बोलने के कारण संस्कृत तथा हिन्दी में नाना प्रकार की संधियाँ घटित होती हैं। जैसे, पितृ+आज्ञा से पित्राज्ञा, सु+आगत से स्वागत, जगत+नाथ से जगन्नाथ। हिंदी की निम्नांकित संधियाँ जल्दी से बोलने के कारण घटित होती हैं। जैसे, उस+ही = उसी। सब+ही=सभी। जहाँ+ही=जहीं। आध+सेर= आस्सेर। मार+डालो से माड्डालो। चोर+ले गया=चोल्लेगया।

बनकर बोलने से ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है।—जब कोई व्यक्ति बनने की स्थिति में रहता है उस समय उसका सारा मन विकृत हो जाता है। मन और वाणी का घनिष्ट संबंध होने के कारण बनने की स्थिति में जो वाणी निकलती है उसमें भी विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे, कुछ लोग बन कर बोलते समय फुर्ती दिखाने के प्रयास में कहना को केना, रहना को रेना, सुनो को स्सुनो उच्चारित करते हैं।

वस्तुतः मिथ्यापांडित्य-प्रदर्शन भी बन कर बोलने के अन्तर्गत ही आ जाता है। कुछ ग्रामीण पंडित पांडित्य-प्रदर्शन के लिए शाप को श्राप कह कर उसमें विकृति ला देते हैं, सेवक को शेवक कहकर पंडिताई छाँटते हैं। कुछ लोग अपने को अरबी-फारसी का पंडित दिखाने के लिए जनाब को ज़नाब, खाना को ख़ाना बोलते हैं।

भावुकता—कभी कभी प्रेम, घृणा, क्रोध, ईर्ष्या आदि भावों के आवेश में लोग शब्दों को बिगाड़ कर बोलते हैं। प्रेम के आवेश में लोग अम्मा को अम्मी, चाची को चच्ची, बेटी को बिट्टो, चुम्बन को चुम्मी उच्चारण करते हैं घृणा के आवेश में लोग नाई को नउआ, बारी को बरिया पुकारते हैं; क्रोध में जल कर लोग रामेश्वर को रमेसुरा, मुकुन्द को मुकुनिया कहते देखे गये हैं। ईर्ष्या में लोग बच्चा को बच्चू, ससुर को ससुरा कहते हैं। क्रोध और प्यार के आवेश में नामों की दुर्दशा हो जाती है। क्रोध का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। प्यार में मुक्तेश्वर का मुक्कू, शीला का सिल्लो, विमला का बिम्मो, अंजना का अंजू, संजय का संजू हो जाता है।

व्यंग्य-विनोद—में भी लोग कभी कभी शब्दों को तोड़ मरोड़ देते हैं या उनके व्यंजनों, अक्षरों या लयान्वितियों में विपर्यय उपस्थितकर देते हैं। किसी कवि को बनाते समय उस पर व्यंग्य या विनोद करते समय उसे कवी या कपी जी कह देते हैं, गुरु को बनारस में गुरू कहने लगते हैं, किसी लेखक पर व्यंग्य करते समय उसे लिक्खाड़ कह देते हैं, विनोद में मेरे एक मित्र प्रोफेसर को प्रोफेश्वर कह देते हैं। इसी प्रकार बच्चों से किलोल करते समय माता-पिता प्रायः उनके नामों को तोड़ मरोड़ देते हैं। संजय को संजू, सुनीति को सुन्नू, राजीव को रज्जू नाम से पुकारते हैं। बच्चे अपने साथियों को बनाते समय उनके नामों की लयान्वितियाँ या अक्षरों को उलट देते हैं। मुनिलाल को लालमुनि, श्यामसुन्दर को सुन्दरश्याम, राजाराम को राम राजा कहने लगते हैं। इसी प्रकार रामराज को जरामरा, रामदास को सदा मरा कह कर चिढ़ाने लगते हैं।

ध्वनि परिवर्तन के स्वयंभू कारण

स्वयंभूकारण—किसी भी भाषा या बोली के आगे बढ़ने, पनपने अथवा स्वाभाविक विकास से कालान्तर में ध्वनियों में जो परिवर्तन हो जाता है, उसे स्वयंभू कोटि का परिवर्तन कहते हैं। इसका कारण अधिक से अधिक काल-भेद कहा जा सकता है। जैसे, वर्तते का भोजपुरी में बाटै हो गया है। मया का खड़ी बोली में मैं हो गया है। संस्कृत का अग्निः आज आग के रूप में दीखता है। इसके बीच के रूप अग्गी, अग्गि, आगि आदि मिलते हैं। परन्तु अग्निः से अग्गी बनने के बीच में न जाने कितनी सदियाँ लगी होंगी। तदनन्तर अन्तिम ई का ह्रस्व इ में परिणत होना और फिर उसका लोप हो जाना कम समय का द्योतक नहीं है। इस प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन मनुष्य समुदाय के अनजान में ही अपने आप हुआ करता है। यदि जान बूझ कर यह परिवर्तन होता तो भाषा के समझने में बहुत कठिनाई उत्पन्न हो जाती* और तब लोग इसको रोकने का प्रयत्न करते। इस प्रकार का परिवर्तन अनायास अपने आप अनजान में होता रहता है। किन्तु बहुत धीरे धीरे होने के कारण मालूम नहीं पड़ता। मालूम तब पड़ता है जब कोई भाषा-विज्ञानी बैठकर उस भाषा के विकास का अध्ययन करता है। यदि हम किसी स्थान विशेष की भाषा का कुछ समय तक निरीक्षण करें तो कालान्तर में उसके

---

*In the course of generations, Phonetic change reaches a stage in which the pronunciation differs so radically from that of another more or less ealy period that the phonetic system would be mutually unintelligible if speakers of the two periods could ccme into contact. Thus the pronunciation and also the grammatical forms of old, Middle, & Modern French or of old, middle & modern German are widely divergent, Though the generations which have succeeded each other have doubtless been unaware of any noteworthy change.

Foundation of Language P. 85

By Louis H. Gray.

उच्चरित स्वरूप में परिवर्तन होता हुआ प्रतीत होगा। किसी भाषा में व्याकरणिक नियम निर्धारित हो जाने पर भी सर्वसाधारण जनता, बालकों तथा अशिक्षितों में उनका पालन होना असंभव है। अतः भाषा में ध्वनि सम्बन्धी कुछ न कुछ विकार होना अनिवार्य है, जो बढ़ते बढ़ते कुछ समय पश्चात् भाषा के रूप में एक परिवर्तन उत्पन्न कर देता है। साहित्यिक भाषा से पृथक् लौकिक भाषा की उत्पत्ति इसी प्रकार होती है। यदि हम भारत में आर्य भाषा के प्राचीन, मध्यकालीन तथा अर्वाचीन रूपों की तुलना करें तो कालानुगत ध्वनि सम्बन्धी परिवर्तनशीलता का स्पष्ट अनुभव हो जायगा।

हिन्दी-ध्वनियों का वर्णन

हिन्दी-भाषा के व्यंजनों का वर्णनः—क् = कंठ्य, स्पर्श, अल्पप्राण, अघोष, श्वास, विवार। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल में कवर्ग का उच्चारण कोमल तालु के स्थान की दृष्टि से आजकल की अपेक्षा कदाचित कुछ अधिक पीछे से होता था। इसीलिए प्रातिशाख्यों में इनका स्थान जिह्वा-मूलीय माना गया है। अतः क् उस समय क़ के उच्चारण के कुछ निकट था। इसीलिए कवर्ग का स्थान कंठ्य माना जाता था। आजकल हिन्दी में इसके उच्चारण का स्थान कुछ पीछे हट गया है। इसीलिऐ आधुनिक ध्वनि-शास्त्री कवर्ग को कोमल तालु-जन्य (Velar) कहना अधिक संगत समझते हैं। जैसे, कपट, चाक् में क् का उच्चारण उक्त प्रकार का है।

क़् = आधुनिक हिन्दीभाषा में इसका व्यवहार केवल फ़ारसी तथा अरबी के तत्सम शब्दों में होता है। यह अरबी भाषा से आई विदेशी ध्वनि है। क़ का उच्चारण कौवे के निकट जिह्वामूल को कोमल तालु के पिछले भाग से छुआ कर किया जाता है। जीभ तथा तालु की दृष्टि से इसका उच्चारण-स्थान सबसे पीछे है। यह अल्पप्राण, अघोष, श्वास, जिह्वामूलीय, स्पर्श व्यंजन है। जैसे, क़ाबिल, मुक़ाम।

ख् = कंठ्य, अघोष, श्वास, विवार, महाप्राण, स्पर्श व्यंजन है। जैसे, खरगोश, खाट तथा खटमल।

ख़ = हिन्दी में प्रयुक्त फारसी-अरबी के तत्सम शब्दों में यह ध्वनि व्यवहृत होती है। इसका उच्चारण भी जिह्वामूलीय है। यह महाप्राण, घर्ष, अघोष, श्वास, विवार, जिह्वामूलीय व्यंजन है। जैसे, अख़बार, ख़राब। हिन्दी की बोलियों में ख़् के स्थान पर ख् का ही प्रयोग होता है।

ग् = कंठ्य, स्पर्श, अल्पप्राण, घोष, नाद, संवार है। इसका उच्चारण भी जीभ के पिछले भाग को कोमल तालु से छुआ कर किया जाता है। जैसे, गरदन, लगन, साग।

ग़ = यह ग की रूपान्तरित ध्वनि नहीं है। विदेशी ध्वनि है। अल्पप्राण, घर्ष, सघोष, नाद, संवार जिह्वामूलीय है। हिन्दी में प्रयुक्त अरबी-फारसी के

तत्सम शब्दों में यह ध्वनि व्यवहृत होती है। यह विदेशी ध्वनि है। हिन्दी की बोलियों में ग़् के स्थान पर ग् का प्रयोग होता है। जैसे बाग़, दाग़, ग़रीब।

घ = कंठ्य, स्पर्श, महाप्राण, घोष, नाद, संवार। जैसे, घरनी, सघन, अघ।

ङ = कंठ्य, स्पर्श, अल्पप्राण, घोष, नाद, संवार, अनुनासिक है। इसके उच्चारण में निरनुनासिक व्यंजनों की अपेक्षा जीभ तालु के कुछ अधिक पिछले भाग को छूती है। इसके उच्चारण में कोमल तालु कौवा सहित कुछ नीचे को झुक जाता है जिससे कुछ हवा हलक़ के अन्दर नाक के छिद्रों में होकर निकलते हुए नासिका-विवर में गूँज पैदा कर देती है। स्वर सहित ङ हिन्दी में नहीं पाया जाता। शब्दों के आदि या अन्त में भी इसका व्यवहार नहीं होता। शब्दों के बीच में कवर्ग के पहले सुनाई पड़ता है। देवनागरी में ङ के लिए प्रायः अनुस्वार का प्रयोग होता है। शंका, कंगन।

च = तालव्य, स्पर्श-संघर्षी, अल्पप्राण, अघोष, श्वास, विवार ध्वनि है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में च् छ् ज् झ् स्पर्श व्यंजन थे। उन दिनों च आदि का उच्चारण क्य के सदृश रहा होगा। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के प्रारम्भिक काल में ही ये तालव्य स्पर्श ध्वनियाँ स्पर्शसंघर्षी हो गईं। चवर्ग का उच्चारण जीभ के अगले हिस्से को ऊपरी मसूड़ों के निकट कठोर तालु से कुछ रगड़ के साथ छूकर किया जाता है। अतः चवर्ग स्पर्शसंघर्षी ध्वनियाँ मानी जाती हैं।

छ् = तालव्य, स्पर्शसंघर्षी, महाप्राण, अघोष, श्वास, विवार ध्वनि है। जैसे, छलनी, मछुआ, कुछ।

ज = तालव्य, स्पर्शसंघर्षी, अल्पप्राण, सघोष, नाद, संवार ध्वनि है। जैसे, जगत, बरजना, काज।

ज़ = जिह्वामूलीय, वर्त्स्यंघर्ष, अल्पप्राण, सघोष, नाद, संवार ध्वनि है। यह ध्वनि हिन्दी में प्रयुक्त अरबी फारसी के तत्सम शब्दों में व्यवहृत होती है। हिन्दी की बोलियों में ज़ के स्थान पर ज् हो जाता है। जैसे, ज़ुल्म, गुज़र, अरज़।

झ = तालव्य, स्पर्शसंघर्षी, महाप्राण, सघोष, नाद, संवार ध्वनि है। जैसे, झुलनी, सुलझना, साझ।

ञ् = तालव्य, सघोष, अल्पप्राण, अनुनासिक ध्वनि है। ञ् ध्वनि साहित्यिक हिन्दी के शब्दों में नहीं पाई जाती। साहित्यिक हिन्दी में चवर्गीय ध्वनियों के पहले आने वाले अनुनासिक व्यंजनों का उच्चारण न के समान

होता है। जैसे, अञ्चल, मञ्च आदि का उच्चारण हिन्दी में अन्चल, मन्च की तरह होता है। पर देवनागरी लिपि में उक्त स्थानों पर अनुस्वार का प्रयोग होता है। कुछ बोलियों में यह ध्वनि प्रयुक्त होती है। जैसे, नाञ् माञ् (बुन्देली)

साञ् साञ् (ब्रजबोली) आदि शब्दों में ञ् की ध्वनि सुनाई पड़ती है।

ट् = टवर्गीय ध्वनियों का जीभ की नोक को उलट कर उसके नीचे के हिस्से से कठोर तालु के मध्य भाग को छूकर किया जाता है। मूर्धन्य व्यंजन ध्वनियाँ आर्यों के भारत में आने पर अनार्यों के सम्पर्क से द्राविड़ भाषा से आर्यभाषा में आईं। मूल भारोपीय भाषा में यह ध्वनि नहीं पाई जाती। वेदों में भी मूर्धन्य ध्वनि वाले शब्दों का अपेक्षाकृत कम व्यवहार मिलता है। यह मूर्धन्य, स्पर्श, अल्पप्राण, अघोष, श्वास, विवार ध्वनि है। हिन्दी में इसका काफी प्रयोग होता है। जैसे, टीम, चटपट, चौपट।

ठ् = मूर्धन्य, स्पर्श, महाप्राण, अघोष, श्वास, विवार ध्वनि है। जैसे, ठाकुर, गठीला, पाठ।

ड् = मूर्धन्य, स्पर्श, अल्पप्राण, सघोष, नाद, संवार ध्वनि है। इसका उच्चारण भी जीभ की नोक को उलट कर कठोर तालु के मध्य भाग के निकट छुआ कर किया जाता है। जैसे, डाल, डगर, रेडियो, सोडा।

ड़् = पहले ड् और ड़् एक ही ध्वनिग्राम के सहस्वन थे, किन्तु हिन्दी में अब ये पृथक् ध्वनिग्राम माने जाते हैं। ड़ उत्क्षिप्त व्यंजन है। उत्क्षिप्त के उच्चारण में जीभ तालु के किसी भाग को वेग से मार कर हट आती है। यह मूर्धन्य, उत्क्षिप्त, अल्पप्राण, सघोष ध्वनि है। हिन्दी में नवीन ध्वनियों में से एक है। ड़ शब्दों के मध्य या अन्त में प्रायः दो स्वरों के बीच में आता है। जैसे, कपड़ा, गड़बड़।

ढ = मूर्धन्य, महाप्राण, सघोष, नाद, संवार, मूर्धन्यस्पर्श व्यंजन है। इसका प्रयोग हिन्दी में शब्दों के आरम्भ में ही पाया जाता है। जैसे, ढाल, ढक्कन, ढपनी।

ढ़ = मूर्धन्य, उत्क्षिप्त, महाप्राण, सघोष ध्वनि है। ढ़ वास्तव में ड़ की महाप्राण ध्वनि है, ढ की रूपान्तरित ध्वनि नहीं है। यह ध्वनि भी हिन्दी में नवीन है, और शब्दों के मध्य या अन्त में प्रायः दो स्वरों के बीच में पाई जाती है, और शब्दों के मध्य या अन्त में आती है, प्रारम्भ में कभी नहीं आती। बढ़ना, बढ़।

ण् = मूर्धन्य, स्पर्श, अल्पप्राण, सघोष, नाद, संवार अनुनासिक ध्वनि है। अनुनासिक होने के कारण निरनुनासिक मूर्धन्य व्यंजनों की अपेक्षा इसका उच्चारण कठोर तालु पर कुछ अधिक पीछे की ओर उल्टी जीभ की नोक छुआ कर होता है। स्वर सहित यह ध्वनि केवल हिन्दी के शब्दों में मध्य या अन्त में व्यवहृत होती है। शब्दों के आदि में नहीं मिलती। जैसे, गण, शरण, गणना। हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में मूर्धन्यस्पर्श व्यंजनों के पूर्व हलन्त ण् का उच्चारण न् के समान होता है। जैसे, प्रचण्ड, कराटक आदि शब्दों का उच्चारण हिन्दी में पन्डित, कन्टक की तरह होता है। अर्द्धस्वरों के पूर्व ण् ध्वनि का प्रयोग होता है। जैसे, पुराय, कराव आदि में। हिन्दी की बोलियों में ण् ध्वनि का व्यवहार बिल्कुल नहीं होता। ण् के स्थान पर न् का प्रयोग होता है। जैसे, अवगुन, सरन, गनपति, बान।

त् = तवर्ग ध्वनियों का उच्चारण जीभ की नोक से दाँत की ऊपर की पंक्ति को छू कर किया जाता है। यह पुरोदन्त्य ध्वनि है। क्योंकि इसके उच्चारण-काल में जीभ दाँत के अगले हिस्से को छूती है। यह दन्त्य, स्पर्श, अल्पप्राण, अघोष, श्वास, विवार व्यंजन है। जैसे, ताप, सतह, गात।

थ् = थ के उच्चारण-काल में जीभ दाँत के भीतरी भाग को छूती है इसलिए इसे अन्तर्दन्त्य कहते हैं।

यह दन्त्य, स्पर्श, महाप्राण, अघोष, श्वास, विवार ध्वनि है। जैसे, थन, कथनी, हाथ।

द् = द के उच्चारण में जीभ दाँत की जड़ को छूती है। इसलिए इसे दन्तमूलीय कहते हैं।

यह दन्त्य, स्पर्श, अल्पप्राण, घोष, नाद, संवार ध्वनि है। जैसे, दम, मदन, खाद।

ध् = के उच्चारण में जीभ दाँत के पिछले हिस्से को छूती है। इसलिए इसे पश्चदन्त्य कहते हैं।

यह दन्त्य, स्पर्श, महाप्राण, सघोष, नाद, संवार ध्वनि है। जैसे, धाम, साधना, सीधा।

न् = आजकल न् का उच्चारण दन्त्य स्पर्श व्यंजनों के समान दाँतों की पंक्ति को न छू कर ऊपर के मसूड़ों को छूने से होता है। अतः यह ध्वनि आजकल वर्त्स्य मानी जाती है।

यह वर्त्स्य, स्पर्श, अल्पप्राण, सघोष, नाद, संवार, अनुनासिक व्यंजन है। जैसे, नाली, रनिवास, मान।

इसके तीन सहस्वन हैं।

(१) व्यंजन संयोगों में स्पर्शसंघर्षी (चवर्गीय) व्यंजनों के पूर्व इसका प्रयोग होता है। जैसे, चन्चल, रन्च। इन शब्दों में यह ध्वनि अनुस्वार रूप में लिखी जाती है।

(२) दूसरा रूप मूर्धन्य स्पर्श (टवर्गीय) व्यंजनों के पूर्व प्रयुक्त होता है। जैसे, डन्डा, ठन्ढ। इन शब्दों में भी यह ध्वनि अनुस्वार रूप में ही लिखी जाती है।

उपर्युक्त दोनों सहस्वन आदि में या स्वतंत्र रूप से स्वर-संयोग सहित नहीं आ सकते।

(३) न् का महाप्राण रूप न्ह है। यह वर्त्स्य, स्पर्श, अनुनासिक, महाप्राण, सघोष, नाद, संवार ध्वनि है। कान्ह, चिन्ह, कन्हैया।

यह ध्वनि प्रायः हिन्दी की बोलियों में शब्द के मध्य तथा अन्त में पाई जाती है। हिन्दी में इसे मूलध्वनि नहीं माना जाता। हिन्दी विद्वान् इसे प्रायः संयुक्त ध्वनि मानते हैं, किन्तु आधुनिक ध्वनिशास्त्री इसे संयुक्त व्यंजन न मान कर घ्, ध्, भ् आदि की तरह मूलमहाप्राण व्यंजन मानते हैं।

प् = इसका उच्चारण दोनों ओठों के छूने से होता है। इसलिए इसे द्वयोष्ठ्य कहते हैं। ओष्ठ्य ध्वनियों के उच्चारण में जीभ से बिल्कुल सहायता नहीं ली जाती। यह ध्वनि ओष्ठ्य, स्पर्श, अघोष, अल्पप्राण, श्वास, विवार ध्वनि है। जैसे, पाक्, छापना, जाप।

फ् = ओष्ठ्य, स्पर्श, अघोष, महाप्राण, श्वास, विवार ध्वनि है। जैसे, फल, सफर, कफ।

फ़् = दन्त्योष्ठ्य, घर्ष, अघोष, महाप्राण, श्वास, विवार ध्वनि है। फ़् का उच्चारण नीचे के ओठ को ऊपर के दाँतों की पंक्ति से लगा कर किया जाता है। साथ ही ओठों और दाँतों के बीच से हवा रगड़ खाकर निकलती है। यह फ़् फ् का रूपान्तर नहीं है। जैसे, फ़स्ल, कफ़न, साफ़।

इस ध्वनि का प्रयोग हिन्दी में प्रयुक्त फारसी-अरबी के तत्सम शब्दों में होता है। यह विदेशी ध्वनि है। हिन्दी की बोलियों में इसका स्थान फ् ले लेता है।

ब् = ओष्ठ्य, स्पर्श, अल्पप्राण, सघोष, नाद, संवार ध्वनि है। जैसे, बात, चबाना, राब।

भ् = ओष्ठ्य, स्पर्श, महाप्राण, सघोष, नाद, संवार ध्वनि है। जैसे, भाप, अभ्यन्तर, आभा।

म् = इसका उच्चारण भी ओष्ठ्य स्पर्श व्यञ्जनों के समान दोनों ओठों को छुआ कर होता है, किन्तु इसके उच्चारण में अन्य अनुनासिक व्यञ्जनों के समान कुछ हवा हलक़ के नाक के छिद्रों में होकर नासिका-विवर में गूँज उत्पन्न करती है। यह ध्वनि ओष्ठ्य, स्पर्श, अल्पप्राण, अनुनासिक, सघोष, नाद, संवार है। जैसे, माला, सामना, चाम।

म्ह = ओष्ठ्य, स्पर्श, महाप्राण, अनुनासिक, सघोष, नाद, संवार ध्वनि है। कुम्हार, तुम्हें, ब्रम्हा। (भोजपुरी बोली में)

य् = य में स्वर की अपेक्षा व्यंजन के गुण अधिक हैं। अतः यह अधिक मात्रा में व्यंजन माना जाता है। यह तालव्य, सघोष, अर्द्ध स्वर, इषत्स्पृष्ट है। य् का उच्चारण जीभ के अगले भाग को कठोर तालु की ओर ले जाकर किया जाता है किन्तु जिह्वा न तो चवर्गीय ध्वनियों के समान तालु को अच्छी तरह छूती ही है और न इ आदि तालव्य स्वरों के समान दूर ही रहती है। जीभ को इस तरह तालु के निकट रखना कठिन है। इसीलिए हिन्दी बोलियों में प्रायः शब्दारम्भ में य के स्थान पर ज हो जाता है। य का उच्चारण कभी ए कभी अ से मिलता जुलता है। जैसे, यज्ञ, नियम, आय।

र् = वर्त्स्य, लुंठित, इषत्स्पृष्ट, अल्पप्राण, सघोष व्यंजन है। र् के उच्चारण में जीभ की नोक दो तीन बार बेलन की तरह लोटती हुई ऊपर के मसूड़े या वर्त्स को शीघ्रता से छूती है।

र्ह् = वर्त्स्य, लुंठित, महाप्राण, सघोष, इषतस्पृष्ट, नाद, संवार ध्वनि है। वस्तुतः यह र की महाप्राण ध्वनि है। कादरी ने इसे भी मूलध्वनि माना है, संयुक्त नहीं। यह ध्वनि भी शब्द के मध्य में ही मिलती है। जैसे, कर्हानो (ब्रजभाषा) र्ह्यो (बुन्देली)।

ल् = वर्त्स्य, इषतस्पृष्ट, पार्श्विक, अल्पप्राण, सघोष नाद, संवार ध्वनि है। ल् के उच्चारण में हवा मुख के मध्य में रुक कर जीभ के अगल-बगल से बाहर निकलती है। इसलिए ल् ध्वनि देर तक कही जाती है। ल का उच्चारण र से सरल है, इसीलिए बच्चे आरम्भ में र की जगह ल का उच्चारण करते हैं। जैसे, लगन, जलन, खाल।

ल्ह = यह ल का महाप्राण स्वरूप है। बोलियों में इसका प्रयोग बराबर मिलता है। न्ह, म्ह की तरह यह ध्वनि भी अन्य महाप्राण व्यंजनों के समान स्वतंत्र मानी गयी है, संयुक्त नहीं।

व् = व्यंजन के रूप में—दन्त्योष्ठ्य, संघर्षी, सघोष, अल्पप्राण ध्वनि है। व् का उच्चारण नीचे के ओठ को ऊपर के दाँतों से लगा कर किया जाता

है। साथ ही ओठ और दाँतों के बीच से रगड़ खा कर कुछ हवा निकलती रहती है। हिन्दी बोलियों में प्रायः व के स्थान पर ब का प्रयोग होता है। व ध्वनि बहुत प्राचीन ध्वनि है। वन, चावल, यादव।

व् (स्वर रूप में) = द्वयोष्ठ्य, इषत्स्पृष्ट, अल्पप्राण, अघोष, विवार, श्वास, अर्द्ध स्वर है। डा० उदयनारायण तिवारी व् को अघोष तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा सघोष मानते हैं। व् जब शब्द के मध्य में स्वरहीन व्यंजन के बाद आता है तो इसका उच्चारण दन्त्योष्ठ न होकर द्वयोष्ठ्य हो जाता है किन्तु ब के उच्चारण के समान दोनों ओठ बिल्कुल बन्द नहीं किये जाते और न संघर्ष ही होता है। व् के उच्चारण में जीभ का पिछला हिस्सा कोमल तालु की ओर उठता है किन्तु कोमल तालु को स्पर्श नहीं करता। जैसे, ज्वार, स्वाद।

श् = तालव्य, अघोष, विवार, श्वास, संघर्षी, महाप्राण, इषत विवृत् है। श का उच्चारण जीभ की नोक से कठोर तालु को रगड़ के साथ छू कर किया जाता है। यह ध्वनि प्राचीन है। यह फारसी अरबी तथा अंग्रेजी आदि से आए हुए विदेशी शब्दों में भी मिलती है। हिन्दी बोलियों में प्रायः श के स्थान पर स् का उच्चारण होता है। जैसे, शेष, कशाय, वश, शेयर।

ष = मूर्धन्य, अघोष, विवार, श्वास, संघर्षी, महाप्राण, इषत् विवृत है। हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत के तत्सम शब्दों में ही इसका प्रयोग होता है। जैसे, षड़ानन।

स = वर्त्स्य, अघोष, विवार, श्वास, संघर्षी, महाप्राण, इषत् विवृत है। स का उच्चारण जीभ की नोक से वर्त्स्य स्थान को रगड़ के साथ छू कर किया जाता है। जैसे, सब, पसीना, घास।

ह = काकल्प, अघोष, महाप्राण, संघर्षी ध्वनि है।

संस्कृत में ह घोष माना गया है। डा० तिवारी (उदयनारायण) ने ह को अघोष माना है।

यदि अघोष है तो विवार, श्वास प्रयत्न होगा यदि सघोष है तो नाद, संवार प्रयत्न होगा।

डा० धीरेन्द्र वर्मा जी का मत है कि शब्द के अन्त में आने वाले ह् में मतभेद नहीं। जैसे, यह, वह, आह। वह तो घोष ही रहता है। यही डा० बाबूराम सकसेना जी का भी मत है, शब्द के आरम्भ में आने वाले ह् में मतभेद है। कुछ भाषा वैज्ञानिक शब्द के आरम्भ में आने वाले ह् को अघोष मानते हैं। जैसे, हाथ।

हः = (विसर्ग) अघोष, स्वरयंत्रमुखी, संघर्षी ध्वनि है। विसर्ग के उच्चारण में जीभ, तालु अथवा ओठों की सहायता बिल्कुल नहीं ली जाती।

हवा को अन्दर से जोर से फेक कर मुखद्वार के खुले रहते हुए स्वरयंत्र के मुख पर रगड़ उत्पन्न करके इस ध्वनि का उच्चारण किया जाता है। विसर्ग और अ के उच्चारण में समस्त अवयव समान रहते हैं। अन्तर इतना ही है कि अ के उच्चारण में हवा जोर से नहीं फेकी जाती किन्तु विसर्ग के उच्चारण में हवा जोर से फेकी जाती है। हिन्दी में विसर्ग का प्रयोग थोड़े से संस्कृत के तत्सम शब्दों में होता है। जैसे, प्रायः, पुनः, छः। हिन्दी के कतिपय विस्मयादिबोधक शब्दों में भी इसका व्यवहार मिलता है। जैसे, छिः दुः।

—:०:—

हिंदी-स्वरों का वर्णन

अं = यह कंठ्य, ह्रस्वार्द्ध, संवृत, शिथिल, घोष, अवृत्ताकार स्वर है। इसके उच्चारण में जीभ के मध्य का भाग अ की अपेक्षा कुछ अधिक ऊपर उठता है। अंग्रेजी में इसे उदासीन स्वर कहते हैं। यह ध्वनि अवधी तथा पंजाबी बोली में पाई जाती है। जैसे, अवधी में सोरेंहि, रामकं। पंजाबी में नौकंर्, वंचारा। भोजपुरी में भी कहीं-कहीं ह्रस्वार्द्ध अं का प्रयोग होता है। जैसे, धोबी कं कुत्ता घर कं न घाट कं।

अ = यह कंठ्य, ह्रस्व, अर्द्धविवृत, मध्य, शिथिल, घोष तथा अवृत्ताकार स्वर है। हिन्दी में शब्द या शब्दांश के अन्त में आने वाले अ का प्रायः उच्चारण नहीं होता। जैसे, अब्, कमल्, घर् शब्दों में अन्त के अ का उच्चारण नहीं होता। किन्तु इसके अपवाद भी कहीं-कहीं मिलते हैं। जैसे, दीर्घ स्वर अथवा संयुक्त व्यंजन का परवर्ती अ अवश्य उच्चरित होता है। जैसे, सत्य, सीय शब्दों में अन्तिम अ पूर्णतः उच्चरित होता है। न के समान एकाक्षरी शब्दों में अ पूरा उच्चरित होता है। इसके उच्चारण में जीभ की स्थिति न बिल्कुल पीछे रहती है और न बिल्कुल आगे। इसलिए इसे मध्य कहते हैं। इसका उच्चारण करते समय जीभ का मध्य भाग कुछ ऊपर उठता है और ओठ कुछ खुल जाते हैं।

आ = अ और आ में केवल मात्रा-काल में ही भेद नहीं है वरन् उच्चारण-स्थान[1] में भी भेद है। अतः इन्हें पृथक्-पृथक् ध्वनिग्राम मानना न्यायसंगत है। अ के उच्चारण में जीभ बीच में रहती है, किन्तु आ के उच्चारण में बिल्कुल पीछे रहती हैं, इसलिए इसे पश्च स्वर कहते हैं। इसके उच्चारण में मुँह बिल्कुल खुल जाता है; इसलिए इसे विवृत स्वर मानते हैं।

यह कंठ्य, पश्च, दृढ़, विवृत, दीर्घ, घोष तथा अवृत्ताकार स्वर है। जैसे, मसाला, नाला, खाना।

---

१ स्थान से साधारणतया कंठ, तालु आदि उच्चारणस्थानों का बोध होता है। किन्तु यहाँ उच्चारण-स्थान से तात्पर्य जिह्वास्थान (Position of the Tongue) **है।**

ऑ = यह स्वर विदेशी भाषा अंग्रेजी से हिन्दी में आया है। अंग्रेजी के कुछ शब्दों के तत्सम रूप के लिखने एवं बोलने में इसका व्यवहार होता है। इसका उच्चारण-स्थान आ से ऊँचा और प्रधान स्वर ओ से कुछ नीचा है। यह कंठ्य, अर्द्धविवृत, दृढ़ पश्च, दीर्घ तथा घोष स्वर है। जैसे, कॉङ्ग्रेस, लॉर्ड, डॉक्टर।

इ = यह तालव्य, ह्रस्व, अग्र, संवृत, शिथिल, घोष, अवृत्ताकार स्वर है। इसका उच्चारण-स्थान ई की अपेक्षा कुछ अधिक नीचा तथा अन्दर की ओर है। इसके उच्चारण में ओठ फैले हुए तथा ढीले रहते हैं। जैसे, अधिक, ध्वनि, इस।

ई = यह तालव्य, दीर्घ, अग्र, दृढ़, संवृत, घोष तथा अवृत्ताकार स्वर है। इसके उच्चारण-काल में जिह्वाग्र इतना ऊपर उठ जाता है कि कठोर तालु के बहुत निकट पहुँच जाता है। तो भी वह प्रधान स्वर ई की अपेक्षा नीचे ही रहता है और ओठ भी फैले ही रहते हैं। जैसे, गीत, गरीब, काशी।

इ़ = यह घोष इ का जपित (फुसफुसाहट वाला) रूप है। उच्चारण-स्थान की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। यह स्वर ब्रज-अवधी आदि बोलियों में ही कुछ शब्दों के अन्त में पाया जाता है। जैसे, आवतइ़, भोरहिं़, गोलि़।

उ = यह ओष्ठ्य, पश्च, शिथिल, संवृत, ह्रस्व, घोष तथा वृत्ताकार स्वर है। इसके उच्चारण में जीभ का पिछला भाग कंठ की ओर काफी ऊँचा उठता है पर दीर्घ ऊ की अपेक्षा नीचा तथा आगे मध्य की ओर झुका रहता है। यथा, उठना, मधुर, ऋतु।

उ़ = यह घोष उ का फुसफुसाहट वाला (जपित) रूप है किन्तु घोष उ तथा जपित उ का उच्चारण-स्थान एक ही होता है। ब्रज तथा अवधी में शब्दों के अन्त में अघोष उ आता है। जैसे, भोरउ़, जातउ़, आवतउ़।

ऊ = यह ओष्ठ्य, पश्च, दृढ़, संवृत, दीर्घ, घोष तथा वृत्ताकार स्वर है। उसका उच्चारण-स्थान प्रधान स्वर ऊ के स्थान से थोड़ा नीचा होता है। ऊ के उच्चारण में उ की तुलना में ओठ अधिक जोर के साथ बन्द (संकीर्ण) और गोल हो जाते हैं। इसके उच्चारण-काल में जीभ का पिछला भाग इतने ऊपर उठ जाता है कि कोमल तालु के बहुत निकट पहुँच जाता है। जैसे, ऊन, गोधूलि, बालू।

ए = यह कंठतालु, अग्र, दृढ़, अर्द्धसंवृत, दीर्घ, घोष, अवृत्ताकार स्वर है। इसका उच्चारण-स्थान प्रधान स्वर ए से कुछ नीचा है। ए के

उच्चारण में ओठ ई की अपेक्षा कुछ अधिक खुलते हैं। प्राचीन संस्कृत भाषा-शास्त्र में ए संध्यक्षर माना जाता था, पर हिन्दी में तो वह एक समानाक्षर जैसा उच्चरित होता है। जैसे, देख, गणेश, भले।

ऍ = यह अर्द्ध संवृत, ह्रस्व, अग्रस्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वाग्र ए की अपेक्षा कुछ अधिक नीचा और मध्य की ओर झुका रहता है। इसका व्यवहार प्रायः विभाषाओं तथा बोलियों में दिखाई पड़ता है।

जैसे—(ब्रज) अवधेस के द्वारे सकारे गई (कवितावली) 'अवधी' ओहि केर बेटवा।

ए़ = यह घोष ए का फुसफुसाहट (जपित) रूप है। इसके अतिरिक्त दोनों में और कोई भेद नहीं है। यह ध्वनि अवधी भाषा के शब्दों में मिलती है। जैसे, कहे सए़।

ऐ = यह कंठतालु, अग्र, शिथिल, अर्द्ध विवृत, दीर्घ, घोष एवं अवृत्ताकार स्वर है। कादरी ऐ को संयुक्त स्वर नहीं मानते। ऐब, कैद, जै में प्रयुक्त ऐ को मूल स्वर मानते हैं। पर डा० धीरेन्द्र[1] वर्मा जी इसे संयुक्त स्वर मानते हैं। जैसे, ऐसा, कैसा, पैर।

ऐ॑ = यह अर्द्ध विवृत, दीर्घ, अग्र स्वर है। इसके उच्चारण में जीभ का अग्रभाग ऐ की अपेक्षा कुछ नीचा तथा अन्दर की ओर झुका रहता है। इसका प्रयोग ब्रजभाषा में मिलता है :—

सुत गोद कै भूपति लै निकसे।

ऑ = यह कंठ्योष्ठ्य, अर्द्ध विवृत, ह्रस्व, पश्च, वृत्ताकार, घोष स्वर है। इसके उच्चारण में जिह्वा का पिछला भाग अर्द्ध विवृत पश्च प्रधान स्वर के स्थान की अपेक्षा कुछ ऊपर की तरफ तथा अन्दर की ओर दबा हुआ रहता है। उच्चारण-काल में ओठ खुले और गोल रहते हैं। ब्रज भाषा में इसका व्यवहार पाया जाता है।

अवलोकिहौं सोच-विमोचन को (कवितावली-बालकाण्ड)

वरु मारिऍ मोहि बिना पग धोऍहौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू (कवितावली-अयोध्या काण्ड)

औ = यह कंठ्योष्ठ्य, अर्द्ध विवृत, दीर्घ, पश्च, वृत्ताकार, घोष स्वर है। प्रधान स्वर औ से इसका स्थान कुछ ऊँचा है। इसके उच्चारण में ओठ

कुछ अधिक खुले और गोल रहते हैं। इसका व्यवहार भी व्रजभाषा में ही मिलता है। जैसे, वाको, गयो, भयो, ऐसो।

ओ = यह कंठ्योष्ठ्य, अर्द्धसंवृत, ह्रस्व, पश्च, वृत्ताकार, घोष स्वर है। प्रधान स्वर ओ की अपेक्षा इसका स्थान अधिक नीचा तथा मध्य की ओर झुका रहता है। व्रज तथा अवधी में इसका प्रयोग दिखाई पड़ता है। जैसे, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।

(कवितावली, बालकाण्ड)

ओहिकेर बेटवा।

ओ = यह कंठ्योष्ठ्य, अर्द्धसंवृत, पश्च, दृढ़, दीर्घ, घोष, वृत्ताकार स्वर है। हिन्दी में यह मूल स्वर माना जाता है। प्राचीन-काल में संस्कृत में यह संध्यक्षर माना जाता था, पर हिन्दी में समानाक्षर माना जाता है। इसके उच्चारण में ओठ स्पष्ट रूप से गोल हो जाते हैं। प्रधान स्वर से इसका उच्चारण-स्थान कुछ नीचा है। जैसे, ओला, कचोट, कहो।

औ = यह कंठ्योष्ठ्य, पश्च, शिथिल, अर्द्धविवृत, दीर्घ, घोष, वृत्ताकार स्वर है। यह संयुक्त स्वर माना जाता है। जैसे, औसर, नौकर।

हिन्दी में प्रयुक्त अन्य संयुक्त स्वरों, अनुनासिक स्वरों, अघोषस्वरों तथा मूर्धन्य स्वरों का उदाहरण पीछे दिया जा चुका है।

—:०:—

भारोपीय ध्वनि-समूह

मूल भारोपीय भाषा में शुद्ध मूल स्वर ७ थे—

अ, आ, ऍ, ए, ऑ, ओ तथा 'अ॑' (ə)।
अ, ऍ तथा ऑ ह्रस्व स्वर थे। एवं अ॑ (ə) उदासीन स्वर था।
आ, ए, ओ, क्रमशः अ, ऍ, ऑ के दीर्घ रूप थे।
गौण स्वर—ह्रस्व–इ, उ, दीर्घ–ई, ऊ
संयुक्त स्वर–ह्रस्व–अइ, एइ, ओइ,अउ,एउ, ओउ,अ॒इ,अ॒उ,इअ॒, उअ॒,
दीर्घ—आइ, एइ, ओइ, आउ, एउ, ओउ।

इन शुद्ध स्वरों के अतिरिक्त उस भाषा में ६ अन्तस्थ ध्वनियों की कल्पना की गई है जो व्यंजन होते हुए भी कभी कभी स्वर का काम करती हैं। वे हैं:—य्U, व्W, र्R, ल्L, न्N, म्M,। ये ध्वनियाँ अक्षर-संघटना में(Syllabic Function) स्वर का कार्य करती हैं। इनका अक्षर संघटनाकारी स्वर-रूप इ, उ, ऋ, लृ, (अ,) न्, (अ-) म् पाया जाता है।

मात्रा की दृष्टि से इनके रूप ह्रस्व, दीर्घ तथा शून्य–तीनों प्रकार के पाये जाते हैं।

व्यंजन-रूप तथा स्वर-रूप के अतिरिक्त ये अन्तस्थ एक ऐसा भी रूप रखते थे, जो स्वर तथा समान व्यंजन का युग्म था। इसे हम इय्, उव्, ऋर्, लृल्, (अ-) नन्, (अ-) मम् मानते हैं।

ये अन्तस्थ, शुद्ध स्वरों के साथ युक्त होकर मूल भारोपीयभाषा के ध्वनि-युग्मों के रूप में भी पाये जाते हैं। यथा-अय्, ऍय्, आॅय्, आय, एय, ओय आदि। इसी तरह व्, र्, ल्, न्, म्, वाले रूप भी पाये जाते रहे होंगे। इस प्रकार मूल भारोपीय भाषा में ३६ संध्यक्षर (Dipthong) की कल्पना की गई है। अर्थात् मूल भारोपीयभाषा में संयुक्त स्वरों की बहुलता है। ह्रस्व मूल स्वर वाले ध्वनि-युग्म ऍय्, ऑय् संस्कृत में आकर क्रमशः ए, तथा ओ हो गये और दीर्घ मूल स्वर वाले ध्वनि-युग्म एय्, ओय्, क्रमशः ऐ, औ हो गये। इस प्रकार संस्कृत ए, ओ तथा ऐ, औ शुद्ध भारोपीय स्वर न होकर ध्वनि-युग्मों से जनित हैं। भारोपीय भाषा की इ, ई तथा उ ऊ ध्वनियाँ प्रायः सभी शाखाओं में सुरक्षित हैं। अति ह्रस्व अ (ə) जिसे श्वा या उदासीन स्वर कहते हैं भारत ईरानी शाखा में इ में परिणत

हो गया। वह अन्य कई भाषाओं में अ में परिवर्तित हो गया। यह मूल रूप में किसी भी भाषा में सुरक्षित नहीं है। संस्कृत में अ तथा उसका दीर्घ रूप आ शुद्ध भारोपीय स्वर है। ग्रीक में भारोपीय भाषा के अ, ए, ओ, तथा इनके दीर्घ रूप आ, ए ओ, कुल ६ स्वर सुरक्षित हैं।

मूल भारोपीय भाषा के व्यंजन :—

मूल भारोपीय भाषा में तीन प्रकार की कवर्ग ध्वनियों का अस्तित्व माना गया है।

अघोष अल्पप्राण	अघोष महाप्राण	सघोष-अल्प प्राण	सघोष महाप्राण
कंठ्य—क K	ख Kh	ग G	घ gh
तालव्य—क्य K̂	ख्य Kĥ	ग्य Ĝ	घ्य gĥ
कंठ्य—क्व Kw	ख्व Khw	ग्व Gw	घ्व ghw
दन्त्य—तt	थ th	द d	ध dh
ओष्ठ्य—पp	फ ph	ब b	भ bh

च, छ, ज, झ मूल भारोपीय भाषा में नहीं थे। क्व ख्व ग्व घ्व से आगे चल कर च, छ, ज, झ का विकास हुआ। उदाहरणार्थ, लैटिन quenque क्विन्क्व संस्कृत में पंच हो गया। मूल भारोपीय में पेन्क्व Penque रहा होगा। लैटिन का क्विद् संस्कृत में चिद् हो गया। इनके अतिरिक्त मूल भारोपीय भाषा में एक सोष्म ध्वनि स भी थी। यह ध्वनि उस भाषा में परिस्थिति के अनुकूल अघोष तथा सघोष (ज़) दोनों रूपों में पाई जाती थी। ग, द, ब आदि सघोष ध्वनियों के पूर्व होने पर स ध्वनि सघोष ज़ रूप में उच्चरित होती थी। संस्कृत में स का अघोष रूप पाया जाता है। स का अघोष रूप अवस्ता में ह हो गया है। स का सघोष रूप (ज़) अवस्ता में मिलता है। अर्थात् स ध्वनि ही परिस्थिति अनुसार कभी ज़ कभी ह हो जाती थी। मूल भारोपीय भाषा में दो प्रकार की शुद्ध प्राण ध्वनियाँ—एक अघोष 'ह' ध्वनि तथा दूसरी सघोष 'ह' रही होगी। संस्कृत में दोनों प्रकार की प्राण ध्वनियाँ मिलती हैं। अघोष शुद्ध प्राण ध्वनि विसर्ग (:) के रूप में तथा सघोष प्राण ध्वनि ह के रूप में मिलती है।

च, छ, ज, झ, ञ, की कल्पना मूल भाषा में नहीं की जाती। ङ, ण, न की भी कल्पना मूल भाषा में नहीं की गई है। ट, ठ, ड, ढ, ण ध्वनियाँ भारतीय भारोपीयवर्ग की भाषा में भारत में आकर विकसित हुईं। ये अवस्ता

ग्रीक तथा लैटिन में नहीं पाई जातीं। संभवतः ये मूर्धन्य ध्वनियाँ द्राविड़ भाषा के सम्पर्क से भारोपीय वर्ग की आर्य भाषा में भारतवर्ष में विकसित हुई।

वैदिक ध्वनि-समूह—इसमें भारोपीय मूलभाषा की अनेक ध्वनियाँ लुप्त हो गईं। कुछ ने नया रूप धारण कर लिया। और अन्य भाषा-भाषियों के सम्पर्क से इसमें कुछ नई ध्वनियों का आगमन भी हुआ। ह्रस्व ऍ (ĕ) ऑ (ŏ) अ (ə) or [श्वा] (२) दीर्घ ऐ (ē) औ (ō) (३) संध्यक्षर ऍय्, (ei) ऑय्, (oi) ऍउ (eŭ), ऑउ (oŭ) आय् (āi), एय् (ēi), ओय् (ōi), आउ (āu) एउ (ēu) ओउ (ōu)। (४) स्वनन्त अनुनासिक व्यजन (५) और नाद सोष्म Z का अभाव है। मूल भाषा के ऍय, ऑय् संस्कृत में आकर ए, ओ हो गये। एवं एय् तथा ओय्, संस्कृत में आकर ऐ, औ हो गये।

मूल भाषा के उदासीन अ (e) के स्थान में इ; (ऍ) ĕ (ऑ) ŏ के स्थान में ă अ ; दीर्घ ए ē ओ ō के स्थान में आ ; संध्यक्षर ऍय् ei ऑय् oi के स्थान में ए ĕ ओ; एउ eŭ ओउ oŭ के स्थान में ओ (ŏ) और aẓ, eẓ, oẓ के स्थान में भी ए, ē ओ ō; (आय्),ōi (एय्) ēi (ओय्) oi के स्थान में ऐ āi; आउ, ōu (एउ) ēu (ओउ) ōu के स्थान में औ हो गया। r̥ के स्थान में ईर ऊर; l̥ के स्थान में r̥ ऋ हो गया। अनेक कंठ्य वर्ण जैसे, क्य, ख्य, ग्य, घ्य तालव्य हो गये। भारोपीय काल का तालव्य स्पर्श स वैदिक में सोष्म श के रूप में परिणत हो गया। द्राविड़ भाषा के प्रभाव से आठ मूर्धन्य व्यंजन वैदिक भाषा में नये उत्पन्न हुए। वे हैं ट ठ ड ढ ण, ळ ळ्ह्, ष।

(१)इस प्रकार वैदिक भाषा में नौ मूल स्वर या समानाक्षर हैं :—

१—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ।

(२) चार संयुक्त स्वर या संध्यक्षर—ए (अइ) ओ (अउ) ऐ (आइ) औ (आउ)। वस्तुतः वैदिल काल में ए ओ समानाक्षर या मूल स्वर के समान धीरे धीरे उच्चरित होने लगे थे किन्तु ऐ और औ का उच्चारण अइ, अउ के समान होता था। पर इनकी उत्पत्ति आइ और आउ से हुई है। ऋ का उच्चारण प्रातिशाख्य में वर्त्स्य माना गया है। बाद में जीभ को दो बार वर्त्स्य में छुआ कर होने लगा था। तदनन्तर मूर्धन्य हो गया। ऌ का प्रयोग बहुत कम मिलता है। क्लृप में यह स्वर पाया जाता है। चटर्जी के मतानुसार ऌ का उच्चारण अंग्रेजी के (little) शब्द के दूसरे l से मिलता

जुलता था। इ उ शुद्ध अर्द्ध स्वर थे। ळ ळह मूर्धन्य ध्वनियाँ कदाचित् उस बोली में वर्तमान थीं जिसके आधार पर साहित्यिक वैदिक बनी। दो स्वरों के बीच आने वाले ड् ढ् से इनकी उत्पत्ति मानी जाती है।

वैदिक संस्कृत की किसी विभाषा में ह्रस्व ए ओ मिलते थे पर साहित्यिक वैदिक तथा परवर्ती संस्कृति में इनका लोप हो गया। फिर पाली में ये प्रगट होकर प्राकृत तथा अपभ्रंश में से होकर हिन्दी में आये।

वैदिक व्यंजन

कंठ्य—क् ख् ग् घ् ङ्। कवर्ग का उच्चारण कोमल तालु के स्थान की दृष्टि से आज कल की अपेक्षा कदाचित् कुछ अधिक पीछे से होता था। अतः क उस समय क के कुछ अधिक निकट रहा। इसीलिए कवर्ग का स्थान कंठ्य माना जाता था।

तालव्य—च् छ् ज् झ् ञ्। वैदिक तालव्य स्पर्शों में सोष्मता कम थी, इसलिए इनमें घर्ष ध्वनि का समावेश नहीं था, पर कालान्तर में सोष्म श्रुति इतनी बढ़ गई कि इनको घर्षस्पर्श मानना पड़ा।

मूर्धन्य—ट् ठ् ड् ढ् ळ् ळ्ह् ण। ट वर्गीय ध्वनियों का स्थान आज कल की अपेक्षा कुछ ऊपर था।

दन्त्य—त् थ् द् ध् न्। तवर्ग का स्थान प्रातिशाख्यों के अनुसार वर्त्स्य था।

ओष्ठ्य—प् फ् ब् भ् म्।
अन्तस्थ—य् र् ल् व्।
ऊष्मध्वनि—श् ष् स्।
प्राणध्वनि—ह्।

अनुनासिक—अनुस्वार। वैसे ङ् ञ् ण् न् म् का उच्चारण भी नासिका-विवर से होता था पर इनके उच्चारण में कंठ, तालु, मूर्धा ओष्ठ, का भी योग रहता था। अतः ये व्यंजन विशुद्धतः अनुनासिक नहीं थे। उस काल में विशुद्ध अनुनासिक तो एक अनुस्वार ही था।

(४) ६ अन्तस्थ थे—य् र् ल् व् ळ ळह
(५) ६ अघोष ऊष्म थे—श, ष, स, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय
(६) एक सघोष ऊष्म था—ह।
(७) एक शुद्ध अनुस्वार था—ं।

संस्कृत ध्वनि-समूह—पाणिनि ने संस्कृत (लौकिक) काल के ध्वनि-समूह को १४ सूत्रों में विभक्त किया है। १. अइउण् २. ऋ ऌ क् ३. ए ओ ङ् ४. ऐऔच् ५. हयवरट् ६. लण् ७. ञमङणनम् ८. झभञ् ९. घढधष् १०. जबगडदश् ११. खफछठथचटतव् १२. कपय् १३. शषसर् १४. हल्

पहले चार सूत्रों में स्वरों का परिगणन हुआ है, उनमें से भी पहले तीन में समानाक्षर गिनाये गये हैं।

(१) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ओ ये ग्यारहों वैदिक काल के समानाक्षर हैं। परवर्ती काल में अ का उच्चारण संवृत होने लगा था और ॠ तथा ऌ का प्रयोग कम और उच्चारण संदिग्ध हो चला था।

(२) चौथे सूत्र में दो संध्यक्षर आते हैं। ऐ, औ।

(३) पाँचवें और छठें सूत्रों में प्राणध्वनि है और चार अन्तस्थ वर्णों का उल्लेख मिलता है। अ, इ, उ ऋ, ऌ के क्रमशः बराबरी वाले व्यंजन ह्, य्, व्, र्, ल् हैं। स्वरों के समान ये पाँचों व्यंजन भी घोष होते हैं।

(४) सातवें सूत्र में पाँचों अनुनासिक व्यंजनों का वर्णन है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि स्वर और व्यंजनों के बीच में अन्तस्थ और अनुनासिक व्यंजनों का आना सूचित करता है कि इतनी ध्वनियाँ आक्षरिक भी हो सकती है।

(५) इसके बाद ८, ९, १०, ११ और १२ सूत्रों में २० स्पर्श व्यंजन का परिगणन है। उनमें भी पहले ८, ९, १० सूत्रों में घोष व्यंजनों का वर्णन है। उन घोष स्पर्शों में से भी पहले महाप्राण घ्, झ्, ढ्, ध्, भ् आते हैं तब अल्प प्राण ज्, ब्, ग्, ड्, द् आते हैं। फिर ११ और १२ सूत्रों में अघोष स्पर्शों का वर्णन महाप्राण और अल्पप्राण के क्रम में हुआ है—ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, और क्, च्, ट्, त्, प्।

(६) १३ और १४ सूत्रों में अघोष सोष्म वर्णों श, ष, स और ह का उल्लेख है। संस्कृत में ये ही घर्ष-व्यंजन हैं। इन्हें ही उष्म कहते हैं। अंतिम सूत्र हल् ध्यान देने योग्य है। बीच में पाँचवें सूत्र में प्राण-ध्वनि ह की गणना की जा चुकी है। यह अन्त में एक नया सूत्र रखकर तीन अघोष सोष्म ध्वनियों की ओर संकेत किया गया है। विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय। ये तीन प्राण-ध्वनि ह के ही अघोष रूप हैं।

इस प्रकार इन सूत्रों में क्रम से चार प्रकार की ध्वनियाँ आती हैं :— पहले स्वर, फिर ऐसे व्यंजन जो स्वनंत स्वरों के समान धर्मा (Corresp-

onding) व्यंजन हैं; तब स्पर्श-व्यंजन और अन्त में घर्ष-व्यंजन। आजकल के भाषावैज्ञानिक भी इसी क्रम से वर्णों का वर्गीकरण करते हैं।

१. स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, ऋ, ॠ, लृ।
(२) स्वर समानधर्मी व्यंजन—इ् य् व् र् ल् ञ् ङ् ण् न् म्।
(३) स्पर्श व्यंजन—क् ख् ग् घ् च् छ् ज् झ आदि बीसों स्पर्श।
(४) घर्ष व्यंजन—श् ष् स् ह्।
(५) विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय।
(६) अनुस्वार।

इस प्रकार संस्कृत में मूर्धन्य ळ् ळ्ह् को छोड़कर लगभग सभी वैदिक ध्वनियाँ मिलती हैं। कुछ ध्वनियों के उच्चारण बदल गये। ए ओ के उच्चा- आइ, आउ के समान न हो कर अइ, अउ के समान हो गये। ह्ल लृ का प्रयोग नहीं के बराबर होने लगा। पाणिनि-काल में कवर्ग का उच्चारण जिह्वामूलीय था बाद में परिवर्तित हो गया।

पाली तथा प्राकृत ध्वनि-समूह—पाली में आते आते केवल दस स्वर- अ आ इ ई उ ऊ ए ऎ ओ ऒ रह गये। ऋ ॠ लृ ऐ औ का लोप हो गया। पाली में ऋ के स्थान में प्रायः अ, इ अथवा उ का प्रयोग होता है। ऐ औ के स्थान में ए ओ हो जाते हैं। संयुक्त व्यंजनों के पहले ह्रस्व ऎ ऒ भी मिलते हैं। वैदिक संस्कृत की किसी विभाषा में ये मिलते थे किन्तु साहित्यिक वैदिक तथा परवर्ती संस्कृत में इनका लोप हो गया। फिर पाली में ये प्रगट हो कर प्राकृत तथा अपभ्रंश में होते हुए हिन्दी में भी आ पहुँचे। उक्त आधार पर कुछ लोगों की धारणा है कि ह्रस्व ऎ ऒ सदा बोले जाते रहे पर जिस प्रकार पाली, प्राकृत तथा हिन्दी की साहित्यिक भाषाओं के व्याकरणों में ह्रस्व ऎ ऒ का वर्णन नहीं मिलता तद्वत् वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के व्याकरणों में ऎ ऒ का वर्णन नहीं हुआ पर उच्चारण में ये सदा प्रयुक्त होते रहें।

पाली में विसर्जनीय व्यंजन, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का प्रयोग नहीं होता। विसर्ग का अन्यत्र लोप हो जाता है किन्तु अन्तिम विसर्ग के स्थान में ओ तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के स्थान में व्यंजन का प्रयोग होता है। जैसे, शावकः का पाली में सावको, दुःख का दुक्ख, पुनःपुनम् का पुनप्पुनम हो जाता है। अनुस्वार का अनुनासिक व्यंजनवत् उच्चारण होता था। पाली में श, ष के स्थान में स का ही प्रयोग होता है। किन्तु पश्चि-

मोत्तर के शिलालेखों में तीनों का प्रयोग मिलता है। संस्कृत के अन्य सभी व्यंजन पाली में पाये जाते हैं। तालव्य और वर्त्स्य स्पर्शों का उच्चारण-स्थान थोड़ा और आगे बढ़ आया। पाली भाषा के युग में वर्त्स्य वर्ण अन्तर्दन्त्य हो गये। तालव्य स्पर्श वर्ण तालुवर्त्स्यघर्षस्पर्श वर्ण हो गये थे।

प्राकृत ध्वनि-समूह—प्राकृत में ऋ ॠ ऌ ॡ य श ष ऐ औ का लोप हो जाता है।

ऐ के स्थान पर ए तथा औ के स्थान पर ओ हो जाता है। जैसे, तैल का तेल, औषधि का ओषद। प्राकृत काल में ह्रस्व विवृत ऍ ऑ ध्वनियों के होने का संकेत मिलता है, यह संकेत प्राकृत छन्दों में देखने को मिलता है जहाँ कभी कभी ऐ ओ ह्रस्व या एक मात्रिक हो जाते हैं। संस्कृत में इन ह्रस्व ध्वनियों का अभाव था।

मागधी में य श मिलता है। ष और विसर्ग का प्रयोग प्राकृत में नहीं लौट सका। हाँ अशोक के शिलालेखों में पश्चिमोत्तर प्राकृत में ष मिलता है।

शौरसेनी प्राकृत में पाली की प्रायः सभी ध्वनियाँ पाई जाती हैं। पाली की ड़ ढ़ ध्वनियाँ भी शौरसेनी में मिलती हैं। हाँ न और य के स्थान पर शौरसेनी में ण और ज हो जाता है।* अनुस्वार का प्रायः अनुनासीकरण हो जाता है। जैसे, शृंखला का सांकल।

मागधी में र का ल हो जाता है। जैसे, दरिद्र का दलिद्द हो जाता है।

मागधी में श, ष, स तीनों के स्थान पर श का विकास हुआ है। जैसे, पुरुष का पुलिशे, समर का शमल हो जाता। शौरसेनी महाराष्ट्री में श ष स का स हो जाता है। जैसे, शेषः का सेसो, शूर्पेण का सूपेन हो जाता है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पाली की ध्वनियाँ ही प्राकृतों में चलती रहीं। स्वर और व्यंजन प्रायः वे ही रहे। अतः पाली और प्राकृत ध्वनि-समूहों की स्पष्टता के लिए नीचे पाली ध्वनि-समूह दिया जाता है :—

पाली ध्वनि-समूह

स्वर—अ, आ, इ ई, उ ऊ ए ऍ ओ ऑ

व्यंजन— क् ख् ग् घ् ङ्
च् छ् ज् झ् ञ्
ट् ठ् ड् ढ् ण्
त् थ् द् ध् न्
प् फ् ब् भ् म्

---

*जैसे, नगरं का णअरं, शैय्या का सेज्जा हो जाता है।

अन्तस्थ— य्, र्, ल्, व्

ऊष्म— स्, ह्

अनुस्वार— ं

अपभ्रंश-ध्वनि-समूह

अपभ्रंश में भी स्वरों की संख्या १० ही है।

स्वर— अ आ उ ऊ ओ ओ इ ई ए ऐ।

इनके अतिरिक्त अए् और अओ इन दो संध्यक्षरों का विकास भी पुरानी हिन्दी में मिलता है।

अपभ्रंश के व्यंजन :—

व्यंजन— क्, ख्, ग्, घ्, ङ्
च्, छ्, ज्, झ्, ञ्
ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ड़्, ढ़्
त्, थ्, द्, ध्, न्, न्ह्
प्, फ्, ब्, भ्, म्, म्ह्

अन्तस्थ— य्, र्, ल्, व्, वं, व़्

ऊष्म— स्, ह्

हिन्दी-ध्वनियों का विकास

आधुनिक हिन्दी की अधिकांश ध्वनियाँ परंपरागत भारतीय आर्य भाषा के ध्वनि-विकास की परंपरा से आई हैं। कुछ ध्वनियाँ पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश काल में विकसित हुईं। कुछ ध्वनियाँ फारसी, अरबी तथा अंग्रेजी के सम्पर्क से भी हिन्दी में आईं।

(१) प्राचीन ध्वनियाँ—

स्वर— अ आ इ ई उ ऊ ए ओ

व्यंजन— क्, ख्, ग्, घ्, ङ्
च्, छ्, ज्, झ्, ञ्
ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्
त्, थ्, द्, ध्, न्
प्, फ्, ब्, भ्, म्
य्, र्, ल्, व्
श्, स्, ह्

पाली प्राकृत तथा अपभ्रंश काल में विकसित ध्वनियाँ—

ऐ (अए), औ (अओ) स्वर पुरानी हिन्दी में विकसित होकर आधुनिक हिन्दी में आये। ऍ, ऑ स्वर पाली में उत्पन्न होकर प्राकृत तथा अपभ्रंश में होते हुए हिन्दी में पहुँचे। ड़ ढ़ व्यंजनों का विकास पाली में हुआ। फिर ये प्राकृत अपभ्रंश से होते हुए हिन्दी में आये। न्ह, म्ह, वं व् का विकास अपभ्रंश-काल में हुआ। अपभ्रंश से ये ध्वनियाँ हिन्दी में आईं।

क़ ख़ ग़ ज़ फ़ ध्वनियाँ अरबी-फारसी से हिन्दी में आईं। ये ध्वनियाँ हिन्दी में प्रयुक्त फारसी अरबी के तत्सम शब्दों में पाई जाती हैं।

ऑ दीर्घार्द्ध स्वर, इ् ह्रस्वार्द्ध स्वर तथा कई संयुक्त स्वर हिन्दी में प्रयुक्त अंग्रेजी के तत्सम शब्दों में पाये जाते हैं। ऋ ष्-ञ् वर्ण संस्कृत तत्सम शब्दों में लिखे तो जाते हैं किन्तु हिन्दी-भाषा-भाषी इनके मूल रूप का उच्चारण नहीं करते। ऋ तत्सम शब्दों में लिखी तो जाती है पर उसका उच्चारण रि के समान होता है। इसी प्रकार ष का उच्चारण हिन्दी में श के समान होता है। ञ तत्सम शब्दों में भी स्वतंत्र रूप से नहीं आता। शब्द के मध्य में आनेवाले ञ् का उच्चारण साहित्यिक हिन्दी में न् के समान होता है। जैसे, चञ्चल, मञ्जन, चन्चल मन्जन की तरह बोले जाते हैं। ण का उच्चारण संयुक्त वर्ण के रूप में न् के समान होता है। जैसे, पण्डित, ठण्डा, ताण्डव का उच्चारण हिन्दी में पन्डित, ठन्डा, तान्डव के समान होता है। ण हिन्दी के तत्सम शब्दों में जहाँ स्वतंत्र रूप में शब्द के मध्य या अन्त में आता है वहाँ ण की तरह बोला जाता है। जैसे, गणेश, कारण, शरण।

हिन्दी की बोलियों में कुछ विशेष स्वर तथा व्यंजन ध्वनियाँ पाई जाती हैं जिनका व्यवहार आधुनिक साहित्यिक हिन्दी में नहीं होता।

जैसे, अ॑ इ़ उ़ ए़ ऐ॑ ए॑ आ॑ ओ॑ ऑ ञ् ड़्ह् ल्ह्

इसके अतिरिक्त हिन्दी की बोलियों में संयुक्त स्वरों, अनुनासिक स्वरों तथा अघोष स्वरों का भी विकास हुआ है।

हिन्दी के स्वर—अ आ ऑ (ऑ) (ओ॑) (ओ़) ओ, उ (उ़) ऊ ई इ (इ़) ए (ए॑) (ऐ॑) (ए़) (अ॑)

मूल स्वरों के अनुनासिक तथा संयुक्त रूप भी व्यवहृत होते हैं।

बोलियों के स्वर कोष्ठक में रख दिये गये हैं।

संयुक्त स्वर—तैयारी, बुलउआ, गाइए, कउआ।

अनुनासिक स्वर—बाँस, साँचा, हँसी, गँवार।

अघोष स्वर—कहसए़, भोरउ़ जातउ़।

स्पर्श—क़् क् ख् ग् घ्
ट् ठ् ड् ढ्
त् थ् द् ध्
प् फ् ब् भ्
स्पर्श संघर्षी—च् छ् ज् झ्
अनुनासिक—ङ् ञ् ण् न् न्ह् म् म्ह्।
पार्श्विक—ल् ल्ह्
लुंठित—र् र्ह्
उत्क्षिप्त—ड़् ढ़्
संघर्षी—ह् ख़् ग़् श् स् ज़् फ़् व्
अर्द्धस्वर—य् व्

१—कवर्गध्वनियों को संस्कृत वैयाकरणों ने कंठ्य कहा है। प्रातिशाख्यों में इनका स्थान जिह्वामूलीय माना गया है। आधुनिक ध्वनि-शास्त्री इन्हें कोमल तालु जन्य (Velar) कहना अधिक संगत समझते हैं।

२—चवर्ग ध्वनियाँ संस्कृत में तालव्य मानी गई हैं। इनके उच्चारण में जिह्वा मध्य के द्वारा कठोर तालु के दोनों छोरों को स्पर्श किया जाता है। पर आजकल इनका रूप सोष्म स्पर्श (Affricates) माना जाता है। व्रज, हिन्दी तथा अवधी की च, छ, ज, झ ध्वनियाँ सोष्म स्पर्श हैं।

३—टवर्ग ध्वनियों को मूर्धन्य कहा जाता है। आधुनिक ध्वनि-शास्त्री इनको Retroflex कहते हैं। इनके उच्चारण में जिह्वा का अग्र भाग उलटकर कठोर तालु के किसी भी अंश को छूता है। जिह्वा के इस प्रतिवेष्टित्व का संकेत प्रातिशाख्यों में भी मिलता है। इसी आधार पर आधुनिक ध्वनिशास्त्री इन्हें retroflex प्रतिवेष्टित कहना अधिक उचित समझते हैं।

ळ् ळ्ह मूर्धन्य ध्वनियाँ उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित (flapphd retroflex) उनके उच्चारण में जिह्वा का अग्र भाग उलट कर झटके के साथ जैसे, किसी चीजको फेंकता-सा वापस लौट आता है। ये दोनों ध्वनियाँ वैदिक संस्कृत में ही पाई जाती हैं।

४—तवर्ग ध्वनियाँ दन्त्य हैं। इनके उच्चारण में जिह्वा ऊपर के दातों को अपने नुकीले भाग से छूती है। हिन्दी में इनका रूप वर्त्स्य माना जाता है।

५—पवर्ग द्व्योष्ठ्य हैं। इनके उच्चारण में स्थान तथा करण दोनों ओष्ठ हैं।

६—अनुनासिक (ङ, ञ, ण, न, म) ध्वनियाँ अपने वर्ग के साथ अनुनासिक भी हैं। इनके उच्चारण के समय वायु का कुछ अंश नासिका-विवर से निसृत होता है। न का स्थान संस्कृत में दन्त्य माना गया है पर आज कल वर्त्स्य (teeth ridge) माना जाता है।

७—संस्कृत वैयाकरण य व र ल को अन्तस्थ मानते हैं। प्रातिशाख्यों में य को तालव्य कहा गया है। आधुनिक ध्वनि शास्त्रियों में कुछ इसे तालव्य, कुछ वर्त्स्य मानते हैं।

र को संस्कृत के प्राचीन वैयाकरण मूर्धन्य मानते हैं। र को कुछ प्रातिशाख्य दन्तमूल मानते हैं कुछ वर्त्स्य। आधुनिक ध्वनिशास्त्री इसे लुंठित (Rolled) मानते हैं।

ल को संस्कृत के वैयाकरण दन्त्य कहते हैं। आधुनिक ध्वनिशास्त्री इसे पार्श्विक (latrel) मानते हैं।

८—श, ष, स ध्वनियाँ संस्कृत में तालव्य, प्रतिवेष्टित (मूर्धन्य) तथा दन्त्य सोष्म मानी गई हैं। हिन्दी में स का रूप वर्त्स माना जाता है।

९— : (विसर्ग) तथा ह ध्वनियाँ क्रमशः अघोष तथा सघोष हैं। कुछ भारतीय विद्वान इसे कंठ्य (Glutteral) कुछ उरस्य (Pulmonic) मानते हैं। ह हिन्दी में शब्दारंभ में अघोष तथा शब्द के अन्त में सघोष माना गया है।

व दन्तोष्ठ्य (Dento labial) है।

ऋ का उच्चारण आजकल प्रायः रि के समान होता है।

संस्कृत वैयाकरणों ने अ आ को कंठ्य, इ, ई को तालव्य, ए, ऐ को कंठ तालव्य, उ ऊ को ओष्ठ्य, ओ औ को कंठ्योष्ठ्य, ऋ ॠ ऌ को जिह्वा-मूलीय माना है। कात्यायन प्रातिशाख्य के अनुसार ऌ दन्त्य है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ऋ, ॠ, ऌ वस्तुतः र् ल् के अक्षर-संघटनकारी रूप हैं, स्वर नहीं हैं। संस्कृत में ऐ (आइ) औ (आउ) ध्वनियुग्म Dipthong माने जाते हैं। किन्तु हिन्दी में पैसा औरत उच्चरित होते हैं। (paisa aurat संस्कृत उच्चारण है।)

यह वर्णपरिवर्तन जर्मन भाषा में दो बार हुआ। प्रथम वर्णपरिवर्तन प्रागैतिहासिक काल में हुआ और उसने जर्मन भाषा की व्यंजन-प्रणाली को भारोपीय परिवार की मूल भाषाओं की व्यंजन-प्रणालियों से अलग किया। इसको प्रथम ध्वनिपरिवर्तन कहते हैं। इस ध्वनि-परिवर्तन में मूल भाषा के कुछ स्पर्श जर्मन भाषा में बदल गये। अर्थात् प्रथम वर्ण-परिवर्तन में मूल भाषा से जर्मन भाषा अलग हुई और द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन ईसाकी ७वीं शताब्दी में में हुआ, जबकि जर्मन लोगों से ऐंग्लो सैक्सन लोग पृथक हो गये। इस द्वितीय वर्णपरिवर्तन में उच्च जर्मन से निम्न जर्मन अलग हुई। दोनों ही प्रकार के वर्णपरिवर्तनों का कारण जातीय मिश्रण है। इस नियम से पता चलता है किस प्रकार जर्मन वर्ग की भाषाओं में कतिपय मूल भारोपीय स्पर्शों का विकास ग्रीक, लैटिन, संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं की अपेक्षा भिन्न प्रकार से हुआ।

प्रथम वर्ण परिवर्तन में मूल भारोपीय भाषा के कुछ स्पर्श प्राचीन जर्मन भाषा में परिवर्तित हो गये। मूल भारोपीय भाषा के व्यंजन संस्कृत तथा ग्रीक आदि में सुरक्षित हैं। अतः उदाहरण के लिये मूल के स्थान पर संस्कृत या ग्रीक शब्द लिये गये हैं, इसी प्रकार परिवर्तित स्पर्शों को दिखाने के लिये प्रायः जर्मनी वर्ग की अंग्रेजी भाषा के शब्द लिये गये हैं। इस नियम के अनुसार मूल आर्य भाषा के क्‌ त्‌ प्‌ प्राचीन जर्मन भाषा में क्रमशः ख़्‌ (ह्‌) थ्‌ फ़्‌; ग्‌ द्‌ ब्‌ क्रमशः क्‌ त्‌ प्‌ और घ्‌ ध्‌ भ्‌ क्रमशः ग्‌ द्‌ ब्‌ हो जाते हैं।

ग्रिम-नियम का प्रथम वर्ण परिवर्तन (समय-ईसा पूर्व)

मूल आर्य भाषा	प्राचीन जर्मन भाषा
क्‌ त्‌ प्‌	ख़्‌ (ह्‌) थ्‌ फ़्‌
ग्‌ द्‌ ब्‌	क्‌ त्‌ प्‌
घ्‌ ध्‌ भ्‌	ग्‌ द्‌ ब्‌

मूल आर्य भाषा के व्यंजन संस्कृत में सुरक्षित हैं; प्राचीन जर्मन के अंगरेजी में। अतः इन्हीं भाषाओं से उदाहरण अधिकांश मात्रा में प्रस्तुत किये जायँगे; क्योंकि हम लोग प्रायः इन दोनों से परिचित हैं।

ग्रिम-नियम के अनुसार प्रथम ध्वनि-परिवर्तन का उदाहरण

संस्कृत	अंग्रेजी या प्राचीन जर्मन
क्—कः	ख् (ह्)—who
त्—{ दन्त, त्रि	थ्—{ tooth, three
प्—पिता	फ्—Father
ग्—गो	क—Cow
द्—दश	त—Ten
ब्—स्लेउब् (मूल भारोपीय भाषा में पाया जाता होगा।	प—slip
घ—घनं	ग—Gong (गौंग)
ध—विधवा	द—widow
भ—भवामि	ब—Be

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन—प्रथम वर्ण-परिवर्तन में मूल भाषा से जर्मनिक भाषा (प्राचीन जर्मन) अलग हुई थी। पर द्वितीय वर्ण-परिवर्तन में जर्मन भाषा के दो रूपों उच्चजर्मन और निम्न जर्मन में अन्तर उपस्थित हुआ। इसका मूल कारण यह है कि निम्न जर्मन वाले (अंग्रेज) जातीय मिश्रणके पूर्व ही वहाँ से हट गये। अतः उनकी भाषा में परिवर्तन नहीं हुआ। उच्च जर्मन बोलने वाले वहीं रहे। उनमें जातीय मिश्रण हुआ। अतः उनकी भाषा दूसरी जातियों के सम्पर्क से परिवर्तित हो गई। परिणाम यह हुआ कि उच्च और निम्न जर्मन की कुछ ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हो गईं। निम्न जर्मन की प्रतिनिधि अंग्रेजी से यहाँ नीचे उदाहरण दिये जायँगें। इस ध्वनि-परिवर्तन में निम्न जर्मन के ग् द् ब्, क् त् प् और ख् (ह) थ् फ् उच्चं जर्मन में क्रमशः क् त् प्, ख् (ह) थ् फ् और ग् द् ब् हो जाते हैं।

द्वितीय ध्वनि परिवर्तन। समय—ईसा ७०० ई०

निम्नजर्मन (प्राचीन जर्मन) अंग्रेजी	आधुनिक जर्मन (उच्च जर्मन)
ग् द् ब्	क् त् प्
क् त् प्	ख् (ह्) थ् फ्
ख् (ह्) थ् फ़	ग् द् ब

उदाहरण

	निम्न जर्मन (प्राचीन) जर्मनअंग्रेजी		आधुमिक जर्मन (उच्च जर्मन)
ग		क	
द	Day , deed	त	Tag टाग, tat टाट
ब	Be (Beom गाथिक)	प	pim
क	yoke , Book	ख (ह्)	Joch (याख़) Buch बुख़
त	foot	थ	fuss (फस्स)
प	Spring , Sheep	फ	Fruhling फ्रुहलिङ्ग
		—	Schaf (शाफ)
	deep	—	Tief टीफ
ख (ह)	who	ग	hwer (ग्वेर)
थ	three north	द	Drei (ड्राय) norden नौर्डेन
फ	father	ब	Vater वातेर

प्रथम और द्वितीय वर्ण परिवर्तन के सम्बन्ध में ग्रिम नियम के अनुसार ध्वनियों के परिवर्तन की तालिका
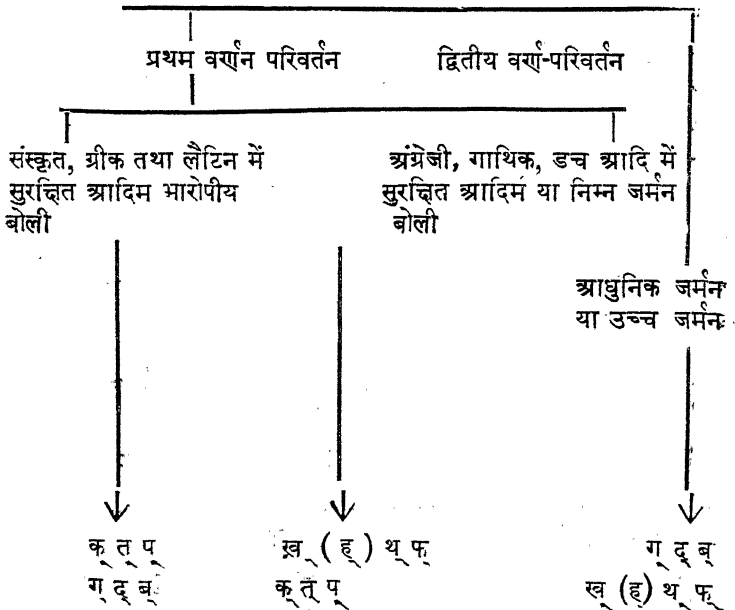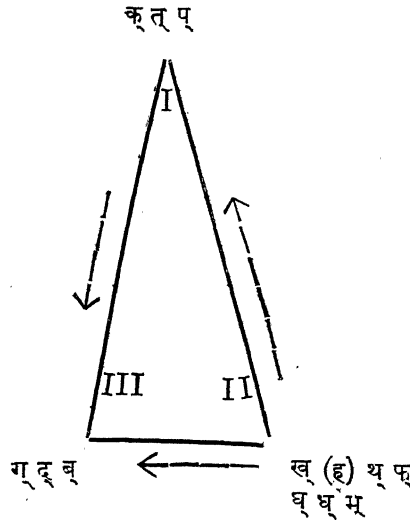
उपर्युक्त त्रिभुज के किसी विन्दु की ध्वनियों को यदि हम आदिम भारोपीय ध्वनि (संस्कृत, ग्रीक, लैटिन में सुरक्षित) मानें तो प्रथम ध्वनि परिवर्तन जो निम्न जर्मन (अंग्रेजी, गाथिक, डच की ध्वनियों में सुरक्षित है) हुआ वह उसी दिशा में बाण की नोक की ओर आगे बढ़ने से दूसरे बिन्दु पर मिलेगा फिर उसी दिशा में बाण की नोक की ओर आगे बढ़ने से तीसरे विन्दु की ध्वनियों में द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन मिलेगा जो आधुनिक जर्मन की ध्वनियों में सुरक्षित है।

ग्रिम नियम का अपवाद

दोनों प्रकार के ध्वनिपरिवर्तनों में ग्रिम ने जैसी समानता दिखाने का प्रयत्न किया है, वैसी समानता व्यापक रूप से मिलती नहीं। प्रथम वर्ण-परिवर्तन में भी अपवाद नियमित रूप में पाये जाते हैं। द्वितीय वर्ण-परिवर्तन में उन अपवादों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है। ग्रासमैन तथा वर्नर महोदय ने इन अपवादों का समाधान अपने अपने ध्वनिनियमों में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जो उन्हीं के नाम से क्रमशः ग्रास मैन और बर्नर की संज्ञा से प्रसिद्ध हैं। संस्कृत दुहिता का अंग्रेजी में 'दातर' ही होता है, होना चाहिए तातर। सप्तम् का गाथिक में सिबुम (Sebum) होता है जो ग्रिम नियम के अनुसार ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ ग्रिम नियम के अनुसार त को थ में, तथा प को फ में, परिवर्तित होना चाहिये। ग्रिम के नियमानुसार क् त् प् का क्रमशः ख् (ह) थ् फ् होना चाहिये। पर भारोपीय भाषा के कुछ शब्दों के क् त् प्

प्राचीन जर्मन, अंग्रेजी या गाथिक के शब्दों में ग् द् ब्, हो जाते हैं। उदाहरणार्थ ग्रीम नियमानुसार ग्रीक भाषा के किग्खो से हो (ho) तुप्लोस से थम (Thump) और पिथास से फाडी (fody) बनना चाहिये, पर बनता है क्रमशः गो, (go) डम (dumb) और बाडी (Body)। यह अपवाद कार्ल वर्नर के द्वारा स्पष्ट किया गया।

ग्रासमान

ग्रासमान ने ग्रिम नियम के अपवादों को दूर करने के लिए एक नया नियम बनाया जिसके अनुसार मूल भारोपीय भाषा के किसी शब्द या धातु में दो महाप्राण ध्वनियाँ (उसके आरम्भ या अन्त दोनों स्थानों में) एक साथ नहीं रह सकतीं, यदि मूल भाषा में किसी शब्द या धातु के आदि और अन्त दोनों स्थानों पर महाप्राण ध्वनियाँ हों तो संस्कृत, ग्रीक आदि में एक अल्प प्राण हो जाती है। इस प्रकार की स्थानापन्न अल्पप्राण ध्वनियों में ग्रिम नियम लगता है। पहले से चली आई विशुद्ध अल्प प्राण ध्वनियाँ में अर्थात् जो स्थानापन्न नहीं हैं—उनमें ग्रिम नियम नहीं लगता। इस प्रकार ग्रासमान ने बताया कि मूल भारोपीय भाषा का भेउभ् संस्कृत में बोध बना, गाथिक में बिउद हो गया। मूल भारोपीय भाषा का भेन्घ संस्कृत में बन्ध तथा गाथिक में बिन्दान बन गया। इसी प्रकार मूल भाषा का धभ् संस्कृत में दभ् तथा गाथिक में दाब्स हो गया।

ग्रासमान के नियम के अनन्तर भी ग्रिम नियम के अपवाद मिलने लगे। उन अपवादों को दूर करने के लिए वर्नर ने अपना ध्वनि-नियम आविष्कृत किया। जैसे, शतम् का अंग्रेजी में हंड्रेद (हंड्रेड) होता है। ग्रिम नियमानुसार हंथ्रेद होना चाहिए। त का थ होना चाहिए द नहीं। मूल भाषा का सेप्तन् संस्कृत में सप्तम् गाथिक में सिबुम तथा अंग्रेजी में सेवेन् होता है जो ग्रिम नियमानुसार ठीक नहीं है। वर्नर ने उक्त प्रकार के अपवादों का कारण स्वराघात की भिन्नता घोषित की। उसने बतलाया कि ग्रिम नियम स्वराघात पर आधारित है। उसका कहना था कि मूलभाषा के क त प के पूर्व यदि स्वराघात हो तो ग्रिम नियम के अनुसार ध्वनि परिवर्तन होता है और यदि स्वराघात क त प के बाद वाले स्वर पर हो तो परिवर्तन एक पग आगे ग द ब में हो जाता है, जैसे,

संस्कृत	गाथी
सप्त	सिबुम्
शतम्	हुन्द

ग्रिम ने यह भी बतलाया कि प्राचीन भारोपीय भाषाओं का स गाथिक, अंग्रेजी आदि में स ही रहता है। पर कुछ उदाहरणों में प्राचीन भाषाओं के स के स्थान पर गाथिक, अंग्रेजी आदि में र भी मिला। इसके लिए भी वर्नर ने स्वराघात का ही कारण बतलाया। स के पूर्व स्वराघात हो तो स परिवर्तित नहीं होगा। और यदि स्वराघात स के बाद हो तो स र में परिवर्तित हो जायगा।

वर्नर ने अपने ध्वनि नियम के विषय में एक और महत्वपूर्ण बात बतलाई वह यह कि यदि मूल भारोपीय क त प आदि के पूर्व स मिला हो अर्थात् स्क, स्त, स्प हो, तो प्राचीन जर्मन में आने पर शब्द में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं मिलता। जैसे,

	लैटिन	अंग्रेजी	गाथिक
स्क	Piskis		fisks
स्त	astes	star	
स्प	Conspicio		spetón

इसी प्रकार त् यदि क् या प् के साथ हो तो भी कोई परिवर्तन नहीं होता।

तालव्यीकरण का नियमः—इस नियम पर कार्य करने वालों में विल्हेम थाम्सन, जोहन्स श्मिट, कालित्ज दे सौशेर और एसाम तेंगार विशेष उल्लेखनीय हैं। पर कालित्ज ने ही इसे सुनिश्चित रूप दिया। इसीलिए कुछ लोग इसे कालित्ज का तालव्य नियम कहते हैं। इस नियम के द्वारा संस्कृत का सम्बन्ध मूल भारोपीय आर्य भाषा से जोड़ा गया है। इसके अनुसार जब मूल भाषा के कण्ठ्य वर्णों के बाद ह्रस्व इ ए अथवा य (i) स्वर हों तो वे वर्ण तालव्य वर्ण में बदल जायँगे। जैसे,

मूल भाषा	संस्कृत
पेन्क्वे	पंच
ग्वीवास्	जीवः
ध्वेन्ति	हन्ति
क्विद्	चिद्

इन प्रधान ध्वनि नियमों के अतिरिक्त ग्रीक नियम[1], लैटिन नियम[2];

---

१. मूल भारोपीय शब्दों में दो स्वरों के बीच के स का ग्रीक भाषा में पहले ह हो जाना फिर लुप्त हो जाना। जैसे, मूल भाषा का Genesos=Genehos=Geneos,

२. मूल भारोपीय शब्द में दो स्वरों के बीच का 'स्' परिवर्तित होकर लैटिनमें र् हो जाता है। जैसे, Genesos=Generos (Generis.)

फ़ारसी नियम[3], ओष्ठ्य नियम, मूर्धन्य नियम आदि अनेक ध्वनि नियम प्रसिद्ध हैं। भारतीय भाषाओं में संस्कृत, प्राकृत के साथ हिन्दी, बंगला आदि के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिए इस प्रकार के अनेक ध्वनि-नियमों की अवतारणा की जा सकती है।

---

३. संस्कृत की स ध्वनि प्रायः फारसी में ह हो जाती है। जैसे, सप्त का हफ्त, सिन्ध का हिन्द।

परिशिष्ट

परिशिष्ट (१)

भाषा-विज्ञान की परिभाषा

भाषा-विज्ञान से सम्बन्धित हिन्दी-पुस्तकों में भाषा-विज्ञान की परिभाषा प्रायः तद्विषयक अंग्रेजी-पुस्तकों में दी गई भाषा-विज्ञान की परिभाषाओं पर आधारित है। इसलिये भाषा-विज्ञान की परिभाषा का विवेचन करते समय सर्व प्रथम अंग्रेजी की परिभाषायें प्रस्तुत की जाँयगी।

भारत के प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री तारापुरवाला के मत में भाषा-विज्ञान की परिभाषा निम्न प्रकार से है—

(1) Philology is a science of language dealing with human speech in general and with the structure and history of particular languages with similarities or dissimilarities of groups of dialetcs or language.

उपर्युक्त परिभाषा में भाषा-विज्ञान की वर्णनात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक सभी पद्धतियों का संकेत हो गया है। इस प्रकार उक्त परिभाषा में लक्षण-कथन का समावेश है।

मेरिओ पी० की दृष्टि में—Linguistics is the study of laws governing the evolution of language. उक्त परिभाषा में भाषा-विज्ञान के स्वरूप-कथन पर बल है।

रुडल्फ कारनेप के मत में—

(3) Linguistics in the widest sense is that branch of science which contains all empirical investigations concerning languages,

(Introduction to semantics)

(p. 13)

उक्त परिभाषा में भाषा-विज्ञान के व्यापक अनुसन्धानात्मक पक्ष पर बल दिया गया है।

ब्लूमफील्ड के शब्दों में :—

(4) Linguistics is a science which concerns with the scientific study of language in general as well as in particular.

उक्त परिभाषा में उसकी सीमा बताई गई है।

यच् ए० ग्लीसन के शब्दों में :—

(5) Linguistics is the science which attempts to understand language from the point of view of its internal structure. It is not of course, isolated and wholly autonomous, but it does have a clearly and sharply delimited field of inquiry and has developed its own highly effective and quite characteristics method. It must draw upon such sciences as physical acoustics, Communications theory, human physiology, psychology, anthropology for certain basic concepts and necessary data.

(An Introduction to descriptive linguistics)

p. 2

उक्त परिभाषा में भाषा-विज्ञान की व्याप्ति तथा विशिष्ट प्रणाली पर बल है। लुइस यच० ग्रे के शब्दों में,

(6) Linguistis is the science of language which deals with the history and scientific investigations of language whether one studies a phenomenon common to all mankind orexamines the resemblances and differences between languages belonging to a given linguistic family or to sub groups of such a family or investigates an individual language or one or more of its dialects.

(Foundation of language p. 1)

By Louis. H. Groy.

उक्त परिभाषा में विवेच्य सामग्री पर बल है। और इसमें लिंग्विस्टिकस का अर्थ निहित है। आस्कर लुइस चावरिया आगुलर के शब्दों में :—

(7) The general term linguistics includes in addition to descriptive linguistics, the historical and comparative study of language.

(Lectures in linguistics) P. 33.

उक्त परिभाषा में भाषा-अध्ययन की प्रणालियों पर बल है।

(८) कार्ल वासलर Linguistics का अर्थ भाषा का दर्शन लेता है। उनकी दृष्टि में :—

(8) Linguistics means profound philosophy of language in general as well as in partictlar (the spirit of language in civilization) P. 10

उक्त परिभाषा में दार्शनिक पक्ष पर बल है। ह्विटनी के शब्दों में :—

(9) Philology is the science which teaches us what language is. The philologist deals with the words which make up a language, not merely to-learn their meaning but to find out their origin, development and history. He pulls them to pieces just as a botanist dissects flowers, in order that he may discover the parts of which each word is com posed and the relation of those parts to each other then he takes another and yet another language and deals with each in the same way, then by comparing the results he ascertains what is common to these different languages and what is peculiar to one or more. Lastly he tries to find out what the ca uses are which operate on all these languages, inorder-that he may understand that unceasing change and, development which we may call the life of language.

उक्त परिभाषा में भाषा के शब्द-तत्त्व पर सर्वाधिक बल है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ग्रे के शब्दों में।

(10) Philology strictly speacking denotes not only the study of language, but also of literature and of all the civilizational phenomeno of a people or of a group of peoples as given in written records.

उक्त परिभाषा में भाषा-विज्ञान की व्याप्ति पर बल है। इस परिभाषा में फिलालॉजी का रूढ़ अर्थ निहित है।

अब नीचे हिन्दी के भाषा-वैज्ञानिकों की परिभाषायें दी गई हैं—

१—भाषा-विज्ञान उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें भाषामात्र के भिन्न-भिन्न अंगों और स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण किया जाता है।

श्यामसुन्दरदास—भाषा-विज्ञान—पृ० १

उक्त परिभाषा में भाषा-विज्ञान की विवेच्य सामग्री पर बल है।

२—भाषा विषयक जिन मूल तत्त्वों को मनुष्य की बुद्धि ने पकड़ लिया है उनके क्रमबद्ध विवेचन को भाषा-विज्ञान कहते हैं।

डॉ० बाबूराम सक्सेना

डा० सक्सेना जी की परिभाषा में भाषा के तत्त्वों पर बल है।

३—जिस विज्ञान के अन्तर्गत वर्णनात्मक, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा विशिष्ट ही नहीं अपितु सामान्य की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति, विकास आदि की सम्यक व्याख्या करते हुए इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो उसे भाषा-विज्ञान कहते हैं।

डा० भोलानाथ तिवारी—भाषा-विज्ञान—पृ० ६।

उक्त परिभाषा में भाषा-विज्ञान की प्रणाली, प्रक्रिया, वर्ण्य आदि पर सम्यक् बल है।

४—डा० मंगलदेव शास्त्री के अनुसार भाषा-विज्ञान उस विज्ञान को कहते हैं जिसमें सामान्य रूप से मानवी भाषा का तथा किसी विशिष्ट भाषा की रचना और इतिहास की और अन्ततः भाषाओं या प्रादेशिक भाषाओं के वर्गों की पारस्परिक समानताओं एवं विषमताओं का तुलनात्मक विचार किया जाता है।

(तुलनात्मक भाषा-विज्ञान) मंगलदेव शास्त्री—पृ० ३।

उक्त परिभाषा में तारापुर वाला की परिभाषा का प्रभाव होने के कारण भाषा-विज्ञान की प्रणालियों पर बल है।

५—आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के शब्दों में बोलियों की परख, जाँच तथा छानबीन के ढंग को भाषा-लोचन कहते हैं।

भाषा-लोचन—पृ० ५।

उक्त परिभाषा में मौलिकता तथा स्पष्टता है। साथ ही भाषा-विज्ञान की पद्धति पर बल है।

६—भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है जो संसार की प्रत्येक भाषा पर लागू होनेवाले सिद्धान्तों का निर्धारण करता है।

[सरयू प्रसाद अग्रवाल] भाषा—विज्ञान और हिन्दी—पृ० १६

उक्त परिभाषा में मेरियों पी० की परिभाषा का प्रभाव होने के कारण भाषा-विज्ञान के कार्य पर बल है।

७—श्री भगवद्दत्त जी ने अपनी पुस्तक 'भाषा के इतिहास' में इसे भाषा जानने की विद्या कहा है। इस परिभाषा में भारतीयता की छाप है और भाषा-विज्ञान के प्रयोजन पर बल है।

८—भाषा-सम्बन्धी विशेष ज्ञान युक्तियुक्त ढंग से प्राप्त करना भाषा-विज्ञान है।

भारतीय भाषा-विज्ञान (किशोरीदास वाजपेयी) पृ० ७।

उपर्युक्त परिभाषा में सूत्रात्मक पद्धति का प्रयोग है एवं भाषा-विज्ञान के वैज्ञानिक पक्ष पर बल।

९—भाषा-विज्ञान वह शास्त्र है जिसमें ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा भाषा की उत्पत्ति, बनावट, प्रकृति, विकास, ह्रास आदि की वैज्ञानिक व्याख्या की जाती है।

(सरल भाषा, विज्ञान, डा० मनमोहन गौतम)

यह परिभाषा डा० भोलानाथ तिवारी के भाषा-विज्ञान की परिभाषा एवं पद्मनारायण आचार्यकृत भाषा-रहस्य की परिभाषा से प्रभावित हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम भाषा-विज्ञान की परिभाषा निम्न प्रकार से कर सकते हैं।

वर्णनात्मक, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक पद्धतियों को अपना कर लिखित एवं कथित भाषा के अध्ययन तथा निरीक्षण के आधार पर भाषा सम्बन्धी तर्क संगत गवेषणा, तथा विवेचना को भाषा-विज्ञान कहते हैं जिसमें सामान्य एवं विशिष्ट मानवीय भाषा के नियमों तथा सिद्धान्तों का निर्धारण होता है।

———

परिशिष्ट (१)

भाषाविज्ञान, विज्ञान है या कला

इसके नाम 'भाषाविज्ञान' से यह ज्ञात होता है कि यह विज्ञान ही है, किन्तु यदि विशुद्ध विज्ञान होता तो इसमें नियमों के अपवाद न मिलते, क्योंकि विशुद्ध विज्ञान में विकल्प के लिये कोई स्थान नहीं है। विज्ञान के नियम शाश्वत एवं विश्वात्मक होते हैं, किन्तु भाषाविज्ञान में नियम की ऐसी व्यापकता सुनिश्चितता तथा विशुद्धता नहीं मिलती। जैसे, धर्म और कर्म एक से शब्द हैं, पर एक का विकास धरम के रूप में और दूसरे का काम के रूप में हुआ। अर्थात् भाषाविज्ञान के अपवाद यह सिद्ध करते हैं कि वह केवल विज्ञान नहीं और कुछ भी है। यहाँ हमें देखना है कि उसमें विज्ञान के साथ साथ कला के कितने तत्त्व पाये जाते हैं। क्रम के अनुसार सबसे पहले यह विचार किया जाय कि भाषाविज्ञान कहाँ तक विज्ञान है। ज्ञान सामान्य जानकारी देता है विज्ञान विशेष प्रकार का ज्ञान प्रदान करता है। इसमें भाषा सम्बन्धी सभी ज्ञान युक्ति सहित तथा तार्किक रूप में उपस्थित किया जाता है। दूसरे, सामान्य ज्ञान से अलग करके इसे विज्ञान बनानेवाली इसमें प्रयुक्त इसकी तुलनात्मक पद्धति है। जिस प्रकार विज्ञान के अन्तर्गत किसी वस्तु की परीक्षा करके उसके सम्बन्ध में तुलनादि के द्वारा नियम निश्चित किया जाता है, उसी प्रकार भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भी तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् ही भाषा संबंधी नियम निर्धारित किये जाते हैं। जिस प्रकार विज्ञान में कारण-कार्य मूलक ज्ञान रहता है, उसी प्रकार भाषाविज्ञान में भी तर्क संगत विवेचन तथा विश्लेषण रहता है। विज्ञान के समान भाषाविज्ञान का ज्ञान भी व्यवस्थित, सुसम्बद्ध तथा यथार्थ होता है। भाषाविज्ञान के अध्ययन की प्रक्रिया विज्ञान के अध्ययन की प्रक्रिया से साम्य रखती है। जिस प्रकार विज्ञान सम्बन्धी अनुशीलन में निरीक्षण, तथ्यसंकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण, तुलना, नियमनिर्धारण आदि स्थितियाँ आती हैं तद्वत् भाषाविज्ञान के अनुशीलन में भी उपर्युक्त सभी स्थितियाँ आती हैं। जिस प्रकार विज्ञान में भौतिक द्रव्यों की वास्तविकता की खोज की जाती है तद्वत् भाषाविज्ञान में भाषा सामान्य एवं विशेष की वास्तविकता का अनुसंधान किया जाता है। भाषाविज्ञान का ज्ञान भी विज्ञान के समान ही प्रयोगमूलक तथा निरीक्षण पर आधारित होता है। भाषाविज्ञान में भी विज्ञान के समान ही तटस्थ विवेचन होता है। जिस प्रकार विज्ञान की आत्मा भूत द्रव्य विषयक जिज्ञासा

की तृप्ति हैं, तद्वत् भाषाविज्ञान का भी प्राणतत्व भाषा सम्बन्धी जिज्ञासा की तृप्ति है। भाषाविज्ञान तथा विज्ञान दोनों में अनुसंधान की प्रवृत्ति पाई जाती है। दोनों का उद्देश्य सत्य की प्राप्ति है। वैज्ञानिक यदि भूत द्रव्य विषयक सत्य की खोज करता है, तो भाषावैज्ञानिक भाषाविषयक सत्य की खोज करता है। जिस प्रकार वैज्ञानिक भूत द्रव्यों के आविष्कार द्वारा साधारण दैनिक जीवन को धनी एवं सुखी बनाना चाहता है, उसी प्रकार भाषावैज्ञानिक राष्ट्र-भाषा का निर्माण ठीक दिशा में करके हमारे राष्ट्रीय अभिव्यक्ति संबंधी व्यापार को सरल, सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। वह मातृभाषा, सांस्कृतिक भाषा, राष्ट्रभाषा, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा को राष्ट्र में उचित स्थान दिलवाकर हमारे सामाजिक जीवन को सन्तुलित करने में योग देता है।

जिस प्रकार वैज्ञानिक अपनी अनुसंधानशाला में बैठा हुआ मानवता की कल्याण-कामना से प्रेरित होकर भौतिक सत्यों का अनुसंधान करता रहता है, तद्वत् भाषावैज्ञानिक मानव के कल्याण के लिये भाषा सम्बन्धी कठिनाइयों, समस्याओं, उलझनों को भाषा सम्बन्धी सत्य के अनुसंधान द्वारा हल करने की कोशिश करता रहता है, विचारों के आदान-प्रदान की सुविधा के लिए नये नये शब्दों को गढ़ता रहता है, जनता में प्रचलित अच्छे शब्दों को भाषा में चलाता रहता है। यदि वैज्ञानिक भौतिक अमरता के लिये प्रयत्न करता है तो भाषावैज्ञानिक विचारों की अभिव्यक्ति संबंधी सरलता, सुगमता तथा भाषा संबंधी उन्नति के लिये प्रयत्न करता है।

दोनों अपने अपने विषयों के प्रति प्रयोगात्मक दृष्टिकोण रखते हैं। दोनों परप्रत्ययनेयता में अरुचि रखते हैं। दोनों में अपने विषय के प्रति सचाई तथा त्याग की भावना रहती है।

जिस प्रकार सच्चा वैज्ञानिक धर्म, जाति, राष्ट्र तथा सम्प्रदाय की सीमाओं में विश्वास नहीं करता तद्वत् सच्चा भाषावैज्ञानिक भी धर्म, जाति, सम्प्रदाय, भाषा* आदि की सीमाओं में विश्वास नहीं करता। दोनों सार्वभौम दृष्टिकोण में आस्था रखते हैं। जिस प्रकार सच्चा वैज्ञानिक सबको एक दृष्टि से देखता है, तद्वत् सच्चा भाषावैज्ञानिक भी सभ्य, असभ्य, सांस्कृतिक, जंगली सभी भाषाओं को एक दृष्टि से देखता है। किंबहुना वह आदिम अथवा असभ्य

* सच्चा भाषावैज्ञानिक मातृभाषा, राष्ट्रभाषा, सांस्कृतिक भाषा के पूर्वग्रहों से मुक्त रहता है। वह सभी भाषाओं के प्रति सम्मान की भावना रखता है।

जातियों की भाषा को गँवारू या जंगली कहकर ठुकराता नहीं। वह उन्हें अपेक्षाकृत अधिक प्यार करता है। क्योंकि इन भाषाओं से उसे अपने विषय की अपेक्षाकृत अधिक सामग्री मिलती है।

भाषा-विज्ञान के संबंधों से भी यही ज्ञात होता है कि वह विज्ञान अधिक है। उदाहरणार्थ, भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध मनोविज्ञान, नृविज्ञान, शरीर-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, शिक्षा-विज्ञान, समाज-विज्ञान आदि विभिन्न विज्ञानों से है।

भाषा-विज्ञान के विभिन्न विभागों—ध्वनि-विज्ञान, ध्वनि ग्रामिक-विज्ञान, शब्द-विज्ञान, रूप-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान आदि से भी यही स्पष्ट होता है कि वह विज्ञान अधिक है।

जिस प्रकार वैज्ञानिक अनुशीलन की पद्धति में तुलना पद्धति की प्रधानता रहती है तद्वत भाषा-विज्ञान के अध्ययन में भी तुलनात्मक पद्धति की प्रधानता पाई जाती है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान अधिक मात्रा में विज्ञान ही है। किन्तु पहले यह कहा जा चुका है कि विज्ञान के नियम के समान भाषा-विज्ञान के नियम शाश्वत एवं विश्वात्मक नहीं होते। उनमें देश एवं काल की सीमायें रहती हैं। जैसे, ग्रीम नियम विशेष काल एवं विशेष भूभाग की भाषाओं में ही प्रयुक्त होता है। वैसे ही सभी ध्वनि-नियम किसी भाषा विशेष की सभी ध्वनियों पर लागू न होकर कुछ विशिष्ट ध्वनियों पर ही लागू होते हैं। एक भाषा का ध्वनि-नियम दूसरी भाषा पर नहीं प्रयुक्त किया जा सकता। तात्पर्य यह कि ध्वनि-नियमों में अपवाद मिलते हैं। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में पाये जाने वाले ये अपवाद उसे विज्ञान से कुछ दूर तथा कला के कुछ निकट ले जाते हैं क्योंकि कला में अपवाद के तत्त्व पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में उनका सर्वथा अभाव पाया जाता है। जिस प्रकार कला में जीवन की अनुभूतियाँ छिपी रहती हैं तद्वत् भाषा के प्रमुख तत्त्व—शब्दों में जीवन की अनुभूतियाँ निहित रहती हैं। जिस प्रकार कला के निर्माण में मानसिक तत्त्वों का बहुत योग रहता है तद्वत् ध्वनि-परिवर्तन तथा अर्थ-परिवर्तन के कारणों में अधिकांश कारण मानसिक होते हैं। भाषा-विज्ञान के प्रमुख अङ्ग—अर्थ-विज्ञान या अर्थ-परिवर्तन में कला के समान मनोवैज्ञानिक कारण बहुत अधिक मात्रा में दिखाई पड़ते हैं।

जिस प्रकार कला में सौन्दर्य-कला का बहुत योग रहता है तद्वत् भाषा के क्षेत्र में भी सौन्दर्य-प्रियता दिखाई पड़ती है। फ्रान्स देश के निवासी अपनी

भाषा के शब्दों के उच्चारण को सुन्दर से सुन्दरतर बनाने के लिए प्रसिद्ध हैं। हमारे देश में कला-प्रेमी बंगाली अपनी बंगला भाषा के उच्चारण को सुन्दर, श्रुति-मधुर एवं कलात्मक बनाने के लिए प्रसिद्ध हैं।

जिस प्रकार कला में अभ्यास की आवश्यकता है तद्वत् भाषा-विज्ञान में भी। जिस प्रकार कला में निष्काम भावना की प्रमुखता रहती है तद्वत् भाषा-विज्ञान में निष्काम ज्ञानोपासना की प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है। क्योंकि भाषा-विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान; विज्ञान के ज्ञान के समान पद पद पर व्यावहारिकता से भरा नहीं रहता। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि भाषा-विज्ञान में विज्ञान के तत्त्व कला की तुलना में अधिक हैं। इसलिए वह विज्ञान अधिक है कला कम।

परिशिष्ट (३)

विभिन्न विज्ञानों के भीतर भाषा-विज्ञान का स्थान

विभिन्न विज्ञानों के भीतर भाषा-विज्ञान का स्थान ठीक ढंग से सुनिश्चित करना विवादास्पद विषय है। इसका मूल कारण यह है, कि भाषा-विज्ञान की प्रकृति बहुत ही मिश्रित कोटि की है। उसमें विभिन्न प्रकार के विज्ञानों—शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, नृविज्ञान, भौतिक विज्ञान, समाज-विज्ञान आदि की सन्निहिति है। इसकी गणना गणित, रसायन शास्त्र आदि विज्ञानों के समान विशुद्ध विज्ञान में नहीं की जा सकसी। क्योंकि इसके भीतर मनुष्य के जटिल मन का इतना अधिक समावेश है कि इसके नियम गणित और रसायन शास्त्र के समान यांत्रिक कोटि के नहीं होते। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान वर्तमान मनोविज्ञान, नृविज्ञान या समाज-विज्ञान के समान विशुद्ध रूपेण प्रयोग-विज्ञान के भीतर भी नहीं आता। क्योंकि भाषा के नियम उपर्युक्त विज्ञानों के समान निरीक्षण का आधार लेने पर भी सुनिश्चित कोटि के नहीं बनाये जा सकते। किसी भी भाषा में किसी शब्द का, किसी विशेष काल में क्या रूप होगा, उसका अर्थ-परिवर्तन किस कोटि का होगा—यह निश्चयपूर्वक नहीं बताया जा सकता। किन्तु मनोविज्ञान आदि विषयों में किसी विशिष्ट कोटि के मनुष्य का अध्ययन करके, यह बताया जा सकता है कि वह किस परिस्थिति में किस प्रकार का व्यवहार करेगा अर्थात् उसके व्यवहार सम्बन्धी नियम के निरीक्षण के आधार पर नियम बनाया जा सकता है, किन्तु भाषा-परिवर्तन सम्बन्धी नियमों का निर्धारण ठीक प्रकार नहीं हो सकता। अर्थात् किस शब्द के ध्वनि-परिवर्तन में कब वर्णागम होगा या वर्णलोप, किस परिस्थिति में वर्ण-विपर्यय होगा या वर्ण-विकार; यह ठीक ठीक नहीं बताया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका स्थान ऐतिहासिक विज्ञानों (Historical Sciences) के भीतर निरूपित किया जा सकता है। क्योंकि इसके अनुसन्धान की प्रणाली ऐतिहासिक अनुसन्धान की प्रणाली से सामग्री-संचय, तुलना आदि में बहुत कुछ साम्य रखती है।

परिशिष्ट (४)

भाषा के अध्ययन की प्रणालियाँ

भाषा के अध्ययन की वर्तमान काल में तीन प्रणालियाँ पाई जाती हैं—
१—वर्णनात्मक प्रणाली २—ऐतिहासिक प्रणाली ३—तुलनात्मक प्रणाली

१. वर्णनात्मक प्रणाली—इस प्रणाली में किसी निश्चित देश तथा काल की भाषा का अध्ययन किया जाता है। एक भाषा के एककालीन रूप को लेकर भाषाशास्त्री उसके विभिन्न तत्त्वों, ध्वनियों, पदों, वाक्यों तथा अर्थ-तत्त्वों की दृष्टि से उसका अध्ययन करता है। इस पद्धति में विवेच्य भाषा के पूर्ववर्ती रूपों की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। और न वह समान रूपवाली अन्य भाषा या भाषाओं से उसकी तुलना ही करता है। वर्णनात्मक पद्धति के भी दो रूप पाये जाते हैं। प्रथम में विवेच्य भाषा का विवरण, उसी भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है, दूसरे में अन्य भाषा के माध्यम से। जैसे, पाणिनि की अष्टाध्यायी, पतंजलि का महाभाष्य प्रथम रूप का उदाहरण प्रस्तुत करता है। केलाग की हिन्दी ग्रामर और हार्नली का गोंडी भाषा का तुलनात्मक व्याकरण (A comparative grammer of Gondian Languages) द्वितीय रूप का उदाहरण सामने रखता है। आज विवरणात्मक पद्धति की कई दिशाएँ दिखाई पड़ती हैं। इस पद्धति में कभी कभी अनुशीलन-कर्ता किसी भी विभाषा या बोली के रूपों का अध्ययन करता है। वह स्त्रियों, बच्चों आदि की बोली तथा भिन्न भिन्न पेशेवरों में बोली जाने वाली स्लैंग (Slang) का भी अनुशीलन करता है। अमेरिका के भाषा-शास्त्री इस पद्धति को व्यवहार-वादी मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन के समान यान्त्रिक बनाते जा रहे हैं। वे भाषा के ध्वनि-पक्ष पर ही सारा बल देते हैं। इसलिए वे उच्चारण मात्र को ही अपने अध्ययन का विषय बनाते हैं। अर्थात् वे प्रायः शब्द के शरीर पक्ष तक ही अपने को केन्द्रित रखते हैं। शब्द-विश्लेषण करते समय वे भाषा का अध्ययन वक्ता तथा श्रोता दोनों दृष्टियों से नहीं करते अर्थात् वे ध्वनियों के श्रोतागत संस्कार पर ध्यान नहीं देते। फलतः भाषा का आत्म तत्त्व—अर्थ-विचार उनके अध्ययन में उपेक्षित हो जाता है।

विवरणात्मक पद्धति में एक आदर्शवादी पद्धति भी पाई जाती है, जिसके प्रतिनिधि लेखक सोस्यूर हैं। उनका कहना है कि भाषाशास्त्रियों को अपने

अध्ययन का विषय केवल वैयक्तिक भाषा ही नहीं बनानी चाहिए। वरन् एक भाषाभाषी समाज की वैयक्तिक भाषाओं के अन्तस् में अनुस्यूत भाषा का अध्ययन करना चाहिए। सोस्यूर का कहना है कि भाषा के प्रमुख दो आधार-प्रतीक और प्रतीत्य होते हैं। विवरणात्मक पद्धति में इन दोनों का अध्ययन होना चाहिए। इस पद्धति में अनुशीलनकर्ता किसी भाषा की विवरणात्मक विशेषताओं को सूक्ष्मातिसूक्ष्म सूत्रों के रूप में रखता है। वह अपने विवरणात्मक निष्कर्षों को प्रस्तुत करने के लिये विशिष्ट प्रकार की वैज्ञानिक भाषा-पदावली का प्रयोग करता है।

दोष—इस पद्धति में एक प्रणालिक पद्धति का अनुगमन होता है; इसलिए इसका क्षेत्र संकुचित हो जाता है।

भाषा-शास्त्रियों ने इस प्रकार की अध्ययन-प्रणाली को स्थित्यात्मक (Static Linguistics) कहा है।

ऐतिहासिक पद्धति—इसके अन्तर्गत एक भाषा के विभिन्न कालों के विभिन्न प्रवहमान तथा परिवर्तनशील रूपों एवं गतियों का अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ, ऐतिहासिक पद्धति से खड़ी बोली हिन्दी का अध्ययन करते समय अध्येता को संस्कृत-काल से लेकर आज तक की हिन्दी में ध्वन्यात्मक, पदरचनागत, वाक्यरचनागत तथा अर्थ सम्बन्धी परिवर्तन किस प्रकार और क्यों होता रहा है—इसका वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत करना पड़ता है। ऐतिहासिक प्रणाली के अनुशीलन में विवरणात्मक प्रणाली का समावेश स्वयं हो जाता है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी की 'बंगाली भाषा की उत्पत्ति तथा विकास', डा० उदयनारायण तिवारी की 'हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास', सोमैय्या जी की 'आन्ध्र भाषाविकास', डा० सक्सेना की 'अवधी भाषा का विकास', तथा डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का 'हिन्दी-भाषा का इतिहास' इसी पद्धति में लिखी हुई पुस्तकें हैं।

तुलनात्मक पद्धति—तुलनात्मक पद्धति में पदरचनात्मक या ऐतिहासिक दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध दो या अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यहाँ भाषाओं के सम्बन्ध का अर्थ है—उनकी गठन तथा बनावट में सम्बन्ध; जिसे एक शब्द में भाषा की संघटना कहते हैं। जैसे, खड़ी बोली, ब्रज तथा बुन्देली की संघटना में घनिष्ठ सम्बन्ध है। पंजाबी तथा बंगाली की संघटना में बहुत कम सम्बन्ध है। इसी तरह लैटिन, ग्रीक तथा संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है, क्योंकि तीनों ऐतिहासिक तथा

पदरचनात्मक दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं। इस पद्धति के तीन रूप होते हैं। प्रथम में एक ही भाषा के परवर्ती रूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। जैसे, संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश का अध्ययन अथवा वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत का अध्ययन। दूसरे में एक भाषा का तुलनात्मक अध्ययन उससे सम्बन्धित भाषा से किया जाता है। जैसे, संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन का तुलनात्मक अध्ययन। तीसरे रूप में ऐतिहासिक क्रम को ध्यान में रखते हुए एक साथ कई भाषाओं की विकसित दशा का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। जैसे, हिन्दी-व्रज, अवधी तथा भोजपुरी के आधुनिक विकसित रूपों का तुलनात्मक अध्ययन ऐतिहासिक क्रम को ध्यान में रखते हुए किया जा सकता है।

आज कल की तुलना-पद्धति में दो प्रणालियाँ दिखाई पड़ती हैं। प्रथम प्रणाली में हम प्राचीनतम भाषा का अनुशीलन करके उसका ऐतिहासिक क्रम-विकास दिखाते हुए उसकी विकास-परम्परा में उत्पन्न अधुनातन भाषा की विवेचना की ओर आते हैं।

उदाहरणार्थ, खड़ी बोली (हिन्दी) का अनुशीलन करते समय, वैदिक संस्कृत का विवेचन उसके प्राचीनतम स्रोत के रूप में करते हुए लौकिक संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश, अवहट्ट तथा पुरानी हिन्दी का अध्ययन उसकी विभिन्न विकास-रेखाओं के रूप में प्रस्तुत करने के उपरान्त हिन्दी के विवेचन की ओर आना। दूसरी प्रणाली में विवरणात्मक दृष्टि से विवेच्य आधुनिक भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करने के अनन्तर उसके ऐतिहासिक विकास की विभिन्न स्थितियों में आने वाली प्राचीन भाषाओं का अध्ययन करते हुए तथा उनसे आधुनिक भाषा का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए अन्त में फिर आधुनिक भाषा की प्रकृति तथा उसकी विशेषताओं का निरूपण किया जाता है। उदाहरणार्थ, इस पद्धति में पहले हिन्दी का वर्णनात्मक विवेचन करने के उपरान्त उसके ऐतिहासिक विकास के लिए संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के विकास का अध्ययन करते हुए तथा हिन्दी से इन भाषाओं का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए अन्त में हिन्दी की प्रकृति तथा विशेषताओं का निरूपण किया जाता है।

इस पद्धति में उपर्युक्त दोनों पद्धतियों-वर्णनात्मक तथा ऐतिहासिक का समावेश हो जाता है। वस्तुतः तुलनात्मक पद्धति को अपनाये बिना भाषा-विज्ञान की कोई प्रणाली वैज्ञानिक नहीं हो सकती। इसीलिए यह पद्धति भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में गत्यात्मक पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है।

परिशिष्ट (५)

भाषा-विज्ञान का महत्व

भाषा-विज्ञान का महत्व ठीक ढंग से जानने के लिए सर्वप्रथम भाषा-विज्ञान के प्रत्येक विभाग की उपयोगिता पर विचार किया जायगा। क्रम के अनुसार सर्वप्रथम ध्वनि-विज्ञान की उपयोगिता पर विचार किया जाता है। ध्वनि-विज्ञान में मनुष्य के मुख या ध्वनियंत्र से निकली हुई ध्वनियों का वैज्ञानिक विवेचन, स्वर, व्यंजन, स्वराघात आदि की व्याख्या तथा उनका वर्गीकरण किया जाता हैं। ध्वनि-विज्ञान की तीन मुख्य शाखायें हैं।

(१) प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान (२) सैद्धान्तिक ध्वनि-विज्ञान एवं (३) ध्वनि ग्रामिक विज्ञान

(१) प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान (Practical Phonetics) :—प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान में कृत्रिम ध्वनियंत्रों द्वारा ध्वनियों के स्थान, प्रयत्न तथा उच्चारण-स्वरूप का निश्चय किया जाता है। कृत्रिम ध्वनियंत्रों में लिंगुआफोन, कायमोग्राफ, कृत्रिमतालु (Palatogram), स्पेक्टोग्राफ (Spectograph) आदि का विशेष महत्व है।

(२) सैद्धान्तिक ध्वनि-विज्ञान (Theoretical Phonetics) :—सैद्धान्तिक ध्वनि-विज्ञान की तीन शाखायें हैं।

(१) उच्चारणिक ध्वनि-विज्ञान, (२) भौतिक ध्वनि-विज्ञान तथा (३) श्रौतिक ध्वनि-विज्ञान।

(१) उच्चारणिक ध्वनि-विज्ञान :—इसमें ध्वनियों के उचारण-स्थान तथा प्रयत्न पर विचार किया जाता है।

(२) भौतिक ध्वनि-विज्ञान :—इसमें ध्वनियों के भौतिक महत्व पर विचार किया जाता है।

(३) श्रौतिक ध्वनि-विज्ञान :—इसमें श्रोता द्वारा गृहीत ध्वनियों के महत्व पर विचार किया जाता है।

(३) ध्वनिग्रामिक विज्ञान (Phonemics) :—इसके द्वारा भाषा-विशेष में पाये जाने वाले शब्दों के अध्ययन के आधार पर उसकी महत्वपूर्ण ध्वनियों का चयन तथा विश्लेषण किया जाता है।

भाषा का वास्तविक रूप ध्वनि द्वारा ही खड़ा होता है। मनुष्य के मुख से निसृत होने वाली भाषा, ध्वनिक्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भाषा का ऐसा कोई अंग नहीं जिसका समुचित अध्ययन ध्वनि-विज्ञान के बिना किया जा सके। इस प्रकार ध्वनि-विज्ञान भाषा-विज्ञान का अविच्छेद्य अंग है।

ध्वनि-विज्ञान की उपयोगिता पर प्रकाश डालने के लिए सर्वप्रथम पूर्व तथा पश्चिम के विद्वानों के तत्संबंधी मतों का ज्ञान आवश्यक है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही ध्वनि-विज्ञान की महत्ता विद्वान् लोग स्वीकार करते थे। इसीलिए ध्वनि-विज्ञान का सम्यक् ज्ञान कराने वाली विद्या—'शिक्षा' वेद का अंग मानी जाती थी। प्राचीन काल में उदात्त के स्थान पर यदि कोई छात्र अनुदात्त स्वर का प्रयोग करता तो उसका शिक्षक तुरत उसे थप्पड़ लगाता था।* संस्कृत वाङ्मय में प्रचलित कई किम्वदन्तियाँ ध्वनि-विज्ञान के महत्व पर प्रकाश डालती हैं।

जैसे, वृत्रासुर की हत्या होताओं के भ्रष्ट उच्चारण से हुई। वृत्रासुर ने इन्द्रवध की कामना से यज्ञ कराया किन्तु होताओं द्वारा, स्वर के मिथ्या-प्रयोग से वह स्वयं मारा गया।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा—
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

सकल शास्त्र-विशारद किन्तु व्याकरण-विद्या से हीन भ्रष्ट उच्चारण करने-वाले पुत्र को उसके वैयाकरण पिता की दी हुई सीख भी ध्वनिविज्ञान की महत्ता स्पष्ट करती है।

यद्यपि बहुनाधीषे पठ पुत्र तथापि व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत सकलः शकलो सकृच्छकृतमपि॥

कैय्यट की प्रसिद्ध उक्ति 'एको शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति।' भी सुष्ठुप्रयुक्तः पदावली द्वारा शुद्ध उच्चारण के महत्त्व पर प्रकाश डालती है।

जार्ज सैम्पसन के मत में ध्वनि-शिक्षा से अनभिज्ञ भाषा-शिक्षक वैसे ही निरर्थक हैं, जैसे, शरीर-विज्ञान से अनभिज्ञ चिकित्सक।

---

* उदात्ते कर्तव्ये योऽनुदात्तः करोति खण्डिकोपाध्यायः तस्मै चपेटां ददाति।

वान राइपर के मत में ध्वनिशिक्षा-विहीन व्यक्ति भाषा के क्षेत्र में निरक्षर कोटि का है।*

ध्वनि-विज्ञान का उपयोग निम्नांकित क्षेत्रों में बहुत ही महत्वपूर्ण माना गया है।

१. विदेशी भाषा की शिक्षा।
२. मातृभाषा का विश्लेषण।
३. दोषयुक्त उच्चारण का संशोधन।
४. संगीत प्रशिक्षण।
५. थियेटर, सिनेमा, टेलीविज़न, रेडियो आदि में भाषण प्रस्तुत करने में ध्वनि-विज्ञान का योग।
६. सदोष लिपियों के संशोधन तथा वैज्ञानिक लिपियों के निर्माण में सहायक होता है।
७. भाषाओं का तुलनात्मक अनुशीलन।
८. भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन।
९. बोली विशेष का अध्ययन।
१०. प्रयोगात्मक विश्लेषण।

१. विदेशी भाषा की शिक्षा :—ध्वनि-विज्ञान की सहायता के बिना भी कोई भाषा सीखी या सिखाई जा सकती है; किन्तु ध्वनिविज्ञान की सहायता से उसे जितनी सुगमता, शुद्धता तथा शीघ्रता से सिखाया या सीखा जा सकता है, वैसे अन्यथा नहीं। किसी भी भाषा के उच्चारण की विशुद्धता के लिए ध्वन्यात्मक विश्लेषण आवश्यक है; अर्थात् उस भाषा में कौन कौन सी ध्वनियाँ हैं; उनकी प्रकृति क्या है, वे भाषा में कहाँ कहाँ और किस क्रम से व्यवहृत होती हैं; उनकी दीर्घता, ह्रस्वता, स्वराघात, स्वरलहर आदि का उपयोग किस प्रकार किया जाता है।

ध्वनियों के विश्लेषण के लिए ध्वन्यात्मक प्रशिक्षण आवश्यक है। इस प्रशिक्षण में ध्वनियों को बार बार सुनकर जिस प्रकार श्रवण-शक्ति को तीव्र बनाना पड़ता है। उसी प्रकार भाषणावयवों की हर मांशपेशी को नवीन

* "Without the Knowledge of Phonetics any person in the field of General Speech is considered illiterate."

ध्वनि-उच्चारण के लिए अभ्यस्त करना पड़ता है। विदेशी भाषा के शिक्षण में उसका ज्ञान तो और अधिक आवश्यक हो जाता है। स, श, ष का उच्चारण किसी विदेशी व्यक्ति को कोई अध्यापक ध्वनि-विज्ञान की सहायता के बिना ठीक तरह से सिखा नहीं सकता। इसी प्रकार अरबी भाषा के सीन, शीन, स्वाद, से का उच्चारण हिन्दी भाषा-भाषी या अंग्रेजी भाषा-भाषी को कोई अध्यापक ध्वनि-विज्ञान के ज्ञान के अभाव में विशुद्ध रीति से सिखाने में सफल नहीं हो सकता। तात्पर्य रूप में यह कहा जा सकता है कि एक उच्चारण-पद्धति के स्थान पर दूसरी को अपनाने में सबसे अधिक सहायता ध्वनि-विज्ञान का ज्ञान देता है। विदेशी भाषा के प्रशिक्षण में जिस प्रकार ध्वनियों का यथार्थ उच्चारण आवश्यक है, उसी प्रकार ध्वनियों के क्रम को स्मरण रखने के लिए ध्वनिलिपि की भी आवश्यकता है।

इसी कारण आजकल अधिकांश भाषा-शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों में प्रचलित लिपि के साथ साथ ध्वनिलिपि भी दी जाती है। इस ध्वनिलिपि को ठीक ठीक वही अंकित कर सकता है, जो उस भाषा की ध्वनियों के स्थान, प्रयत्न तथा उच्चारण से परिचित हो। इस ध्वनिलिपि को पढ़कर ध्वनियों का यथावत् उच्चारण ग्रहण किया जा सकता है।

अवधेश के द्वारे सकारे गई,
सुत गोद कै भूपति लै निकसे।

इसमें द्वारे, सकारे, ति, लै में ए, ऐ का ठीक उच्चारण तभी हो सकता है जब वह पंक्ति-ध्वनिलिपि में लिखी जाय।

२—**मातृभाषा का शिक्षण**—केवल विदेशी भाषा के प्रशिक्षण में ही नहीं वरन् मातृभाषा के शिक्षण के लिए भी ध्वनि-विज्ञान के ज्ञान की परम आवश्यकता है। ध्वनि-तत्त्व के ज्ञान के बिना अपनी भाषा के ध्वन्यात्मक स्वरूप को ठीक ठीक समझ लेना कठिन है। आधुनिक हिन्दी भाषा में कई ध्वनियों का स्वरूप संस्कृत भाषा-काल में पाई जाने वाली उन्हीं ध्वनियों से परिवर्तित हो गया है। जैसे, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा-काल में क वर्ग का उच्चारण कोमल तालु के स्थान की दृष्टि से आजकल की अपेक्षा कुछ अधिक पीछे से होता था। प्रातिशाख्यों में इनका स्थान जिह्वामूलीय माना गया है। किन्तु आधुनिक हिन्दी में कवर्ग का उच्चारण कोमल तालु-जन्य माना जाता है।

हिन्दी में ङ के लिए प्रायः अनुस्वार का प्रयोग किया जाता है। जैसे,

शंका, कंगन। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा-काल में च वर्ग ध्वनियाँ तालव्य मानी जाती थीं। अब हिन्दी में वे स्पर्श-संघर्षी हो गई हैं। इसी प्रकार 'न' ध्वनि संस्कृत भाषा-काल में दन्त्य थी किन्तु हिन्दी में इसका उच्चारण वर्त्स्य हो गया है। र् ध्वनि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा-काल में मूर्धन्य थी किन्तु हिन्दी में उसका उच्चारण वर्त्स्य माना जाता है। इसी तरह ल् ध्वनि भी जो संस्कृत भाषा-काल में दन्त्य थी; आजकल हिन्दी में वर्त्स्य हो गई है। इसी प्रकार संस्कृत में ह घोष माना गया है किन्तु हिन्दी में इसका रूप घोष तथा अघोष दोनों माना जाता है।※

खड़ी बोली, शौरसेनी की पुत्री है। शौरसेनी में स की प्रवृत्ति है, ष या श की नहीं। पर हिन्दी के ध्वनि-तत्व से अपरिचित लोग हिन्दी के तद्भव शब्दों में स के उच्चारण-स्थान पर श बोलने में पांडित्य का अनुभव करते हैं। हिन्दी के तद्भव शब्दों में कैलास शुद्ध है, कैलाश नहीं; कौसल्या शुद्ध है, कौशल्या नहीं; केसरी शुद्ध है, केशरी नहीं; विकास शुद्ध है, विकाश नहीं; वसिष्ठ शुद्ध है, वशिष्ठ नहीं। इसी प्रकार हिन्दी में रजिस्ट्री, रजिस्ट्रार, मैजिस्ट्रेट ठीक है, रजिष्ट्री, रजिष्ट्रार, मैजिष्ट्रेट अशुद्ध है; क्योंकि शौरसेनी में ऋ का रि हो जाता है। अतः हिन्दी में रि की ही परम्परा अधिक शुद्ध है। इसी प्रकार हिन्दी में बृटेन अशुद्ध है, ब्रिटेन ठीक है।

हिन्दी में अनुस्वार का लघु उच्चारण बिन्दी है। जैसे, हैं, में। किन्तु अनुस्वार का दीर्घ उच्चारण चन्द्रबिन्दु है। जैसे, चाँद, आँख, आँच। किन्तु ध्वनिविज्ञान के ज्ञान से शून्य व्यक्ति अनुस्वार के दीर्घ उच्चारण में भी बिन्दी से ही काम चलाते हैं। हिन्दी की प्रकृति के अनुसार कवर्ग के कुछ वर्ण, तवर्ग तथा पवर्ग को छोड़कर शेष सभी वर्णों के साथ अनुस्वार की परम्परा हिन्दी में ठीक है; क्योंकि शौरसेनी में यही परम्परा थी। संसार, संस्कृत, हंस, मुंशी, चंचल में अनुस्वार लगाना ठीक है। अङ्क, अङ्गद, पम्प, गयन्द में पंचम वर्ण का प्रयोग ठीक है। ध्वनि विज्ञान से अपरिचित होने के कारण अथवा गलत अनुकरण के कारण कुछ लोग ब के स्थान पर व का उच्चारण करते हैं, जैसे, कुछ लोग बाण को वाण, बाह्य को वाह्य, बृहत् को वृहत्,

※ शब्द के अन्त में आने वाला ह हिन्दी में सघोष रूप में उच्चारित होता है किन्तु शब्द के आरम्भ में आने वाला ह अघोष रूप में उच्चारित होता है।

बृहस्पति को वृहस्पति लिखते तथा उच्चारण करते हैं। उपर्युक्त शब्दों में शुद्ध उच्चारण की अवहेलना करने से उन शब्दों का अर्थ भी बदल जाता है। उदाहरणार्थ बाह्य का अर्थ है बाहर; किन्तु ब की जगह व उच्चारण कर वाह्य बोलने से उसका अर्थ वहन करने योग्य हो जाता है। इसी प्रकार हिन्दी में प्रचलित अरबी, फारसी के शब्दों का उच्चारण हिन्दी की प्रकृति के अनुसार होना चाहिए। हमेशः, आहिस्तः का उच्चारण हिन्दी की प्रकृति के अनुसार हमेशा, आहिस्ता ठीक है क्योंकि हिन्दी की प्रवृत्ति आकार-बहुला है, विसर्ग प्रधान नहीं।

३. **दोषयुक्त उच्चारण का संशोधन :**—दोषयुक्त उच्चारण के संशोधन में ध्वनिविज्ञान का महत्वपूर्ण योग है। किसी भी व्यक्ति विशेष के उच्चारण में दोष दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार का दोष उच्चारणावयवों की बनावट में विकृति के कारण उत्पन्न होता है। द्वितीय प्रकार का दोष त्रुटिपूर्ण अभ्यास के कारण उत्पन्न होता है। उच्चारणावयवों की बनावट के दोष के कारण उच्चारण में जो अवश्यम्भावी दोष उत्पन्न होता है वह स्पीच थेरापी से दूर किया जा सकता है। इंगलैण्ड में स्पीच थेरापी के प्रशिक्षण के लिए कम से कम तीन वर्ष लगते हैं। त्रुटिपूर्ण अभ्यास से उत्पन्न उच्चारण दोष वक्ता में तभी आता है, जब वह स्वरों या व्यंजनों के वास्तविक रूप पर विशेष ध्यान नहीं देता। ध्वनि-विज्ञान की सहायता—विशेषतः Linguaphone के उच्चारणों के अनुकरण से ऐसा दोष दूर किया जा सकता है।

४. थियेटर, सिनेमा, रेडियो, टेलीविज़न आदि के माध्यम से भाषण प्रस्तुत करने के लिए ध्वनि-विज्ञान में प्रशिक्षण अनिवार्य होता है, क्योंकि उक्त माध्यमों से प्रभावशाली एवं आदर्श उच्चारण उपस्थित करना पड़ता है। शब्दकोश निर्माण के लिए भी ध्वनि-विज्ञान आवश्यक है। आजकल के भाषाकोशों में मात्रा लगाने की प्राचीन पद्धति को छोड़कर शब्दों के उच्चारण को ध्वनिलिपि की सहायता से सूचित किया जाता है।

५. **संगीत-प्रशिक्षण में ध्वनिविज्ञान का योग :**—संगीत के क्षेत्र में भी ध्वनियों की प्रकृति, स्वरों का आरोह-अवरोह तथा मात्रा भली भाँति समझने के लिये ध्वनि-विज्ञान की शिक्षा परम आवश्यक है। वैदिक मन्त्रों का गान ध्वनियों के समुचित ज्ञान के अभाव में अर्थात् उदात्त

अनुदात्त तथा स्वरित को पहचाने बिना शुद्ध रीति से नहीं हो सकता। सा, रे, ग, म, आदि शास्त्रीय स्वरों की पहचान ध्वनि-विज्ञान के अभाव में ठीक तरह की नहीं हो सकती। शास्त्रीय रागों का गान ध्वनियों के सही उच्चारण के बिना ठीक प्रकार का नहीं हो सकता। कविता का आदर्श पाठ ध्वनि-विज्ञान के ज्ञान के अभाव में संभव नहीं। रवीन्द्रनाथ द्वारा रचित "जन गण मन अधिनायक" नामक राष्ट्रगीत का गान ध्वनियों की मात्रा तथा प्रकृति को समझे बिना शुद्ध रीति से नहीं हो सकता।

६. **सदोष लिपियों के संशोधन तथा वैज्ञानिक लिपियों के निर्माण में ध्वनिविज्ञान का योग :**—सदोष लिपियों के संशोधन तथा वैज्ञानिक लिपियों के निर्माण में ध्वनि-विज्ञान बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। सैकड़ों अफ्रीकी और अमरीकी भाषाओं का वैज्ञानिक ध्वन्यात्मक विश्लेषण करके उनकी उत्तम लिपियाँ बनाई गई हैं। अंग्रेजी भाषा की लिपि और उच्चारण में जो विषमता है उसके सुधार के लिये आज कल ध्वनि-विज्ञान का बहुत उपयोग किया जा रहा है। साधारण ही नहीं, असाधारण लिपियों की सृष्टि में ध्वनि-विज्ञान अपूर्व सहायक सिद्ध हुआ है। शार्टहैण्ड, टेलीग्राफ-कोड तथा अंधों के लिये लिपि बनाने में ध्वनि-विज्ञान पर्याप्त सहायता पहुँचाता है।

७. **भाषाओं का तुलनात्मक अनुशीलन :**—भाषाओं के तुलनात्मक अनुशीलन में ध्वनिविज्ञान का ज्ञान बहुत ही उपयोगी है। किसी एक भाषा की व्यवहृत लिपि द्वारा दूसरी भाषा अथवा उसकी बोलियों में पायी जाने वाली ध्वन्यात्मक विशेषताओं को प्रकट करना बहुत कठिन काम हो जाता है। इसीलिये भाषाओं की ध्वनियों के बीच पाये जाने वाले अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों को प्रदर्शित करने के लिये ध्वनि-लिपियों का व्यवहार अनिवार्य होता है।

एक भाषा की उसकी बोलियों के साथ तुलना करने में अथवा किसी अन्य भाषा से तुलनात्मक अध्ययन करने में ध्वनि-विज्ञान बहुत ही सहायक सिद्ध होता है। अंग्रेजी गो (Go) शब्द के 'O' को प्रामाणिक अंग्रेजी में 'OU' के रूप में तथा स्काच बोली में (O:) के रूप में उच्चारित किया जाता है। इस पार्थक्य को दिखाने के लिये केवल 'O' के सामान्य उच्चारण से काम नहीं चलता, वरन् प्रामाणिक अंग्रेजी तथा स्काच बोली की 'O' सम्बन्धी ध्वनियों के अन्तर को जानना आवश्यक होता है। उक्त प्रकार का ध्वनिसम्बन्धी पार्थक्य ध्वनिलिपि के बिना नहीं दिखाया जा सकता और

ध्वनि लिपि का निर्माण ध्वनिविज्ञान सम्बन्धी ज्ञान के अभाव में नहीं हो सकता।

८. **भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन :**—किसी भाषा के ऐतिहासिक अनुशीलन के लिये ध्वनिविज्ञान बहुत ही उपयोगी है। किसी भाषा के पूर्वकालिक रूप में ध्वनियों का स्वरूप क्या था। वर्तमान युग में वह कितना परिवर्रित हो गया है। इसकी तुलना के लिये ध्वनि-विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान आवश्यक है। एक भाषा के विभिन्न कालों में पाये जाने वाले ध्वनि-सम्बन्धी परिवर्तनों के ज्ञान तथा उस भाषा का अन्य भाषाओं से ऐतिहासिक सम्बन्ध स्थापित करने में ध्वनिविज्ञान बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। हिन्दी की ध्वनियाँ वैदिक ध्वनियों से कितनी परिवर्तित हो गई हैं। वैदिक भाषा की कितनी ध्वनियाँ संस्कृत में लुप्त हो गईं तथा कितनी ध्वनियों का प्रयत्न तथा उच्चारण पृथक् हो गया। इनको समझने के लिये ध्वनि-विज्ञान का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो गया है। ब्रिटिश लोगों की अंग्रेजी तथा अमरीकी लोगों की अंग्रेजी में पर्याप्त अन्तर आ गया है। इसको समझने के लिये उभय भाषाओं की ध्वनि-चर्चा अनिवार्य है।

९. **बोली विशेष का अध्ययन :**—बोली-विज्ञान के क्षेत्र में ध्वनिविज्ञान का उपयोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। आधुनिक भाषा शास्त्री एक पग और आगे बढ़कर ध्वनिग्रामीय नियमों का उपयोग बोली विज्ञान में कर रहे हैं। अतः बोलियों के अध्ययन में ध्वनिविज्ञान के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनु-शीलन की सहायता अनिवार्य रूप से लेनी पड़ती है।

१०. **प्रयोगात्मक विश्लेषण :**—आज टेलीफोन द्वारा संवाद भेजने की गति तीव्र करने के लिये अमेरिका की बेल टेलीफोन लेबोरेटरी में ध्वनि-संचारण की गति को तीव्र से तीव्रतर तथा तीव्रतम करने के लिये नाना प्रकार के प्रयोग हो रहे हैं और उन प्रयोगों पर करोड़ों रुपयों का व्यय किया जा रहा है। इससे सिद्ध होता है कि आधुनिक युग में प्रयोगात्मक विश्लेषण ध्वनि-विज्ञान का एक अनिवार्य अंग बन चुका है। ध्वनिविद् अपने कानों से जो ध्वनियाँ सुन पाते हैं तथा जिनको ठीक प्रकार से नहीं सुन पाते—इन दोनों की प्रयाग-शाला में परीक्षा कर रहे हैं। धीरे धीरे अब श्रौत ध्वनिविज्ञान का एक स्वतन्त्र विभाग ही बन गया है। इसी कारण ध्वनिविद् ही नहीं वरन् ध्वनि इञ्जीनियर भी सूदूर राज्यों में शीघ्रातिशीघ्र संवाद भेजने के उपायों का अनुसंधान करने में संलग्न हैं।

सामाजिक सहिष्णुता ध्वनिविज्ञान प्रशिक्षण का एक प्रत्यक्ष फल है। शिक्षित तथा अशिक्षित सभी प्रकार के लोग अपनी भाषा को अन्य भाषा-भाषियों द्वारा गलत उच्चारित होते देखकर उनकी हँसी उड़ाया करते हैं। यहाँ तक कि अपने से भिन्न बोलने वाले व्यक्ति के प्रति मन में एक प्रकार की घृणा का भाव रखने लगते हैं। इस प्रकार के लोग, अपनी भाषा को अच्छी तथा दूसरे की भाषा को बुरी कहकर पूर्वग्रह गृहीत भावना से भाषा के बारे में विचार करते हैं।

एक प्रान्त के लोग दूसरे प्रान्त की भाषा को निरादर की दृष्टि से देखते हैं। पर ध्वनिविज्ञान का अध्येता सहज ही में समझ लेता है कि भिन्न भिन्न स्थानों के लोग भिन्न भिन्न प्रकार की उच्चारण सम्बन्धी विशेषतायें रखते हैं; इसमें अच्छे बुरे का कोई प्रश्न नहीं है। उदाहरणार्थ, हिन्दी में कुछ लोग कैलास को केलास (Ke) तथा कुछ लोग कैलास (Kai) उच्चारित करते हैं। चाहे अन्य लोग कुछ भी समझें लेकिन ध्वनिविद् यह समझता है कि एक ध्वनि का भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न रूप हो गया है। इन दोनों की सामाजिक कार्यकारिता अर्थात् अर्थोत्पादन की शक्ति में कोई अन्तर नहीं है। विभिन्न भाषाओं की ध्वनियों से परिचित होकर ध्वनिविद् इस बात का विचार नहीं करता कि भाषाओं में अच्छा-बुरा, उत्तम-मध्यम, क्या है? इस दृष्टि से देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ध्वनिविज्ञान का अध्ययन मानस का विस्तार करके अन्य भाषाओं के प्रति उदारता का भाव लाता है।

ध्वनि-प्रक्रिया-विचार :—

ध्वनि-प्रक्रिया विचार में किसी विशिष्ट भाषा की ध्वनि-प्रणाली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। ध्वनि-विज्ञान में ध्वनियों की भौतिक विशेषताओं तथा आकृतिमूलक गुणों का अध्ययन किया जाता है किन्तु ध्वनि-प्रक्रिया विचार में किसी विशिष्ट भाषा में, किसी विशिष्ट ध्वनि के महत्त्व, स्थान तथा गुण पर विचार किया जाता है। ध्वनि-प्रक्रिया विचार में ध्वनि-परिवर्तन के कारणों, दिशाओं, नियमों, सिद्धान्तों आदि का विवेचन किया जाता है। इस अध्ययन के दो रूप हैं। एक ऐतिहासिक तथा दूसरा तुलनात्मक। ध्वनियों में परिवर्तन एक नियमित दिशा तथा परोक्ष रूप में होता रहता है, कालान्तर में वह परिवर्तित रूप स्पष्ट हो जाता है। उस परिवर्तित रूप के आधार पर नयी भाषा का जन्म होता है। भाषा के इस परिवर्तित रूप का ज्ञान ध्वनि-प्रक्रिया द्वारा होता है। ध्वनिपरिवर्तन की प्रक्रिया के

आधार पर पुरानी भाषा नयी भाषा को जन्म देकर जनता से लुप्त हो जाती है। नयी भाषा पुनः ध्वनि-परिवर्तन की प्रक्रिया से पुरानी पड़ जाती है और फिर नयी भाषा का विकास करती है। इस प्रकार भाषा के क्षेत्र में एक क्रमिक विकास निरन्तर होता रहता है और इसका मूलाधार है— ध्वनि-परिवर्तन। ध्वनि-परिवर्तन का संबंध ध्वनि-प्रक्रिया से है। इस प्रकार पुरानी भाषा के लोप तथा नयी भाषा के उद्भव की प्रक्रिया, कारण आदि का ज्ञान ध्वनि-प्रक्रिया से होता है।

ध्वनिनियमों का ज्ञान ध्वनि-प्रक्रिया से संभव होता है। किसी भाषा में ध्वनि-परिवर्तन का नियम तभी उत्पन्न होता है, जब उस भाषा के एक व्यक्ति में ही नहीं वरन् उसके सभी लोगों में वैसा ही ध्वनि सम्बन्धी परिवर्तन पाया जाता है। भाषा-परिवर्तन सर्वाधिक मात्रा में समाज द्वारा होता है। भाषा-परिवर्तन का यह स्वरूप देशकाल के अनुसार बदलता रहता है। ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियमों में विशेष बात हम यह देखते हैं कि किसी विशेष काल तथा विशेष स्थान की भाषाओं में परिवर्तन प्रायः समान दिशाओं में हुआ है। इससे किसी विशेष काल तथा स्थान की भाषा के बोलने वालों में समान प्रवृत्ति का बोध होता है। ध्वनि का यह परिवर्तन परोक्ष रूप में होते हुए भी एक निश्चित कोटि का होता है। परिवर्तन के इसी नियमित ढंग को ध्वनि-नियम कहते हैं। भाषाओं में ऐतिहासिक सम्बन्ध जोड़ने में यह ध्वनि-नियम बहुत सहायक सिद्ध होता है। इस प्रकार ध्वनि-प्रक्रिया के ज्ञान से ऐतिहासिक अनुशीलन में सहायता मिलती है। ग्रिम नियम के प्रथम ध्वनि-परिवर्तन के ज्ञान से जर्मन भाषा का सम्बन्ध आदिम आर्य भाषाओं से स्थापित हुआ। ग्रिम नियम के द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन के ज्ञान से उच्च जर्मन से निम्न जर्मन अलग की गई। इस प्रकार ग्रिम नियम द्वारा संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अंग्रेजी, गाथिक, आधुनिक जर्मन एक परिवार की भाषायें सिद्ध हुईं तथा इनके बोलनेवाले एक परिवार के माने गये। इस प्रकार ध्वनि-नियम द्वारा आर्यों के इतिहास पर बहुत बड़ा प्रकाश पड़ा। हिन्दुस्तान, पारस, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स, इटली, रूस आदि देशों के आर्य एक जाति के माने गये। ध्वनि-प्रक्रिया के ज्ञान से भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ, ध्वनि-नियमों के अध्ययन द्वारा परस्पर सम्बन्धित भाषाओं की ध्वनि-प्रणाली तथा ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी प्रवृत्तियों का तुलनात्मक ज्ञान सरल हो जाता

है। ध्वनि-प्रक्रिया के ज्ञान से किसी विशिष्ट भाषा की ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति तथा परम्परा का ज्ञान हम ठीक-ठीक कर सकते हैं अर्थात् उस भाषा की ध्वन्यात्मक प्रणाली कैसी है; उसमें बलाघात या सुराघात में से किसकी प्रधानता है; वह ओकार-बहुला भाषा है या आकार-बहुला; वह बहुत मधुर भाषा है या कर्णकटु; वह संगीतात्मक भाषा है या रूखी; उसमें अनुनासिक वर्णों की प्रधानता है या कोमल वर्णों की। किसी विशिष्ट भाषा की ध्वन्यात्मक परम्परा, प्रकृति, प्रवृत्ति आदि के ज्ञान से हम उसके शुद्ध उच्चारण, वर्ण-विन्यास आदि की व्यवस्था ठीक-ठीक ढंग से कर सकते हैं। हिन्दी में प्रगट लिखना ही ठीक है, प्रकट नहीं। संस्कृत के क्, च्, ट्, त्, प् व्यंजन प्राकृत में ग्, ज्, ड्, द्, ब् हो जाते हैं; हिन्दी तृतीय प्राकृत के भीतर आती है। अतः हिन्दी में प्रकट का प्रगट लिखना ही ठीक है और तद्वत् उच्चारण (ग) करना भी शुद्ध है। तात्पर्य यह कि ध्वनि-प्रक्रियो-विचार के ज्ञान के अभाव में भाषा की बनावट का ठीक अध्ययन नहीं हो सकता। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ध्वनि-प्रक्रिया-विचार के ज्ञान से भाषाविज्ञान की नींव पड़ती है।

शब्द-विज्ञान

शब्द-विज्ञान में शब्द तथा उससे सम्बन्धित उन सारी सामग्रियों को रखा जाता है, जो भाषा-विज्ञान की अन्य-शाखाओं-ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान, अर्थविज्ञान, वाक्य-विज्ञान आदि में नहीं मिलतीं। शब्द-विज्ञान में शब्द की परिभाषा, उसके निर्माण की प्रक्रिया, शब्द-तत्त्व, शब्द-स्वरूप, उसके विभिन्न भेदोपभेदों, शब्द-समूह में परिवर्तन के कारण आदि पर विचार किया जाता है। किसी भाषा के शब्द-समूह पर विचार करते समय उसके शब्द-समूह, प्रकार तथा भेदोपभेदो पर विचार करते हुए प्राचीन शब्दों के लोप तथा नवीन शब्दों के आगमन के कारणों का भी विवेचन किया जाता है। किसी भाषा के शब्द-भाण्डार से उसके बोलनेवालों की सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान होता है। शब्द-समूहके विकास के साथ-साथ किसी देश की संस्कृति विकसित होती रहती है। दूसरी जातियों के शब्दों के मिश्रण के पश्चात् उसकी संस्कृति का मिश्रण सम्भव होता है। किसी भाषा में पाये जानेवाले विभिन्न जातियों के शब्दों के ज्ञान से उसके बोलनेवाली जाति पर विभिन्न जातियों की संस्कृतियों का प्रभाव जाना जा सकता है।

समाज की कुछ रीतियों के लुप्त हो जाने से उनसे सम्बन्धित शब्द भी लुप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, संस्कृत भाषा में यज्ञ से सम्बन्धित बहुत से शब्द पाये जाते हैं, किन्तु आजकल यज्ञ का प्रचलन कम होने से हिन्दी में यज्ञ सम्बन्धी शब्द कम पाये जाते हैं। इसी प्रकार प्राचीन ढंग के वेशभूषा, आभूषण, अस्त्र, वस्त्र आदि के प्रयोग के समाप्त होने पर उनसे सम्बन्धित शब्द भी समाप्त हो जाते हैं। किसी भाषा में नये शब्दों का आगमन अधिकांश मात्रा में सभ्यता तथा संस्कृति के मिश्रण तथा विकास, नवीन वस्तुओं के निर्माण तथा राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना के विकास से होता है। साम्य तथा नवीनता लाने के लिये भी नये शब्दों का आगमन होता है। किन्तु ऐसे शब्दों की संख्या किसी भाषा में बहुत कम होती है। शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकता पड़ने पर नये शब्द भी गढ़े जाते हैं। जैसे, आजकल हिन्दी में शिक्षा सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द बहुत अधिक मात्रा में गढ़े जा रहे हैं। अर्थात् सामाजिक रूढ़ियों तथा परंपराओं के प्रचलन तथा नयी वस्तुओं एवं नये विचारों के उद्भव के साथ नये शब्दों का आगमन तथा उनके लोप के अनुसार प्राचीन शब्दों का लोप होता रहता है। इस प्रकार किसी देश में किसी काल विशेष की विशिष्ट भाषा में पाये जानेवाले वेश-भूषा, आभूषण, बर्तन, अस्त्र, सिक्का, सामाजिक रीति-रिवाज से सम्बन्धित शब्दों द्वारा उस देश में उस काल विशेष में पायी जानेवाली सभ्यता एवं संस्कृति का अध्ययन किया जा सकता है।

कोश-विज्ञान भी शब्द-विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। कोश-विज्ञान में उन सिद्धान्तों, नियमों, पद्धतियों का विवेचन किया जाता है जिनके आधार पर शब्दकोश का निर्माण होता है। कोश-विज्ञान में कोश के विभिन्न प्रकारों तथा प्रत्येक के निर्माण की बिधियों का विवेचन भी किया जाता है। इस प्रकार शब्द-विज्ञान कोश बनाने की कला तथा बिधियों को सिखाता है।

व्युत्पत्ति-शास्त्र शब्द-विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। शब्दों की व्युत्पत्ति निकालने में ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान तथा अर्थ-विज्ञान की सम्मिलित सहायता ली जाती है। शब्द की व्युत्पत्ति निकालते समय सर्वप्रथम मूल का पता लगाया जाता है कि आरम्भ में उसका मूल रूप तथा मूल अर्थ क्या था। तदुपरान्त किन-किन परिस्थितियों में किन कारणों तथा नियमों से उनमें ध्वनि तथा अर्थ सम्बन्धी परिवर्तन हुए। व्युत्पत्ति द्वारा ही हम शब्दों की आत्मा में ठीक-ठीक ढंग से प्रविष्ट होने में समर्थ

होते हैं। किसी शब्द के मूल रूप तथा मूल अर्थ का यथार्थ ज्ञान व्युत्पत्ति द्वारा ही सम्भव होता है। व्युत्पत्ति द्वारा ही हम यह पता लगाने में समर्थ होते हैं कि किसी भाषा में कितने प्रतिशत शब्द उस भाषा के हैं और कितने प्रतिशत विदेशी या अन्य भाषाओं के।

व्युत्पत्ति द्वारा किसी भाषा के शब्दों की जीवनी जानी जाती है, जिसके द्वारा संस्कृति, सभ्यता, शिक्षा, दर्शन, समाज-विज्ञान, नृ-विज्ञान सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है। व्युत्पत्ति-शास्त्र हमारे यहाँ विद्या का स्थान तथा व्याकरण की गरीबी को दूर करनेवाला माना गया है।❀ शब्द-विज्ञान के भीतर ही व्यक्ति तथा स्थान के नामों का अध्ययन किया जाता है। व्यक्ति के नामों के विवेचन से किसी जाति की संस्कृति, धर्म, सभ्यता, दर्शन आदि पर प्रकाश पड़ता है। स्थान के नामों के अध्ययन से इतिहास तथा भूगोल सम्बन्धी सामग्री मिलती है। इस प्रकार शब्द-विज्ञान के अनुशीलन द्वारा भाषातत्त्व, शब्दकोश, संस्कृति, दर्शन, सभ्यता, धर्म, समाज-विज्ञान, नृविज्ञान, इतिहास, भूगोल आदि अनेक विषयों पर प्रकाश पड़ता है।

रूप-विज्ञान

रूप-विज्ञान में वाक्य में प्रयोग करने योग्य पदों के रूप तथा निर्माण-प्रक्रिया पर विचार किया जाता है। प्रारम्भ में शब्द से पद कैसे बने? उनके तत्त्व कितने हैं; वे कैसे अर्थवान् हुए? वे आपस में किस प्रकार सम्बंधित हैं? वाक्य में हरएक पद का क्या महत्त्व है? आदि प्रश्नों का सम्यक् उत्तर रूप-विज्ञान ही देता है। भाषा के रूप-तत्त्व ही उसके विभिन्न अवयवों तथा तत्त्वों को जोड़कर भाषा की आकृति तैयार करते हैं तथा भाषा की गठन में प्रौढ़ता लाते हैं। इस प्रकार भाषा की गठन तथा बनावट रूप-तत्त्वों द्वारा निर्मित होती है। प्रकृति और प्रत्यय का भाषा में क्या कार्य है? प्रत्यय किस प्रकार प्रकृति में जुड़कर संज्ञा, क्रिया आदि के रूपों को तैयार करता है; किसी शब्द में जुड़कर किस प्रकार उसको एक निश्चित अर्थ प्रदान करता है? वह किस प्रकार विभिन्न व्याकरणिक रूपों का निर्माण करता है? वह कहाँ और कैसे प्रत्यय, उपसर्ग तथा विभक्ति का काम करता

❀ तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।

है ? शब्द के कितने भेद हैं ? वाक्य में प्रयुक्त होने पर उनका रूप विभिन्न विभक्तियों के साथ कैसे बदल जाता है ? किसी विशिष्ट भाषा में स्थान-परिवर्तन या सुरभेद द्वारा उनका अर्थ क्यों बदल जाता है ? पारिभाषिक शब्द बनाने की विधि क्या है ? विदेशी भाषा के शब्द स्वदेशी भाषा में किस रीति से पचाये जाते हैं ? उनका रूप विभिन्न विभक्तियों, लिङ्गों तथा वचनों में किस ढंग से बनता है; उनका उच्चारण किस प्रणाली से उपयुक्त होता है ? आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर रूप-विज्ञान से ही मिलता है।

भाषाशास्त्रियों का कहना है कि आरम्भ में शब्दों का आज जैसा कोई व्याकरणिक भेद नहीं था। उस समय भाषा संश्लिष्टावस्था में थी। प्रयोग की सुविधा के लिये शब्दों के अलग-अलग रूप स्थिर होते गये और उनका विभाजन संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि रूपों में होता गया। इस प्रकार भाषा-विकास की अवस्थाओं—संश्लिष्टावस्था तथा विश्लिष्टावस्था के अध्ययन में रूप-विज्ञान का अध्ययन सहायक हो सकता है। रूप-विज्ञान बताता है कि किसी भाषा का व्याकरणिक भेद या व्याकरणिक रूप-परिवर्तन; ध्वनि-विकास या ध्वनि-परिवर्तन से निर्मित होता है; अथवा शब्दों के स्थान-परिवर्तन या शब्द क्रम से सूचित होता है अथवा सुर (Tone) भेद द्वारा व्यक्त किया जाता है, या सम्बन्ध तत्त्वों के पृथक् रूपों के जोड़ने से अभिव्यक्त होता है।

ध्वनि-विकास या ध्वनि-परिवर्तन पर आधारित व्याकरणिक रूप—जैसे,

	एकवचन	बहुवचन
अंग्रेजी भाषा में :—	Man	Men
	Foot	Feet
अरबी भाषा में :—	किताब	कुतुब

चीनी भाषा में सुरभेद से अर्थभेद हो जाता है। चीनी में त्सि, यु शब्दों के सुर-भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। चीनी में शब्दों के स्थान-भेद से अर्थभेद हो जाता है। 'न्गो त नि' का अर्थ है मैं तुझे मारता हूँ। शब्दों के कुछ स्थान-भेद से अर्थात् 'नि त न्गो' का अर्थ है—तू मुझे मारता है।

भारोपीय भाषा में सम्बन्ध तत्त्व के स्वतंत्र रूप हैं—परसर्ग, संयोजक, अव्यय, क्रिया विशेषण। भारोपीय भाषा में अर्थ-तत्त्व में विलीन होनेवाले सम्बन्ध तत्त्व हैं—प्रत्यय, उपसर्ग तथा विभक्ति। उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि रूप विज्ञान के अन्तर्गत भाषा के व्याकरणिक रूपों के विकास, धातु,

संज्ञा, उपसर्ग, प्रत्यय आदि सभी उपकरणों पर विचार करना पड़ता है, जिनसे भाषा के रूप बनते हैं। इसका अध्ययन वर्णनात्मक, तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक तीनों प्रणालियों से होता है।

रूप-विज्ञान के अध्ययन के बिना भाषा का रूपात्मक वर्गीकरण समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि रूपतत्त्वों के अध्ययन के अभाव में हम समास, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति, उपसर्ग, सुर आदि को समझ ही नहीं सकते, तो फिर हम पूर्णतः समास-प्रधान, ईषत् समास-प्रधान, अन्तर्विभक्ति-प्रधान, बहिर्विभक्ति-प्रधान, पूर्व प्रत्यय-प्रधान, पर प्रत्यय-प्रधान, ईषत् प्रत्यय-प्रधान, सुर-प्रधान, बल-प्रधान आदि भाषाओं को कैसे समझेंगे।

वाक्य-विज्ञान

वाक्य-विज्ञान में वाक्य-गठन की प्रक्रिया, वाक्यावयव, वाक्यक्रम, वाक्यों के प्रकार आदि का अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन के तीन रूप होते हैं—वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक। वाक्य भाषा की इकाई है; इसलिये वाक्य-विज्ञान द्वारा भाषा के रूपात्मक पक्ष पर प्रकाश पड़ता है। भाषा की आकृति की दृष्टि से किये गये वाक्यों के प्रमुख प्रकारों से भाषा का आकृतिमूलक वर्गीकरण सरलता से समझा जा सकता है। भाषा की आकृति की दृष्टि से वाक्यों के प्रमुख चार भेद हैं :—(१) अयोगात्मक, (२) प्रश्लिष्ट, योगात्मक, (३) अश्लिष्ट योगात्मक (४) श्लिष्ट योगात्मक। इन चार प्रकार के वाक्यों के आधार पर संसार की भाषायें रूपात्मक दृष्टि से प्रमुखतः चार भागों में बाँटी जाती हैं :—अयोगात्मक प्रश्लिष्ट योगात्मक, अश्लिष्ट योगात्मक, श्लिष्ट योगात्मक।

अयोगात्मक वाक्य में शब्द आपस में जुड़े नहीं रहते। वे अलग-अलग रहते हैं। केवल उनका स्थान निश्चित रहता है। अयोगात्मक भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषा है। जैसे 'न्गो त नि' का अर्थ है—मैं तुझको मारता हूँ। यदि उन शब्दों का स्थान बदलकर 'नि त न्गो' कर दिया जाय तो उसका अर्थ होगा—तुम मुझको मारते हो।

प्रश्लिष्ट योगात्मक में सभी शब्द मिलकर एक वाक्य बन जाते हैं। जुड़ने पर उनका थोड़ा-थोड़ा अंश लुप्त हो जाता है। जैसे, मेक्सिको की भाषा में—

के प्रयोग के समय वक्ता का अभिप्राय क्या है। अर्थ भाषा का साध्य तत्त्व है। अतएव अर्थ-विज्ञान द्वारा हम अर्थ-तत्त्व से परिचित होकर भाषा के साध्य को समझने में समर्थ होते हैं। अर्थ-विज्ञान भाषा एवं विचार से सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान उपस्थित करता है। अतः अर्थ-विज्ञान के ज्ञान से हम भाषा के मानसिक आधार, आन्तरिक तत्त्व, प्रभविष्णु शक्ति से परिचित होकर उसकी आत्मा को जानने में समर्थ होते हैं। अर्थ-विज्ञान द्वारा हम अर्थ के स्वरूप को समझने में समर्थ होते हैं; अर्थ के लक्षण, अर्थ-बोधन के साधनों तथा अर्थ-बोध की प्रक्रिया से परिचित होते हैं एवं अर्थ-परिवर्तन की विभिन्न दिशाओं तथा उनके कारणों को जानने में समर्थ होते हैं। अर्थ-विज्ञान के अनुशीलन से हम अर्थ-परिवर्तन के विविध नियमों तथा सिद्धान्तों से अभिज्ञ होते हैं; अर्थ की परिवर्तनशील प्रकृति तथा उसकी अनेक गति-विधियों को हम जानने लगते हैं। अर्थ-विज्ञान अर्थ के विविध रूपों को समझाने में समर्थ होता है कि उसका रूप कब सामयिक होगा, कब सनातन; वह कब वस्तुमूलक होगा, कब वैयक्तिक; वह कब यदृच्छामूलक होगा, कब सांकेतिक; वह कब लक्षणाशक्ति की प्रक्रिया से प्रगट होगा तथा कब व्यंजना से; एवं किसी भाषा में कब वह सुर से प्रगट होगा तथा कब स्थान-परिवर्तन से। किसी भी व्यक्ति को चाहे वह भाषा-शास्त्री हो, चाहे वह जीवन के अन्य क्षेत्रों का सामान्य व्यक्ति, अर्थ-विज्ञान का ज्ञान उसे तीन प्रकार से लाभ पहुँचाता है।

(१) अर्थ-विज्ञान से परिचित व्यक्ति अपनी पढ़ी तथा सुनी हुई बात को अपेक्षाकृत अधिक दक्षता से समझने में समर्थ होता है।

(२) किसी भी तथ्य को अथवा आन्तरिक भाव को वह वाणी अथवा लेखनी द्वारा शुद्ध एवं प्रभविष्णु ढंग से प्रगट करने में अपेक्षाकृत अधिक दक्षता एवं सफलता प्राप्त कर लेता है।

(३) शब्दों के यथार्थ प्रयोग में दक्षता आने से वह किसी समस्या, प्रश्न अथवा तथ्य को सोचने तथा मनन करने में अपेक्षाकृत अधिक ठीक एवं यथार्थ हो जाता है।

भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज Linguistic (Palaeontology) :—इस शाखा में प्रागैतिहासिक भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर प्रागैतिहासिक काल की संस्कृति तथा इतिहास का अध्ययन किया जाता है। पुरातत्त्व तो प्राप्त भौतिक पदार्थों अथवा उनके

अवशिष्टांशों के आधार पर ही प्रागैतिहासिक काल का इतिहास उपस्थित करता है। प्रागैतिहासिककालीन जातियों के मानसिक विकास का ब्यौरा देने में वह असमर्थ हो जाता है। भाषा-विज्ञान की यह शाखा उस अभाव की पूर्ति करती है। भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज द्वारा प्रागैतिहासिक रोचक तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता है। जैसे, प्रागैतिहासिक काल में माँ की बहन के लिए मातृस्वसा तथा पिता की बहन के लिए पितृस्वसा शब्द मिलता है। इन्हीं से हिन्दी के मौसी तथा फुआ शब्द निकले हैं। इन्हीं शब्दों को पुंलिंग करके मौसा तथा फूफा शब्द बने हैं। इनके वाचक शब्द प्रागैतिहासिक काल में नहीं मिलते। इससे निष्कर्ष यह निकला कि प्रागैतिहासिक काल में हमारी कौटुम्बिक प्रथा में मौसा तथा फूफा का कोई स्थान नहीं था।

इस प्रकार यह शाखा प्रागैतिहासिक रहस्यमय तथ्यों पर प्रकाश डालती है। भाषा-विज्ञान की यह शाखा भारोपीय मूल-भाषा-परिवार की प्राचीनतम भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से संचित समान अर्थ तथा न्यूनाधिक ध्वनि-परिवर्तन या रूप-परिवर्तन वाले अनेक शब्दों के अनुशीलन से तुलनात्मक अध्ययन द्वारा मूल भारोपीय-भाषा के शब्दों का पता लगाकर उनके अर्थों से आर्यों के प्राचीनतम मूल-स्थान, सभ्यता तथा संस्कृति पर सराहनीय प्रकाश डालती है।

प्रागैतिहासिक काल की भूगोल की जानकारी में भी भाषा के आधार पर प्रागैतिहासिक खोज नामक शाखा हमारी सहायता करती है। प्रागैतिहासिक काल के पेड़-पौधे, उपज, जानवर, व्यवसाय आदि का ज्ञान प्रागैतिहासिककालीन भाषाओं के अनुशीलन द्वारा प्राप्त होता है।

भाषा-विज्ञान के गौण विभाग

भाषा-उत्पत्ति, विकास, प्रकृति, परिवर्तन, जीवन, विविध रूप तथा मृत्यु—भाषा-विज्ञान मानव की सामान्य तथा विशिष्ट भाषाओं की उत्पत्ति, विकास, ह्रास, जीवन, शक्ति आदि की व्याख्या करता है। सामान्य मानवीय भाषा के विकास के अध्ययन से सम्पूर्ण मानवता के विकास की चिन्ताधारा पर प्रकाश पड़ता है। भाषा-उत्पत्ति का प्रश्न मानव-उत्पत्ति के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। अतः भाषा-उत्पत्ति को ठीक-ठीक समझने से मानव की उत्पत्ति भी ठीक-ठीक समझ में आ जाती है। मानव-उत्पत्ति तथा भाषा-

उत्पत्ति सम्बन्धी विकासवाद तथा प्रकृतिवाद को ठीक-ठीक समझने से अध्येता वर्ण, जाति, धर्म, संप्रदाय-संबंधी पूर्वग्रह की भावनाओं से मुक्त हो सकता है। सामान्य मानवीय भाषा की प्रकृति, प्रयोजन, प्रवृत्ति, महत्ता, कार्य आदि की सर्वत्र समानता देखकर अध्येता में विश्व-बन्धुत्व की भावना का उदय होता है। भाषा-उत्पत्ति सम्बन्धी विविध वादों के ज्ञान से धार्मिक या सांस्कृतिक भाषा सम्बन्धी पूर्वग्रह कि हमारी धार्मिक या सांस्कृतिक भाषा दैवी या ईश्वरीय है—दूर हो जाता है। भाषा के विविध रूपों में भाषा, विभाषा, बोली; राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय-भाषा, अन्तर्राष्ट्रीय-भाषा आदि के बनाने की प्रक्रिया, अवस्था, कारण आदि को जानने से भाषा के विषय में संकुचित दृष्टि का लोप हो जाता है।

भाषा की प्रकृति तथा विकास की प्रक्रिया तथा उसके कारणों को जानकर हम राष्ट्र तथा राष्ट्रीय भाषा के आगामी विकास को ठीक दिशा में ढाल सकते हैं। भाषा-विज्ञान में तुच्छ से तुच्छ भाषा, ग्रामीण भाषा तथा आदि जातियों की बोली का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन से साधारण व्यक्ति, अनपढ़ आदमी, जंगली जाति तथा आदिम जातियों के प्रति सहानुभूति एवं प्रेम की भावना उत्पन्न होकर अध्येता में मानवता की उदात्त भूमिका का निर्माण होता है।

Philology ग्रीक शब्द है। इसमें Philog का अर्थ है Love तथा Logos का अर्थ है Language इस प्रकार Philology का अर्थ है भाषा मात्र के प्रति प्रेम अर्थात् भाषा-विज्ञान का उद्देश्य है भाषा मात्र के प्रति प्रेम उत्पन्न करना। भाषा-विज्ञान के शिक्षण से सभी भाषाओं के प्रति सम्मान की भावना उदित होती है फिर उस स्थिति में अंग्रेजी म्लेच्छ भाषा है, अरबी यावनी भाषा है, संस्कृत देव-वाणी है, बुन्देली ग्रामीण बोली है, संथाली आदिम जातियों की बोली होने के कारण निकृष्ट भाषा है, हिन्दी राष्ट्रभाषा है, अतएव सर्वश्रेष्ठ भाषा है—आदि भाषा सम्बन्धी उपर्युक्त संकुचित धारणाओं का लोप हो जाता है। अर्थात् भाषा-विज्ञान का सबसे बड़ा कार्य विविध प्रकार की भाषाओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न करना है।

विश्व-भाषा-परिवार

इसके अन्तर्गत हम ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य तथा अर्थ के आधार पर विश्व भर के सभी भाषा-परिवारों का अनुशीलन ऐतिहासिक तथा तुला-

त्मक पद्धति से करते हैं। इस विभाग में संसार भर की भाषाओं का वर्गीकरण ऐतिहासिक तथा रूपात्मक ढंग से किया जाता है और यह निश्चय किया जाता है कि कौन कौन भाषायें एक परिवार की हैं। भाषा-परिवार के अध्ययन में हम यह पढ़ते हैं कि विश्व के अलग-विभागों में अलग-अलग भाषायें क्यों बनीं, उनमें अन्तर क्यों उपस्थित हुआ, इन सब भाषाओं के कितने परिवार हैं, एक भाषा में कितने परिवार हैं, वे आपस में किन बातों में साम्य या वैषम्य रखते हैं, एक परिवार की भाषा बोलनेवाले अपने मूल निवासस्थान से कब और क्यों बिलग हुए, फिर उनकी भाषा में कब और कैसे, और कितना अन्तर उपस्थित हुआ; संसार में किसी जाति की भाषा कब और क्यों मर गई; और किसी जाति की भाषा कब और क्यों उन्नति के शिखर पर पहुँच गई। एशिया, यूरोप, दोनों अमेरिका, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया में किन-किन परिवारों की भाषायें बोली जाती हैं। वे आपस में किन-किन बातों में साम्य तथा वैषम्य रखती हैं। भाषा-विज्ञान में संसार भर की भाषाओं की प्रकृति, प्रवृत्ति, बनावट, विकास, जीवन, मृत्यु आदि का वृत्तान्त पढ़कर भाषा-विषयक जिज्ञासा की तृप्ति होती है तथा निष्काम ज्ञानोपासना की प्रवृत्ति का संवर्धन होता है।

हमारे देश में किन-किन परिवारों की भाषायें बोली जाती हैं, हमारी भाषा या बोली किस परिवार के भीतर आती है ? उसकी उत्पत्ति तथा विकास का इतिहास क्या है ? उसके विकास की कितनी अवस्थायें हैं ? उसका अपने देश की दूसरी भाषाओं से किन-किन बातों में साम्य या वैषम्य है ? उसकी ध्वन्यात्मक प्रकृति क्या है, उसमें कितनी ध्वनियाँ अपनी तथा कितनी विदेशी हैं, उसकी लिपि कैसी है—ध्वन्यात्मक या चित्रात्मक, उसके उच्चारण तथा वर्णविन्यास में क्या सम्बन्ध है, उसमें किन-किन भाषाओं के शब्द मिले हुए हैं, विदेशी भाषा के शब्द उसमें किस प्रणाली से पचाये जाते हैं, उसमें संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण आदि पदों का विकास कैसे हुआ; उसकी वाक्य-रचना कैसी है, और वह वाक्य-रचना अपनी मूल-भाषा से कैसे और क्यों अलग हुई, उसके शब्दों में अर्थ-परिवर्तन किन-किन कारणों से हुआ, हमारे देश में किस भाषा में राष्ट्रभाषा होने की क्षमता है और क्यों; किसी भाषा में संस्कृति-भाषा के गुण कैसे आते हैं; हमारे देश की संस्कृति-भाषा कौनसी है ? कोई भाषा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा कैसे बनती है, संसार की कौन भाषा अन्तर्राष्ट्रीय है और क्यों—आदि प्रश्नों का यथोचित उत्तर भाषा-विज्ञान देता है।

भाषा-भूगोल (Linguistic Geography)

इसके अन्तर्गत किसी देश के भाषा-क्षेत्र का ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य आदि की दृष्टि से अनुशीलन करके उसे विभिन्न भाषाओं तथा बोलियों में बाँटा जाता है। जैसे, दक्षिण भारत में द्राविड़ भाषा-परिवार की कितनी भाषायें हैं, उनकी निश्चित सीमायें कहाँ तक हैं, उनमें से प्रत्येक में कितनी बोलियाँ तथा उपबोलियाँ हैं, उनकी सीमा तथा विस्तार क्या है? भाषा-भूगोल में वर्णनात्मक, तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धतियों का यथास्थान उपयोग किया जाता है। बोली-भूगोल नामक शाखा भी वस्तुतः इसी के भीतर परिगणित होनी चाहिए। इसमें भाषा या बोली आदि के मानचित्र भी बनाये जाते हैं जिनमें ध्वनि, शब्द, वाक्य, रूप तथा अर्थगत विशेषताएँ प्रगट की जाती हैं। इस प्रकार मानचित्रों द्वारा भाषा की स्थानीय विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है।

भाषा काल-क्रम-विज्ञान :—इसमें किसी भाषा की आयु का ठीक-ठीक पता लगाया जाता है।

लिपि :—अनेक भाषा-ध्वनियों का अंकन ध्वनि-लिपि के बिना शुद्ध रूप से नहीं हो सकता। इसलिए भाषा-शिक्षण में ध्वनि-लिपि का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। लिखित-भाषा में लिपि का प्रयोग होता है और हम भाषा-विज्ञान में लिखित-भाषा की सामग्री का भी उपयोग करते हैं। इस कारण भी लिपि का अध्ययन भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत आवश्यक हो जाता है।

शैली-विज्ञान (Stylistics)—इसका सम्बन्ध भाषा की कलात्मकता से है। शैली-विज्ञान कवियों की भाषा के कलात्मक पक्ष पर विचार करने की सामग्री प्रदान करता है। विशिष्ट प्रभावों, भावों, संदर्भों तथा परिस्थितियों में शब्द-चयन, शब्द-रूप तथा शब्द-ध्वनि में कैसे और क्यों अन्तर पड़ जाता है—आदि प्रश्नों का विचार इसमें किया जाता है। शैली-विज्ञान साहित्यिक भाषा के कलात्मक स्वरूप को समझने में सहायता पहुँचाता है

दार्शनिक भाषा-विज्ञान (Meta Linguistics) इसमें भाषा के दार्शनिक स्वरूप का विवेचन किया जाता है।

व्यक्ति बोली विकास :—इसमें एक व्यक्ति की बोली के विकास का अध्ययन किया जाता है। बच्चे की बोली के विकास का अध्ययन भाषा-

उत्पत्ति नामक जटिल समस्या को समझाने में बहुत सहायक सिद्ध होता है।

जाति भाषा विज्ञान :—इसमें किसी जाति की भाषा के शब्द समूहों, उच्चारण-विधियों, वाक्य-रचना आदि के द्वारा उसकी सभ्यता, संस्कृति, मानस तत्व, इतिहास, विकास आदि का पता लगाया जाता है।

भाषा-शिक्षण-विधि (Linguistic Pedagogy)—इसमें भाषा-वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर भाषा-शिक्षण के सिद्धांतों, विधियों तथा नियमों का निर्धारण किया जाता है।

क्षेत्र-पद्धति (Field Method) :—इससे जीवित भाषा के अध्ययन की विधि ज्ञात होती है।

बोली विज्ञान (Dialectology)—इसमें जीवित बोलियों का अध्ययन किया जाता है।

सामाजिक भाषा-विज्ञान (Social Linguistics)—इसमें भाषा के सामाजिक प्रयोजन, सामाजिक महत्त्व, सामाजिक आधार, सामाजिक देन, 'सामाजिक' विशेषता तथा समाज-सापेक्ष्य स्वरूप का विवेचन किया जाता है।

भाषा-विज्ञान के महत्त्व सम्बन्धी उपर्युक्त अनुशीलन के आधार पर भाषा-विज्ञान के अध्ययन से निम्नांकित लाभ विदित होते हैं।

१. निष्काम ज्ञानोपासना की प्रवृत्ति जगती है।

२. चिर-परिचित भाषा के विषय में जिज्ञासा की तृप्ति होती है।

३. सभी प्रकार की भाषाओं के विषय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न होता है।

४. सभी भाषाओं के प्रति प्रेम और सम्मान की भावना के जगने से उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण के निर्माण में सहायता मिलती है।

५. सामान्य मानवीय भाषा के विकास अथवा किसी विशिष्ट भाषा के विकास के अध्ययन से सम्पूर्ण मानवता अथवा विशिष्ट जाति की मानसिक धारा का प्रत्यक्षीकरण होता है।

६. भाषा-उत्पत्ति तथा भाषा के विभिन्न परिवारों के अध्ययन द्वारा विश्व-बन्धुत्व की भावना में अभिवृद्धि होती है। इस विषय का सच्चा अध्येता जाति, धर्म, सम्प्रदाय तथा भाषा सम्बन्धी पूर्वग्रहों से मुक्त हो जाता है।

७. सामान्य तथा विशिष्ट भाषा की प्रवृत्ति, प्रकृति, विकास, ह्रास आदि की कहानी जानने से हम यह जानने में समर्थ होते हैं कि भविष्य में

हमारे देश की राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रीय भाषाओं का निर्माण किस दिशा में हो।

८. इस विषय द्वारा भारतवर्ष की भाषा सम्बन्धी समस्याओं के समाधान में उचित दिशा का ज्ञान प्राप्त होता है।

९. ध्वनि-विज्ञान के ज्ञान से कविता के शुद्ध सस्वर पाठ में सहायता मिलती है।

(ब) ध्वनियों तथा शब्दों के शुद्ध उच्चारण की विधि ज्ञात होती है।

१०. ध्वनि-विज्ञान से हम किसी भाषा के ध्वन्यात्मक स्वरूप को ठीक-ठीक ढंग से जानने में समर्थ होते हैं।

११. ध्वनि-विज्ञान के ज्ञान से वर्ण-विन्यास को शुद्ध करने में बहुत सहायता मिलती है।

१२. ध्वनि-विज्ञान द्वारा सदोष लिपियों के संशोधन तथा वैज्ञानिक लिपियों के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

१३. दोषयुक्त उच्चारण के संशोधन में ध्वनि-विज्ञान पर्याप्त सहायता करता है।

१४. संगीत-प्रशिक्षण में ध्वनि-विज्ञान का योग महत्त्वपूर्ण है। संगीत के क्षेत्र में ध्वनियों की प्रकृति, स्वरों के आरोह, अवरोह तथा मात्रा आदि जानने के लिए ध्वनि-विज्ञान की शिक्षा परम आवश्यक है।

१५. थियेटर, सिनेमा, टेलीविज़न, रेडियो आदि में प्रभावशाली ढंग से भाषण प्रस्तुत करने में ध्वनि-विज्ञान सहायता पहुँचाता है।

१६. प्रभावशाली ढंग से सामान्य भाषण प्रस्तुत करने में तथा सामान्य जीवन में आज्ञा देने की विधि में ध्वनि-विज्ञान सहायता पहुँचाता है।

१७. वैदिक मंत्रों के शुद्ध उच्चारण करने की विधि बताने में ध्वनि-विज्ञान की सहायता सराहनीय है।

१८. टेलीफोन द्वारा संवाद भेजने की गति तीव्र करने में प्रयोगात्मक श्रौत ध्वनि-विज्ञान सहायता पहुँचाता है।

१९. किसी व्यक्ति अथवा किसी जाति का शब्द-भाण्डार उसकी सभ्यता तथा संस्कृति का ज्ञान कराने में सहायक सिद्ध होता है।

२०. शब्द-विज्ञान द्वारा पारिभाषिक शब्दों के निर्माण की बिधि ज्ञात होती है।

२१. विभिन्न प्रकार के कोशों के निर्माण की कला तथा विधि बताने में शब्द-विज्ञान सहायता करता है।

२२. शब्द-विज्ञान द्वारा किसी शब्द की व्युत्पत्ति जानकर हम उसकी अन्तरात्मा में प्रविष्ट होते हैं, हम उसकी पूरी जीवनी जानने में समर्थ होते हैं।

२३. किसी शब्द की कहानी सभ्यता, संस्कृति, शिक्षा, दर्शन, समाज-विज्ञान सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर प्रकाश डालती है।

२४. शब्द-विज्ञान में व्यक्ति के नामों के विवेचन से किसी जाति की सभ्यता, संस्कृति तथा दर्शन पर प्रकाश पड़ता है, तथा स्थान के नामों के अध्ययन से भौगोलिक तत्त्वों का ज्ञान होता है।

२५. रूप-विज्ञान तथा वाक्य-विज्ञान द्वारा भाषा की गठन एवं बनावट का बोध होता है।

२६. अर्थ-विज्ञान से परिचित व्यक्ति अपनी पढ़ी तथा सुनी हुई बात को अपेक्षाकृत अधिक दक्षता से समझ लेता है। अपने ऊपर की गई हँसी, व्यंग्य, विनोद के आन्तरिक प्रयोजन को गहराई तथा सूक्ष्मता से समझने में समर्थ होता है। इससे वह अपने अवगुणों को समझकर भविष्य के लिए आगाह हो सकता है।

२७. अर्थ-विज्ञान् शब्दों की सामर्थ्य बताकर उनके यथार्थ प्रयोग में दक्ष बनाता है। शब्द के यथार्थ प्रयोग से किसी समस्या, प्रश्न, तथ्य को सोचने तथा मनन करने में दक्षता तथा यथार्थता आती है।

२८. अर्थ-विज्ञान जाननेवाला किसी भी तथ्य अथवा आन्तरिक भाव को अपनी वाणी तथा लेखनी द्वारा शुद्ध एवं प्रभविष्णु ढंग से प्रगट करने में अपेक्षाकृत अधिक दक्षता एवं सफलता प्राप्त कर लेता है।

२९. भाषा-अध्ययन के आधार पर प्रागैतिहासिक खोज नामक शाखा प्रागैतिहासिक तथ्यों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती है। इससे ऐतिहासिक, विशेषतः प्रागैतिहासिक संस्कृति एवं सभ्यता के ज्ञान में सहायता मिलती है।

३०. शिक्षा-शास्त्र को भी भाषा-विज्ञान कई प्रकार के लाभ पहुँचाता है—

(क) विदेशी भाषा तथा मातृभाषा के शिक्षण में ध्वनि-विज्ञान से से बहुत सहायता मिलती है।

(ख) मातृभाषा के शिक्षण में वाक्य-प्रणाली का प्रयोग आरम्भ से ही क्यों तथा कैसे करना चाहिए, इसे भाषा-विज्ञान ही वैज्ञानिक ढंग से बताने में समर्थ होता है।

(ग) भाषा-विज्ञान भाषा-शिक्षण के कई सिद्धान्तों को स्पष्ट करता है।

(घ) शिक्षा का माध्यम किस वय में क्या हो, शिक्षा के पाठ्यक्रम में

संस्कृतिभाषा, मातृभाषा, राष्ट्रभाषा तथा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का क्या स्थान हो आदि का ठीक स्थान निर्धारित करने में भाषा-विज्ञान बहुत सहायता पहुँचाता है।

(ङ) वर्ण-विन्यास के शिक्षण में ध्वनि-विज्ञान सहायक सिद्ध होता है।

(च) शब्दों के ठीक उच्चारण करने की कला में ध्वनि-विज्ञान दक्ष बनाता है।

(छ) शैली-विज्ञान से काव्यात्मक भाषा के कलात्मक पक्ष के स्पष्टीकरण में सहायता मिलती है।

(ज) पर्यायवाची शब्द पढ़ाते समय अर्थ-विज्ञान की मदद से पर्यायवाची शब्दों में पाये जानेवाले अर्थ सम्बन्धी सूक्ष्म अन्तर का ज्ञान कराया जा सकता है।

३१. भाषा-विज्ञान द्वारा साहित्य के अनुशीलन तथा अध्ययन में सहायता मिलती है।

३२. प्राचीन ग्रन्थों के पाठ-संशोधन तथा सम्पादन में यथेष्ट सहायता मिलती है।

३३. ध्वनि-विज्ञान तथा रूप-विज्ञान द्वारा पुराने शब्दों के रूप-निर्णय में सहायता मिलती है।

३४. अर्थ-विज्ञान द्वारा प्राचीन कविता के अर्थ-स्पष्टीकरण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

३५. आधुनिक साहित्य में शब्द-प्रयोग सम्बन्धी समस्या को हल करने में भाषा-विज्ञान यथेष्ट सहायता पहुँचाता है।

३६. शब्द-शक्ति, अलङ्कार आदि को समझने में अर्थविज्ञान सहायक सिद्ध होता है।

३७. साहित्यिक भाषा के कलात्मक रूप को स्पष्ट करने में शैली-विज्ञान पर्याप्त योग देता है।

उपस्कारक ग्रन्थों की नामानुक्रमणिका

संस्कृत

१ ऋग्वेद
२ अथर्ववेद
३ यजुर्वेद
४ शतपथ ब्राह्मण
५ जैमिनी ,,
६ ऐतरेय ,,
७ छान्दोग्योपनिषद्
८ बृहदारण्यक उपनिषद्
९ अग्निपुराण

	प्रणेता	ग्रन्थ
१०	यास्क	निरुक्त
११	पाणिनि	अष्टाध्यायी
१२	पतंजलि	महाभाष्य
१३	भर्तृहरि	वाक्यपदीय
१४	भरतमुनि	नाट्यशास्त्र
१५	दण्डी	काव्यादर्श

हिन्दी के भाषा-विज्ञान सम्बन्धी उपस्कारक ग्रन्थ

१	अग्रवाल सरयूप्रसाद	भाषा-विज्ञान और हिन्दी
२	ऋषि उमाशंकर शर्मा	हिन्दी-निरुक्त
३	कालेलकर नारायण गोविन्द	ध्वनि-विचार
४	गुरु कामताप्रसाद	हिन्दी-व्याकरण
५	चतुर्वेदी आचार्य सीताराम	भाषा-लोचन
६	ढल डॉ० गोलोकविहारी	ध्वनि-विज्ञान
७	तिवारी डॉ० उदयनारायण	हिन्दी भाषा का विकास

८	तिवारी भोलानाथ	भाषा-विज्ञान
९	दास डॉ० श्यामसुन्दर	(१) भाषा-विज्ञान
१०	,,	(२) भाषा-रहस्य
११	,,	(३) हिन्दी भाषा और साहित्य
१२	द्विवेदी डॉ० कपिलदेव	अर्थ-विज्ञान एवं व्याकरण-दर्शन
१३	पाण्डेय चन्द्रबली	(१) राष्ट्रभाषा की समस्यायें
१४	,,	(२) हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी
१५	भगवद्दत्त	भाषा का इतिहास
१६	मिश्र आचार्य विश्वनाथप्रसाद	वाङ्मय-विमर्श
१७	वर्मा डॉ० धीरेन्द्र	हिन्दी भाषा का इतिहास
१८	वर्मा रामचन्द्र	शब्द-साधना
१९	वाजपेयी किशोरीदास	(१) भारतीय भाषा-विज्ञान
२०	,,	(२) हिन्दी शब्दानुशासन
२१	वाजपेयी आचार्य नन्ददुलारे	राष्ट्रभाषा हिन्दी की समस्यायें
२२	व्यास डा० भोलाशंकर	संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन
२३	शर्मा डा० रामविलास	भाषा और समाज
२४	शास्त्री डा० मंगलदेव	तुलनात्मक भाषा-विज्ञान
२५	श्रीवास्तव मुरलीधर	हिन्दी तद्भव शास्त्र
२६	सक्सेना डॉ० बाबूराम	(१) सामान्य भाषा-विज्ञान
२७	,,	(२) अर्थ-विज्ञान
२८	त्रिपाठी करुणापति	शैली

हिन्दी-साहित्य के उपस्कारक सदर्भ-ग्रन्थ

	प्रणेता	ग्रन्थ
१	केशवदास	रामचन्द्रिका
२	खाँ इन्शाअल्ला	रानी केतकी की कहानी
३	गुप्त मैथिलीशरण	साकेत
४	चन्दबरदाई	पृथ्वीराजरासो
५	तुलसीदास	१ रामचरितमानस, २ कवितावली
६	प्रसाद जयशंकर	१ कामायनी, २ स्कन्दगुप्त

७ पन्त सुमित्रानन्दन   आधुनिक कवि
८ प्रेमचन्द   कायाकल्प
९ मिश्र सदल   नासिकेतोपाख्यान
१० मिश्र डा० शिवकुमार   कामायनी और प्रसाद की कविता-गंगा
११ वाजपेयी आचार्य नन्ददुलारे   बीसवीं शताब्दी
१२ शुक्ल आचार्य रामचंद्र   १ चिन्तामणि (प्रथम भाग) २ विश्व प्रपञ्च की भूमिका
१३ सूरदास   सूरसागर
१४ हृदयेश चण्डीप्रसाद   शान्तिनिकेतन

English Books

The Name of Authors — The Name of Books

1. Anguilar, Oscar Luis Chavarria–Lectures in Linguistics.
2. Arroll, John B. C.–Language, thought and reatily.
3. Bloomfield—1. An Introduction to the Study of Language, 2. Language.
4. Breal—Semantics.
5. Bloch and Trager—An Outline of Linguistic analysis.
6. Bodmer Frederick—The Loom of Language.
7. Burrow T.—The Sanskrit Language.
8. Curry, R.—The Mechanism of the Human Voice
9. DumVille—The Science of Speech.
10. Entwistle, William—Aspects of Language
11. Ellis, A. J.—The Essentials of Phonetics
12. Chatterji, S. K.—Languages and the Linguistic Problems
13. Chakravarti, P. C.—Philosophy of Language
14. George Willis—Philosophy of Speech
15. Gardinner—Theory of Sheech and Language
16. Gune, P. D.—An Introduction to Comperative Philology
17. Gleanson—An Introduction to Descriptive Linguistics
18. Graff—Languge and Languages
19. Gray, L. H.—Foundation of Language
20. Joshua Whatmough—Langtage (A Modern Synthesis)

21. Jesperson, Otto—1–Progress in Language
2–Mankind, Nation and Individual
3–Language–Its nature, development and origin
22. Jones, D.—The Phoneme
23. Joose—Acoustic Phonetics
24. Hockett Charles, F.—Introduction to Linguistics
25. Hoijer—Language in Culture
26. Karl Vossler—The Spirit of Language in Civilization
27. Lee, J. Irving-1–The Language of Wisdoms and Folly
2–Language habits in human affairs
28. Lewis, M. M.—Language in Society
29. Pike—1–Phonetics
2–Phonemics
30. Palmer—1–Introduction to Modern Linguistics
2–The Scientific Study and Teaching of Language
31. Piaget-Jean—The Language and thought of the Child
32. Paul, Henle—Language, Thought and Culture
33. Pillsbury, W. B. and Meader—The Psychology of Language
34. Paget, Sir Richard—Human Speech
35. Maxmuller—The Science of Language
36. Mario Pei—The Story of Language
37. Moulton—Science of Language
38. Sapir—1–Language
2–Culture, Language and Personality

39. Sayce, A. H.—Introduction to the Science of Language Vol. I & II
40. Stuart Chase and Marrian Tyler Chase—Power of Words
41. Schlauch, Margaret—The Gift of Tongues
42. Sweet Henry—A Primer of Phonetics
43. Sweets—History of Language
44. Sen, Dr. Sukumar—Truth of Language
45. Shukla Lalji Ram—Elements of Educational Psychology
46. Tarapurwalla—Elements of the Science of Language
47. Tucker—Introduction to the natural History of Language
48. Ullmann—The Principles of Semantics
49. Urban W. A.—Language and Reality
50. Vendryes, J.—Language
51. Wilson, Richard Albert—The miraculous birth of Language
52. Walpole, Hugh, R.—Semantics
53. Woolner, A. C.–Language in History and Politics
54. Whitney, W. D.—The Life and Growth of Language
55. Zomenhaf—Esparanto

●

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२६	के	की
३	११	दूसरों के	दूसरों
३	१४	अनिवार्य	अनिवार्य भी
४	६	उससे तात्पर्य	उसमें
४	१६	गार्डनर	गार्डिनर
६	१	संयुक्त	युक्त
६	३	भिहितो	भिहतो
६	४	स्मृतम्	स्मृतः
६	५	वाक्यपदीय	अष्टाध्यायी
८	२०	इनट्विटिल	इनट्विस्टिल
९	२२	दो	दोनों
१०	१०	परिहरणमूलकतावाद	श्रमपरिहरणमूलकतावाद
१०	१८	सम्बोधित करते हुए	देवभाषा कहते हुए
१०	१९	व्यवकीर्णोऽयम्	व्यवकीर्णोऽयम्
१०	२३	हेरैक्लिटस	हेरेक्लिटस
११	६	आदम	आदिम
११	८	अकेली भाषा	भाषा
१२	७–८	अचानक में	अचानक
१३	१२	निर्जन वन	वन
१४	२३	मोड़ आदि	मोड़
१५	१३	निकाला होगा	निकाली होगी
१५	१४	अद्	अत्
१५	२४	अभिव्यञ्जक	अभिव्यञ्जन
१६–	१	मान	मान भी
,,	५	Baffling	Babbling
	२६	योगदान	योग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	२६	कर	दे
,,	३०	पाणिनी	पाणिनि
१७	२३	उच्चारणीय	उच्चारण
१९	७	कु कु हूँ कू	कुकुहूँकूँ
,,	२८	बात	तथ्य
२०	१६	अथबस्कन की	की अथाबास्कन
२१	८	विभाषिका	विभासिका
,,	१८	dazzal	dazzle
,,	१८	zigzig	zigzag
,,	३१	के	को
२२	१०	के	को
,,	२५	परिवर्तिनी	परिवर्तनशील
२३	३	मनोभावाभिव्यंजक	मनोभावाभिव्यंजकता
,,	३	काडलिक	कॉडलिक
,,	१४	मिया मिया	म्याँ म्याँ
,,	१९	आने के समय	आते ही
,,	१९	कँः कँः	कहाँ, कहाँ
२४	५	फ्रियेण्ड	फियेण्ड
,,	२१	हिन्दुस्थानी	हिन्दुस्तानी
,,	२७	आवेग-क्षणों	आवेगपूर्ण क्षणों
२६	१	बनमानुस होता	बनमानुस ऐसा होता है
२७	२१	Lung	फेफड़े
३०	२	और शब्द में ही।	और उसके एक शब्द में ही
,,	१३	प्रयुत्तर	प्रत्युत्तर
,,	२४	Lung	फेफड़े
३१	२२	द्वारा	में
,,	२३	हो चुका है	है
३२	९	घूक	घुग्घू
,,	१६	निकली	निकलती है
,,	१७	आई	आती है
,,	२८	जिससे	जिनसे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३	१६	वादों	वादों का योगदान है
,,	३१	Very	Vary
३४	१०	Lung	फेफड़ा
,,	२६	कू क	कू कू
,,	३२	के	से
३५	३१	जैसी	जैसे
३६	४	उसके	उसकी
४०	८	बोलते	बोलते हुए
४३	८	चतोम	क्यमूतोम्
४४	१२	की प्रकृति	मनुष्य की प्रकृति
४५	२१	भषा	भाषा
४६	१४	ग्+अ	ग+आ
४८	६	विकेन्द्रीमुखी	विकेन्द्रमुखी
,,	६	प्रवृत्ति	प्रकृति
५०	३०	प्रकृति	परिवर्तनशील प्रकृति
५१	१०	पाणिनो	पाणिनि
५२	११	आता है	आ रहा है
,	२६	अन्तः	आन्तरिक
५५	२६	ही	भी
५६	१०	४	३
५७	१५	ष्मा	ष्वा
,,	१६	विधाओं	विद्याओं
,,	२०	से	में
,,	२७	द्रौ	द्रे
,,	२७	वसुमि	वसुभिः
,,	२८	विमर्ग्य	विमर्म्य
,,	२६	विष्टित	विष्ठित
,,	३०	एतद	एतद्
५८	२४	स्यृत	स्मृत
५६	१	करे	कर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	१३	स्थितिः	स्थिताः
६०	३	की	भी
,,	६	यह	यदि
,,	१६	उर्दू	अरबी
,,	२१-२२	विध्वंशात्मक	विध्वंसात्मक
,,	३२	प्रकुष्ट	प्रकृत
६१	६	नियंत्रण	विसर्जन
,,	१८	पुरास्त्व	पुरातत्त्व
,,	२०	ब्यारों	ब्यौरों
,,	२७	पेलियांटालिजिस	पेलियांटालिजिस्ट
६२	१२	Mans	man's
,,	१२	Larg	Large
,,	२१	Grag	Gray
६३	१२	सम्यक	सम्यक्
,,	१९	दोहों	दोहे
,,	२०	आँपड़ैं	आंपणैं
६४	६	से स्थापित	से सम्बन्ध स्थापित
,,	२४	मनोभावाभिव्यंजकवाद	मनोभावाभिव्यंजकतावाद
६५	२५	कालल	काकल
६६	११	Beings	being's
६७	२३	कारण तो उस	कारण उस
६८	२८	उन्मल	उन मूल
६९	१८,१९	क ख ग ज थ फ	क़, ख़ ग़ ज़ .थ फ़
७०	२२	के	की
७१	५	नहीं थे।	निहित है
,,	११	अमीरों	आभीरों
७१	१२	थी	था
,,	१९	किसी भाषा का	किसी एक भाषा का
७२	८	की	के
,,	११	को	का
७४		(प्रथम और द्वितीय पैराग्राफ मिलाकर पढ़िए)	

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७४	१३	वे	वह
,,	२१	समाजीकरण	सामाजीकरण
७५	१४	से	में
,,	१८	भषा	भाषा
,,	२५	शब्दकोष	शब्दकोश
,,	२८	Moning	Morning
,,	२६	नाम	आदि अभिवादनवाची शब्द
,,	२६	संस्कृति	संस्कृति की
७६	४	शाश्वत तत्तों	आदि शाश्वत तत्त्वों
,,	६	संस्कृत	संस्कृति
,,	१०	ग्राह्मति	ग्राहयति
,,	१४	करते हैं	करता है
,,	१६	संस्कृत	संस्कृति
,,	२२	साहित्य शास्त्र	साहित्य-शास्त्र
,,	२६	संस्कृत	संस्कृति
७७	३	हीनता	हीन
७६	२	थी	थीं
,,	३	थी	थीं
,,	३	पद	युद्ध
,,	३	या	पर
,,	२२	गुप्ता	गुप्त
८०	१०	स्वार्थपरायणा	स्वार्थपरायण
,,	२२	गई	गई है
,,	२६	बराबर का	बराबर
८१	३०	भाषा, नियमों	भाषा के नियमों
८२	४	पाणिनी	पाणिनि
८३	७	प्राऐतिहासिक	प्रागैतिहासिक
,,	१०	उनका	उनकी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८३	२५	बन	वान
,,	११	माया	मात्रा
,,	२३	अंग्रेजी	अंग्रेजी
,,	२६	व्युत्पक्ति	व्युत्पत्ति
,,	३२	व्युत्पत्ति विचार से	व्युत्पत्ति-विचार
८५	१३	प्रभावित	प्रभावशाली
,,	१६	उत्पत्तिा	उत्पत्ति
,,	१८	जान	कर
८७	११	भाग	भाषा
,,	१४	ब्रह्मावित्	ब्रह्मवित्
,,	१८	यवहारों	व्यवहारों
८६	२	विभर्म्यंहिम	विभर्म्यहमि
,,	७	है	हैं
६०	२१	मूल तत्व	मूल तत्त्व—
६१	२७	वागवै	वाग्वै
,,	३०	सर्व	सर्वं
,,	३०	वग्ावै	वाग्वै
६२	५	भंडार	भांडार
,,	६	भंडार	भांडार
६३	५	समन्वय	समन्वय में
६४	२१	वाङ मयों	वाङ्मयों
,,	२६	है। अन्य	है तथा अन्य
६७	७	रत्ता	रत्ता—
,,	१०	तक	की
,,	१३	करते	करती
,,	३२	पाते	पातीं
,,	३२	पाते	पातीं
६८	७	समर्थ	सफल
,,	२८	भाषा स्फुटित	भाषा न स्फुटित
६६	२२	होगी	होगा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०१	२१	वस्तुएँ जैसे	वस्तुएँ—जैसे,
,,	२८	माध्यमों	माध्यमों—
,,	२९	माध्यम जैसे	माध्यम—जैसे,
१०२	२	संपादिक	संपादित
,,	२	में विश्लेषण	में तथा विश्लेषण
,,	३	हुई, भाषा	हुई तथा भाषा
,,	४	भाषा व्यापार	भाषा, व्यापार
१०३	८	च्रोत्रेन्द्रियों	श्रोत्रेन्द्रियों
,,	१६	ध्वनि प्रतीकों	ध्वनि-प्रतीकों
१०४	१०	स्वेरतंत्रियों	स्वरतंत्रियों
,,	१२	काल्ल	काकल
१०४	१९	आत्मा है।	आत्मा है
१०४	२१	क	क्
१०५	१	व्यापार द्वितीयतः	व्यापार, द्वितीयतः
१०६	२९	पैट मैन	पैंटमैन
१०७	४	कृत्रिम ?	कृत्रिम,
,,	६	भाषा दूसरी	भाषा, दूसरी
,,	११	प्राकृतिक	प्राकृत
१०७	१४	बोलचाल	जब बोलचाल
,,	१५	मुक्त	युक्त
,,	१५	है।	है तब
,,	१६	है।	है और तब
,,	१७	चलता	होने लगता
,,	२१	पाठन कुछ	पाठन तथा कुछ
१०९	४	हों।	हों,
,,	५	हो।	हो;
,,	६	हो।	हो,
,,	१४	सीख सके	सीख सके,
,,	१५	मधुर हो	मधुर हो;
,,	१९	कर सके। वही	कर सके वही

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	२१	है	हैं
११०	२९	का	के
,,	२९-३०	किया जाता है	किये जाते हैं
१११	३०	संषकृत	संस्कृत
,,	३१	तुटवारिश	तुखारिश
११२	८	हैं जहाँ	हैं। वहाँ
,,	९	करते थे	करते थे,
,,	१५-१६	वह भाषाविद	भाषाविद्
,,	२२	हुए इन्होंने	हुए। इन्होंने
,,	२६	है	हैं
११६	१३	इति भाषायाम्	'इति भाषायाम्'
११८	८	जातिभाषा	जातिभाषा—
१२४	२४	जटिलसकार्य	जटिल संकार्य
१३९	१२	से	में
१५०	१९	सी	की
१६२	१५	का	को
,,	१९	कहौ	कहीं
१६९	२९	गई	गईं
१७०	१५	महँ	मइँ
,,	२७	हांस्पिटल	हॉस्पिटल
१८५	२९	Tarapo ewalla	Taraporewalla
१८९	१७	सुन्दर	सुन्दरता
१९१	९	प्रभाव	अभाव
२०३	१०	हा	हा
२०७	२	ढँग	ढंग
२०८	२३	भेद-भौ	भेद
२०९	२०	Juncture	Junctnre
२१०	१७	पाश्चात्	पश्चात्
२१२	२०	प्रातिशाख्यु	प्रातिशाख्य
२१६	२६	बहुत यह	बहुत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१६	२८	भाषाओं हैं तथा	भाषाओं तथा
२२०	३	चाहिए किसी	चाहिए कि किसी
२२२	४	बलघात	बलाघात
२२४	१७	गई गई	गई
२२७	२१	वहा	वही
२२६	२२	नालिका	नलिका
,,	२३	करता	करती
,,	२५	नलिकाआँ	नलिकाओं
,,	२७	आर	ओर
२३०	८	भाजन	भोजन
,,	१३	में	से
२३१	१	प्रदशित	प्रदर्शित
२३५	१४	थी	थीं
,,	२६	होती	होता
२३६	१	आ	ओ
२३६	११	कठार	कठोर
२३८	१२	कहते	कहते हैं
२३६	११	वैशानिक	वैज्ञानिक
,,	२६	का	को
२४१	१५	पाणिनी	पाणिनि
२४२	३	पाणिनी	पाणिनि
,,	३	ढ	द्
,,	६	पाणिनी	पाणिनि
,,	८	त	त्
,,	१०	पाणिनि	पाणिनि
,,	१८	वाह्य	बाह्य
२४४	१३	ह्व	ह.
२४६	१८	उन्मक्त	उन्मुक्त
,,	२४	संघष	संघर्ष
,,	२६	मलतः	मूलतः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५२	८	स्पष्ठ	स्पष्ट
,,	१२	ह्रस्व	ह्स्व
२५४	१४	पंजाबी	भोजपुरी
,,	१६	भारेउ	भोरउ
२५५	४	पंजाबी	भोजपुरी
२५६	२५	Gualitative	qualitatative
२५७	८	छ	छः
,,	२१	बल-निर्बल	बल निर्बल
२५९	११	वर्णलाप	वर्णलोप
२६०	२७	व्यंजनागम्	व्यंजनागम
२६२	२	भाषागत्	भाषागत
२६२	४	माता	मात्रा
२६२	८	सतं	संत
२६३	२०	हारण	कारण
२६८	९,१०, ११	लयान्वित	लयान्विति
२७०	२६	स्वयंमू	स्वयंभू
२७२	२१	सवत्तो	संवत्ती
२७३	२४	प्राकृत	(प्राकृत)
२७७	५	बालने	बोलने
२७८	१६	अघाष	अघोष
,,	१७	घाष	घोष
२७९	२३-२४	हस्वमात्रिक जाता	ह्स्वमात्रिक दीर्घमात्रिक हो जाता है ।
२८०	७	इसा	इस
,,	८	भाप	भाषा
२८३	५	अवश्वंभावी	अवश्यंभावी
,,	१०	दसरी	दूसरी
२८३	१६	अघनातन	अधुनातन
२८५	२	दसरा	दूसरा
२८८	१९	उनकी की	उनकी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९१	२४	मुख	सुख
२९२	१९	अन्धेरा	अन्धेरी
२९४	१,२	वक्रोक्ति बक्रोक्ति	वक्रोक्ति को बक्रोक्ति
२९६	१	स्वयंभ	स्वयंभू
,,	२०	ealy	early
,,	२३	ccme	Come
२९९	१५	स्पर्शसंघर्षी	स्पर्शसंघर्षी
३०३	१९	र्ह्	र्ह्

●